The Rajasthan Literary association Series No 2

काव्य-कानन

—

रचयिता

महाकवि पुरोहित प्रतापनारायणजी "कविरत्न"

प्रकाशक

रघुनन्दन शर्म्मा, हिन्दी प्रेस, प्रयाग

—

मूल्य सजिल्द ५)
सादी ४)

विषय-सूची

देवकुंज

नाम		पृष्ठ	नाम		पृष्ठ
मञ्जु-मंगलाचरण	...	३	लक्ष्मी-लीला	...	४८
असीम-असमर्थता	...	४	लक्ष्मी-लाञ्छन	...	५५
लीला-लावण्य	...	६	भव्य-भारती	...	५८
गुण-गायन	...	११	वाम-विधाता	...	६२
ललित-लीला	...	१५	चतुरानन की चतुराई		६६
सत्ता-सौन्दर्य	...	२१	मेरा मत	...	६९
क्या और कौन	...	२५	भगवान की भक्ति	...	७९
मधुर मुसकान	...	२९	पावन-प्रतिज्ञा	...	८३
माधव-महिमा	...	३२	सच्चा-सम्बन्ध	...	८५
पावन-पुकार	...	३५	वर-वाञ्छा	...	९०
विनीत-विनय	...	४१	कलित-कामना	...	९१
श्री-स्तुति	...	४४			

प्रकृति-कुञ्ज

नाम		पृष्ठ	नाम		पृष्ठ
चारुचेतावनी	...	१०१	ग्रीष्म-गमन	...	११४
सच्ची शिक्षिका	...	१०३	वर्षा-वर्णन	...	११९
मरु-मही	...	१०६	वर्षा की बहार	...	१२२
ग्रीष्म-गौरव	...	१०९	नील-नीरद	...	१२७

नाम		पृष्ठ	नाम		पृष्ठ
हर्षद-हेमंत		१३०	वृत्त-वैचित्र्य	...	३१६
गो-गौरव	.	१३५	गिरि-गौरव	...	१७०
गङ्गा-गरिमा	..	१४४	सुखद-सौन्दर्य	...	१७७
मयङ्क-महिमा	..	१४८	कराल-काल	.	१८४
पद्मिनी-प्रलाप		१५४	कच्चो-कलो	...	१८७
कुमुदिनि-क्रन्दन	..	१५९			

मानव-कुञ्ज

वर-वन्दना	..	१९३	स्वस्थ शिशु	..	२३८
मातृ-ममता		१९४	विप्र वंश	..	२४४
पावन-परिचय	..	१९६	वेदव्यास	...	२४७
दशा-दर्शन	..	२००	वशिष्ठ-विनय	...	२५१
भव्य-भारत	...	२०२	वीर-वर्णन	...	२६१
भीषण-भावना	...	२०४	क्षत्रिय-कुल	..	२६५
सिंह और शिकारी	..	२०८	वर्ण-वर्णन	...	२६८
पञ्जर बद्ध पञ्चानन	.	२११	शक्ति-सञ्चार	...	२७१
पुनीत-प्रतिज्ञा		२१३	पावन-प्रोत्साहन	...	२७५
भारत की भावना		२१६	वीर-विरद	...	२७९
पावन-पूजन		२२१	अनाथों की अर्ज	...	२८२
भीषण-भर्त्सना		२२२	हिम्मत नहारिये	..	२८६
असीम-अंतर	.	२२४	चारु चेतावनी	...	२८८
नेतृ-निर्णय	...	२२६	सच्चा-स्वप्न	...	२९०
मान्य-महात्मा	..	२२८	दशा-दर्शन	...	२९४
कवि-कीर्तन	..	२३३	स्वतन्त्रता का सूत्तर	...	२९६

नाम		पृष्ठ
स्वार्थी संसार	...	३००
संसार का सारांश	...	३०४
स्वातन्त्र्य-सुख	...	३०८
अनन्त का आदेश	...	३११
फन्द या फाँसी	...	३१५
श्रीकृष्ण और सुदामा		३१८
गुरु और गुणी शिष्य		३२८
पावन-प्रह्लाद	...	३३५
रामायण के रचयिता		३४०
गीता-गरिमा	...	३४६
अतिरथी अभिमन्यु	...	३५२
वीर-वर	...	३६०
भारत से भारत	...	३६३
शिवा-शम्भु	...	३७०
प्रेम-पंथ	...	३७५
प्रताप-प्रशस्ति	...	३८०
माया-मर्दन	...	३८४
स्वरूप-स्वर्गारोहण	...	३६४
स्वर्गवासी श्रद्धानंद		४००
पितृ-प्रशस्ति	...	४०२
दिवाली का दुरुपयोग		४०५
दीपक-दीप्ति	...	४०६
दिव्य-दिवाली	...	४१३
दीपावलि-दर्शन	...	४१७
हर्षद-होली	...	४२१
होली से होली	...	४२३
होली से हीनता	...	४२५
होलिका की हीनता		४२६
प्रचुर प्रश्नोत्तर	...	४३५
उत्तम-उपदेश	...	४३५
प्रेम-प्रशस्ति	...	४३६
प्रेम-परीक्षा	...	४४१
पावन-प्रेम	...	४४५
मित्र और मित्रता	...	४४८
दो दिन हैं	...	४५१
क्या किया ?	...	४५६
मुख-माधुरी	...	४५६
अनोखी-अन्योक्ति	...	४६२
सच्ची-शिक्षा	..	४६५
महिला-महत्व	...	४७०
काच की कथा	...	४७६
विरह-विलाप	...	४८२
विधवा-विलाप	...	४८६
विचित्र-विलाप	...	४६२
हमारा हृदय	...	४६५
अधमाधम	...	४६६
नृसिंह-नाद	...	५०१
झूलता झूला	...	५०३

सूक्ति-कुञ्ज

नाम		पृष्ठ	नाम		पृष्ठ
बाल-विनय	...	५०७	चारु-चयन	..	५६१
पुनीत-प्रार्थना	...	५०९	मोहिनी-मैडम	...	५६४
सच्ची-साधना	...	५१०	कवि-कल्पना	...	५६७
अनूठी अन्योक्ति	...	५१४	बूझ-बुझक्कड़	...	५७२
मान-महिमा	...	५१६	चतुर-चित्रकार	...	५७६
शुभ-स्वागत	...	५१९	अमीर आदमी	...	५७८
शुभाऽऽशिष	...	५२१	दीनों का दाता	...	५७९
पत्र-प्रार्थना	...	५२४	जैसा को तैसा	...	५८१
पैसे की प्रशंसा	...	५३०	साधु की साधुता	..	५८४
सुन्दर सूक्तियाँ	...	५३३	पहेली-पुञ्ज	...	५८७
कृपा की कोर	...	५३९	पतङ्ग के प्रति	...	५९७
"सुकवि" की समस्या-पूर्ति		५४१	मधु-मक्षिका	...	६००
रसीली रसना	..	५४३	भृङ्ग-भावना	...	६०३
मञ्जुल-मालाकार	...	५४५	चारु-चित्र	..	६०६
सुन्दर-स्वागत	...	५४८	दया-दान	...	६०८
सुधा-स्रोत	...	५५२	कान्त-कल्पना	...	६१०
मदन-दहन	...	५५६			

कवि के स्वर्गीय पिताजी

जन्म सं० १९२२ मृत्यु स० १९८८

जयपुर राज्य के ताजीमी सरदार,
कौन्सिल-मेम्बर, "श्रीकृष्ण-विज्ञान" के रचयिता
ललित कलाओं (साहित्य, सङ्गीत और चित्रकारी) के
आधार एवं जानकार "आशुकवि" पुरोहित

शुभ समर्पण

जयपुर राज्य के ताज़ीमी सरदार, कौन्सिल-मेम्बर,
"श्रीकृष्ण-विज्ञान" के रचयिता, आदर्श काव्य-कला
(साहित्य, सङ्गीत और चित्रकारी)—मर्मज्ञ,
वैकुंठवासी पुरोहित श्रीरामप्रतापजी महोदय
के—"सर्वत्रजयमन्विच्छेत् पुत्रादिच्छेत्
पराजयम्" इस लोकोक्ति को सदैव
ध्यान में रखनेवाले मेरे परम
पूज्य पिताजी महाराज के—
चारुचरणारविन्दों में यह
" काव्य-कानन "
श्रद्धा भक्ति-सहित
सादर एवं सहर्ष
समर्पित है ।

भूमिका

जहाँ न हित-उपदेश कुछ, सो कैसा साहित्य ?
हो प्रकाश से रहित तो, कौन कहे आदित्य ?

देश के सौभाग्य से हिन्दी ने अपना स्थान प्राप्त कर लिया है— वह राष्ट्र-भाषा मानी जा चुकी है। उसका भाण्डार बड़ी तेजी से भर रहा है। छोटे-बड़े हज़ारों ग्रन्थ नये प्रकाशित हो रहे हैं। अन्यान्य विषयों की भाँति काव्य की भी वृद्धि हो रही है।

परन्तु, काव्य क्षेत्र में कुछ अन्ध प्रवाह चल पड़ा है। इस विषय में भी पाश्चात्य प्रभाव पड़ा है। जहाँ तक औचित्य का अनुगमन हो, इसका स्वागत है। हाँ, अन्धाधुन्ध किसी की नक़ल करने से हानि के अतिरिक्त लाभ कुछ भी नहीं है। उचित तो यही है कि 'अपनापन' रखकर या 'अपनापन' रखने के लिए ही, दूसरों से सब कुछ सीखा जाय। दूसरे साहित्यों

से हम यह सीखें कि वहाँ भावाभिव्यञ्जन करने के कौन-कौन और कैसे-कैसे ढंग हैं, जो हमारे यहाँ नहीं है! उन्हें अपना कर हम यदि अपनी मातृ-भाषा का कुछ उपकार कर सकें तो इससे अच्छा और क्या हो सकता है! सो बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो आँख मूँद कर बेतरह नक़ल करने में मस्त हैं, भले ही अपना स्वरूप ही नष्ट हो जाय।

कुछ कवि ऐसी विचित्र भाषा गढ़ते हैं, जिससे कुछ मतलब ही किसी की समझ में नहीं आता। बड़े बड़े साहित्य-महारथियों की समझ में उनकी भाषा ही नहीं आती! स्व० श्री पद्मसिंहजी शर्म्मा जैसे साहित्य-महारथियों की समझ में भी ऐसी विचित्र कविताओं का स्थूल अभिधेय अर्थ ही नहीं बैठा, सूक्ष्म व्यङ्ग्य की तो चर्चा ही कौन? जब इनकी यह दशा है, तो साधारण जनता का पूछना ही क्या है! यदि कहा जाय कि ऐसी कविताएँ किसी को समझ ही नहीं पड़तीं, तो आख़िर छप कर इनके दो-दो और तीन-तीन संस्करण कैसे हो जाते हैं? इन्हें ख़रीदने क्या स्वर्ग के दूत आते हैं? सोचने की बात है! उत्तर स्पष्ट है। यह एक हवा है, जिसने निर्बल लोगों का मुख अपनी ओर बलात् कर लिया है। आँधी ज़बर्दस्ती अपने रुख पर लोगों के मुख करा लेती है। उसका वेग जब शान्त हो जाता है, तब उधर से मुख मोड़-मोड़ कर लोग यथेच्छ दिशाओं का अनुगमन करते हैं। बुद्धिमान् सबल पुरुष भी अपने बचाव के लिए, ख़ुद उधर ही अपना मुख कर लेते

हैं ! कौन तूफ़ान का मुक़ाबला करे यदि कोई शक्तिमान पुरुष इस आँधी में भी अपनी दिशा का प्रश्रय न छोड़े और इस झंझावात के प्रबल वेग को चीरता हुआ आगे बढ़े, तो अवश्य उसकी आँखों में धूल झोंकने की चेष्टा की जायगी ! इस दुर्गति से बचने के लिए कोई इसका सामना नहीं करता । जरा उधर मुहँ किया, फिर इधर, अथवा आँखें मूँद ली ।

काव्य-जगत् में तूफ़ान आया है। उसमें सब पड़ गये हैं। निर्बल पौधों में दम कितना ? जरा से झोंके को भी तो नहीं सँभाल सकते ! देखा कि अमुक कवि का नाम लोग .खूब ले रहे हैं, और उसे युगपरिवर्तनकारी, कवि कह रहे हैं, बस, आप भी उसी के गीत गाने लगे । तुरन्त उसकी पुस्तकों का सेट मँगा लिया गया ! यदि ऐसी पुस्तकें न होंगी और इनकी बातें न करेंगे, तो लोग सहृदय न कहेंगे। बस इसीसे ऐसी पुस्तकों की खपत हो जाती है। इसमें इसकी परवा कोई नहीं करता कि इनसे लाभ भी है कि नहीं ! सिगरेट पीने में क्या मजा आता है और इससे क्या लाभ ? देखा-देखी आदत पड़ जाती है। पहले-पहल धुँआ बुरा भी मालूम होता है; किन्तु प्रवाह में बल होने के कारण उस कड़ुवे घूँट को भी शौक़ीन लोग भीतर कर लेते हैं। फिर आदत पड़ने पर उसी में आनन्द आने लगता है; यद्यपि है नहीं ! यह विचित्र बात दुनिया में प्रसिद्ध है।

भाषा को छोड़ यदि विषय पर दृष्टि डालें, तो यहाँ भी अनोखापन है! जिसे देखो, वही 'प्रियतम' से मिलने 'उस पार' दौड़ा जा रहा है! 'अनन्त' के राग अलापते-अलापते लोग 'मूक' हो गये और उनकी 'वीणा के तार' टूट गये, साथ ही सुनने वालों के कान बहरे हो गये, किन्तु प्रवाह जारी है! इससे लाभ? 'कुछ नहीं' कवि को उमंग है! यह उमंग कैसी? इसका कारण क्या? यह नहीं बतलाया जा सकता; क्योंकि कोयल अपने बोलने का कारण कुछ नहीं बतलाती! अच्छा भाई, मत बतलाओ! तुम जानो और तुम्हारा काम! इतना यहाँ प्रसंगवश कह दिया गया। इतना हम जानते हैं कि इस प्रकार के 'अनन्त' के गीत गानेवाले और 'उस पार' देखनेवाले व्यक्तिगत जीवन में साधारण जनों की अपेक्षा बहुत ज़्यादा शौकीन, दुनियावी और विषय के कीड़े होते हैं; जो प्रातः, सायं साधारण रीति से भगवत्स्मरण को भी ढोंग समझते हैं। ऐसी दशा में इनके मुख से 'अनन्त' के गीत निकलने में क्या शोभा है? यदि कोई महापुरुष वैसा गावे, तो और बात है, अच्छा लगेगा।

कवि को अपने हृदय के तात्त्विक भाव व्यक्त करने चाहिएँ, बनावटी नहीं। किसी भी अनुन्मत्त पुरुष की शब्द-प्रवृत्ति सोद्देश्य होती है, तब कवि का तो कहना ही क्या है! कवि क्रान्तदर्शी होता है और अपने युग का प्रतिनिधि होता है। यह युग और है। इस समय दुनिया 'अनन्त' से मिलने के

लिए नहीं तड़प रही है। पृथ्वी के प्रत्येक राष्ट्र में राष्ट्रीयता का उदय हो रहा है। सब अपने देश की फ़िक्र में है। जो कवि इस रंग में रँगेगा, वही अमर होगा, वही युग-प्रतिनिधि कहलायेगा। हम अभी 'उस पार' जाने की चिन्ता में नहीं हैं, इधर कुछ दिन रहना चाहते हैं और इस लिए ऐसा राग सुनना चाहते हैं, जो यहाँ हमारे जीवन को सुखमय बनावे, जिस से हमारे वर्त्तमान मनोभावों को उत्तेजना मिले।

हर्ष की बात है कि कुछ कवि इस मार्ग पर चल रहे हैं, जिन का पथ-प्रदर्शन श्री मैथिलीशरणजी गुप्त कर रहे हैं। गुप्तजी तथा उनकी तरह कुछ दूसरे कवि चरित-काव्य लिखने में मग्न हैं। कुछ ऐसे कवि हैं, जो 'मुक्तक' रचना करते हैं, जैसे पुराने कवि भूषण, बिहारी आदि ने की है। प्रस्तुत 'काव्य-कानन' भी ऐसी मुक्तक रचनाओं का संग्रह है, जिन में से अधिकांश 'माधुरी' 'सरस्वती' आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। इस 'काव्य-कानन' के रचयिता का विशेष परिचय देना हम आवश्यक नहीं समझते; क्यों कि अभी कुछ ही दिन पहले 'माधुरी' 'सरस्वती' 'सुधा' आदि में आपके स्वर्गीय पिताजी की सचित्र जीवनी निकल चुकी है, जिस में आपके सम्बन्ध में भी बहुत कुछ लिखा था। मैंने इन पत्रिकाओं में आपकी जीवनी अच्छी तरह पढ़ी नहीं; क्यों कि तब तक कोई विशेष परिचय था नहीं कि

दलाद् उधर चित्त आकृष्ट होता। अन्यथा, कुछ ज़रूरी बातें लिखता भी; और अब मेरे पास उन पत्रिकाओं के वे अङ्क यहाँ हैं नहीं। परन्तु, थोड़े में यह समझिए कि ये कवि महोदय एक ऐसे कुल में उत्पन्न हुए हैं, जो चिर काल से लक्ष्मी और सरस्वती का कृपापात्र रहा है। ख़ैर, कवि से हमें लेना भी क्या है? हमें तो कविता देखनी चाहिए, जिससे मतलब है। आम खाने के लिए निकलने पर पेड़ ही गिनते रहने में कोई बुद्धिमानी भी तो नहीं है!

'काव्य-कानन' की सैर मैंने आदि से अन्त तक की है। क्या कहना है वैचित्र्य का! कहीं सुन्दर हरी-भरी पादप-पंक्ति है, तो अन्यत्र रेतीली भूमि चमचमा रही है। इधर झरने कुछ मीठा-मीठा गाते चले जाते हैं, तो दूसरी ओर आगे बढ़ कर गंगाजी उन को गोद में लेने के लिए छटपटाती चली आरही हैं। कहीं रत्न मिलते हैं, तो कहीं साधारण, परन्तु अत्यन्त मीठे सुस्वादु फल-मूल। रंग-बिरंगे फूल, तरह-तरह की लतायें! कहीं-कहीं झाडझखार और काँटे-खोभर भी मिलेंगे। भूमि भी कहीं 'समतल' कहीं बहुत ऊँची और कहीं अत्यन्त निम्न नजर आयेगी। कहने का मतलब यह कि विचित्रता से भरा यह 'काव्य-कानन' है, जिसमें किसीका जी ऊबेगा नहीं, ऐसा विश्वास है। सबका मनोविनोद होगा। भगवद्भक्त को इस कानन में दिव्य झाँकी मिलेगी; पर ध्रुव के समान तपस्या न करनी पड़ेगी। शृंगारी इस की कुञ्जों में

विहार करके आनन्द लूटेगा; किन्तु दुनिया की नजरों से वह गिरेगा नहीं। बालक को खेलने के लिए इस कानन में घुँघची भी मिल जायँगी और तलाश करनेवाले पारखी लोग कीमती रत्न भी पायेंगे। मतलब यह कि सब कुछ इस 'काव्य-कानन' में है। जरा आगे बढ़कर सैर करने पर आप ही सब मालूम हो जायगा।

सब से पहले इस में 'देव-कुञ्ज' है। इस में विविध देवी-देवता विहार करते हैं। कवि ने अपने ख़ास ढंग से उनकी स्तुति या वर्णना की है। इस प्रकार देव-विषयक काव्य के सम्बन्ध में, जगद्धर भट्ट की संस्कृत 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' की आलोचना करते हुए आचार्य श्री महावीरप्रसादजी द्विवेदी लिखते हैं :—

"जिस में किसी देवता की स्तुति हो, उस कविता को साहित्य-शास्त्रज्ञों ने शान्त रस के ही अन्तर्गत माना है; अर्थात् जिस कविता में किसी देवता के सम्बन्ध में रति नामक भाव की विशेषता होती है, वह शान्त रस की ही कविता मानी जाती है।"

वस्तुतः ऐसी कविता शान्त रस की परिधि से बाहर अपना अस्तित्व रखती है, जिसे एक दूसरा नाम प्राप्त है। देव-विषयक रति (प्रेम) जब किसी काव्य से अभिव्यक्त होती है, तो उसे शान्त रस नहीं, 'भाव ध्वनि' साहित्यशास्त्र

में पड़ते हैं। शान्त रस का दायरा दूसरा ही है। यही साहित्यशास्त्र में लिखा है। आशा है आचार्य द्विवेदीजी इस धृष्टता को, क्षमा करेंगे। यह हो सकता है। परन्तु, कुछ विद्वानों ने तीन और रसों की भी कल्पना की है—दास्य, सख्य और वात्सल्य। दास-भाव, सख्य-भाव और वत्सल-भाव प्रधान होने से इन रसों की अवतारणा होती है। इस हिसाब से यदि कोई भक्त अपने को अपने इष्ट देवता का दास मान कर दास्य-भाव-पूर्ण उक्तियाँ कहे, तो उन उक्तियों में दास्य रस ही अधिक परिस्फुट होता है। किसी देवता-विशेष या परमेश्वर की स्तुतियों में यह भाव प्रायः अधिकता से पाया जाता है ऐसी कविता में दासता का ही भाव प्रबल होता है, शान्त का नहीं।*

अस्तु इस प्रकार के स्तुतिमय काव्यों में चाहे शान्त रस माना जाय, चाहे दास्य रस, उनसे कोमल-हृदय भावुक-

---

* वस्तुतः दास्य, और सख्य रस का जिक्र साहित्य के किसी भी प्रौढ़ ग्रन्थ में भी नहीं है। 'काव्य-प्रकाश' 'साहित्य-दर्पण' 'रस गंगाधर' आदि में इनका नाम ही नहीं लिया गया है। हाँ, 'साहित्य-दर्पण' में वात्सल्य रस का प्रतिपादन अवश्य है। अवश्य ही दास्य और सख्य रस की अवतारणा भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने की है, जिनमें बंगाली वैष्णवों को प्रधानता दी जा सकती है। विशुद्ध 'साहित्य-शास्त्र' में इनकी कल्पना नहीं की गई है।

जनों के हृदय हिल ज़रूर उठते हैं और हृदय का हिल उठना ही इस बात का प्रमाण है कि कविता सरस है और उसका आकलन-कर्ता सहृदय है। ऐसी कविता के दो-एक उदाहरण सुनिए :—

> व्याधहू तें विहद, असाधु हौं अजामिल लौं
> ग्राह सो गुनाही, कहो तिन में गिनाओगे?
> गनिका हौं न, गीध हौं न, केवट कहूँ को न—
> गौतमी तिया हौं, जापै पद धरि आओगे!
> राम सों कहत 'पदमाकर' पुकारि, तुम—
> मेरे महापापन कौ पारहू न पाओगे!
> सीता-सी सती को तज्यो बिना ही कलंक, हौं तौ—
> साँच ही कलंकी, ताहि कैसे अपनाओगे?

यह कुछ पुरानी उक्ति है। इससे मिलती-जुलती एक नयी उक्ति लीजिए। यह प्रतापनारायण मिश्र की है :—

> आगे रहे गनिका गज गीध, सुनौ अब कोऊ दिखात नहीं हैं।
> पापपरायन ताप-भरे परताप-समान न आन कहीं हैं।
> हे सुखदायक प्रेम निधे, जग यों तौ भले औ बुरे सब ही हैं।
> दीन-दयाल औ दीन प्रभो, तुम से तुम ही हम सों हम ही हैं।

इन दोनों उक्तियों की भाषा है हिन्दी-कविता की पुरानी भाषा। पर, भाषा चाहे जैसी हो, सरसता सभी भाषाओं की

कविता में आ सकती है। नीचे बाबू सियाराम शरण की एक कविता दी जाती है। यह बोल-चाल की भाषा में है॥ पाठक देखेंगे कि उसमें शान्त या दास्य रस की मात्रा कितनी अधिक है। उसमें यह रस ऊपर दिये गये दोनों उदाहरणों से यदि अधिक नहीं तो कम भी नहीं। देखिए :—

क्षुद्र-सी हमारी नाव, चारों ओर है समुद्र,
वायु के झकोरे उग्र रुद्र रूप धारे हैं।
शीघ्र निगल जाने को ये नौका के चारो ओर,
सिन्धु की तरंगें सौ-सौ जिह्वाएँ पसारे हैं।
हारे सब भाँति हम अब तो तुम्हारे बिना,
झूठे ज्ञात होते और सबके सहारे हैं।
और क्या कहें अहो डुबा दो या लगा दो पार,
चाहे जो करो शरण्य, शरण तुम्हारे हैं।

इस पर आगे फिर आचार्य द्विवेदीजी लिखते हैं :—

"हमारा अनुमान ही नहीं, अनुभव भी यही कहता है कि ऐसी कविताओं के पाठ से कोमल हृदयों का हृदय द्रवीभूत हुए बिना नहीं रह सकता।" और भी आगे इस प्रकार की कविता की प्रशंसा में द्विवेदीजी बहुत कुछ लिखते चले गये हैं—आनन्दोद्रेक में। वह सब, इच्छा रखते हुए भी, स्थान अधिक घिर जाने के भय से, यहाँ हम न उद्धृत करेंगे

द्विवेदीजी के मत का आभास इतने से ही मिल गया कि वे इस प्रकार की कविताओं के सम्बन्ध में कैसी धारणा रखते है।

श्री प्रतापनारायण मिश्र ने पुरानी भाषा में देव-स्तुति की थी और अभिनव 'कविरत्न' पुरोहित श्री प्रतापनारायणजी ने अपनी स्तुति-कविता में प्रचलित बोल-चाल की भाषा का उपयोग करके उसे पवित्र किया है। आचार्यचरणों द्वारा प्रशंसित और समुद्धृत, पद्यों के साथ पुरोहितजी के इस पद्य को भी पढ़िए और बाबू श्री सियारामशरणजी के उस सौभाग्यशाली पद्य-रत्न से मुकावला कीजिए; क्योंकि ये दोनों बोल-चाल की भाषा में हैं और भाव भी एक ही हैं :—

महा-भवसागर का तैरना न आता हमें,
टूटी-फूटी नाव को पार अब लगा दे तू।
नहीं जो लगावे तो डूबने के पहले हमें,
एक बार दूर से ही मार्ग तो दिखा दे तू।
ऊब गये जीने से हैं तेरे वियोग में हम,
आकर विष-प्याला ही प्रेम से पिला दे तू।
ऐसों की बात भी जो सुनना नहीं चाहता तो,
उनका आना-जाना ही जग से छुड़ा दे तू।

अब यह आप बतलाइए कि दोनों पद्यों में कौन उत्कृष्टतर है। पुरोहितजी के पद्य का उत्तरार्द्ध क्या ख़ूब मधुर उलहने से पूर्ण है। साथ ही चित भी मेरी और पट भी मेरी! आख़िर

किधर को चलोगे भी? यहाँ सब तरह से रज़ामन्दी है, आपकी प्रसन्नता चाहिए; बस! 'अनुकूल' अलंकार ने चमत्कार की मात्रा बहुत ज्यादा बढ़ा दी है।

पुरोहितजी की देव-स्तुति-विषयक कविताओं में कई विशेषताएँ हैं। आप प्रार्थना करते-करते बहुधा अन्त में अकड़ से जाते हैं। इस अकड़ में—ऐंठ में—एक मज़ा रहता है। प्रिय से रूठने में भी स्वाद है। और जब बहुत ज्यादा मिन्नत-ख़ुशामद से भी कोई न माने तो किया ही क्या जाय? फिर तो दुष्यन्त को शकुन्तला की तरह टेढ़ी-मेढ़ी सुनाने से ही कुछ सन्तोष मिल सकता है। कम से कम श्रीयुत द्विजेन्द्र-लाल राय जैसे समालोचकों की दृष्टि में तेजस्वी तो बना रहेगा! और पुरोहितजी कुछ इस ढंग से रूठते हैं, जिससे, द्विवेदीजी के द्वारा इंगित, वह सख्य-भाव झलकता है। दूसरी बात यह कि आपने देवी-देवताओं की स्तुति या वर्णन करके उनसे देश-त्राण की ही भिक्षा माँगी गयी है और स्तुति-काव्यों से 'काव्य-कानन' के 'देव-कुञ्ज' में यह विशेषता है। यही क्यों, इस 'कानन' की प्रत्येक कुञ्ज से, प्रत्येक लता से, कुसुम से राष्ट्रीयता की सुगन्ध आती है। एक देशी राज्य के नामी जागीरदार में इन सब गुणों का एकत्र होना हिन्दी संसार के सौभाग्य की बात है।

झाँकी में मस्त भक्त जनों का कहना है कि भक्ति के दरबार में 'मुक्ति भरै पानी है'। वे भक्ति के आगे मुक्ति को

कुछ समझते ही नहीं। प्रेम का ऐसा ही माहात्म्य है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने स्थल-स्थल पर ऐसे ही भाव प्रकट किये हैं। प्रकृत पुस्तक के एक पद्य में देखिए कैसा भाव व्यक्त किया गया है :—

भूले भटके इस कुटिया पर आ भी गये कभी जो आप—
 और दिखा भी दिया मुझे फिर निज सुरूप को हे निष्पाप!
पाऊँगा उसको न, चाहता मैं सेवा से जो विश्राम—
 क्योंकि आपके दर्शन पीछे हो जाऊँगा मैं निष्काम।

अच्छी दर्शन-लालसा की अभिव्यक्ति है; किन्तु उसमें भी भय है। प्रथम प्रिय-दर्शन करने से पहले औत्सुक्य के साथ एक प्रकार के भय का भी होना स्वाभाविक ही है। 'भाव-सन्धि' है। 'सेवा से विश्राम'। यह ख़ूब 'विरोधाभास' है। यह सेवा ही ऐसी है, जिससे चिरविश्राम की उपलब्धि होती है। पदों की प्रसन्नता और वाक्य की स्वाभाविकता भी प्रति-पाद्य के अनुरूप ही है। शब्द थिरक से रहे हैं। कहीं क्लिष्टता का नाम नहीं है।

आगे कवि कहता है :—
मुझे तुम्हारा रूप नहीं दिखलाई देता,
 तो भी दर्शन नित्य तुम्हारा मैं कर लेता।

आपका रूप नज़र नहीं आता और दर्शन मैं कर ही लेता हूँ। 'विभावना' ने भावना को किस तरह चमका दिया है।

ज्ञात ठीक है। उस अज्ञात को कौन जाने ? तभी तो वेदों ने भी 'नेति नेति' कह कर विश्राम लिया है। परन्तु यह इस प्रकार का ज्ञान निषेध भगवान् के स्वरूप और शक्तियों की इयत्ता निषेध के तात्पर्य्य में है; क्योंकि भक्त जन उसको अच्छी तरह से जानते-पहचानते हैं।

\+ + + +

भगवान की दयालुता और सर्वव्यापकता कैसे अच्छे ढँग से व्यक्त की गई है :—

जननी-जनक-समान तुम्हीं पालन करते हो;
पोषण करते तुम्हीं, तुम्हीं सब को हरते हो।
जीव-मात्र में सदा उपस्थित तुम को कहते;
दुर्जन में भी तुम्हीं, तुम्हीं सज्जन में रहते।
होकर पञ्चम जार्ज भी, गान्धी के तुम रूप हो।
होकर मौलाना तुम्हीं, मालवीय द्विज-भूप हो।

'यथासंख्य' अलंकार के प्रकाश में वस्तु स्थिति स्पष्ट है। पहली पंक्ति में 'पालन' की जगह 'सर्जन' होता, तो शायद और अच्छा रहता।

\+ + + +

भारत में तुलसी और चन्दन का बड़ा माहात्म्य है और ये दोनों पदार्थ सुलभ भी यहीं हैं। इस बात को मन में रख कर कवि भगवान् से प्रार्थना करता है :—

भारत लीला-धाम तुम्हारा कहलाता है;
फिर भी ऐसे कष्ट कहो वह क्यों पाता है ?
गज के फन्द समान काट दो उसके बन्धन ;
तुलसी-चन्दन तुम्हें चढ़ाता वह जग-वन्दन !
रक्खो उसके शीश पर, मुकुट विजय-यश-मान का;
हे भगवन् , निज त्राण का, ज्ञान-ध्यान विज्ञान का !

अच्छी हेतुगर्भित सूक्ति है। 'काव्यलिङ्ग' अलंकार ने जान डाल दी है। 'तुमको जो सबसे अधिक प्रिय है, भारत वही तुलसी-चन्दन तुम्हें देता है; इसलिए तुमको भी उसकी ख़बर लेनी चाहिए।' रूखापन अच्छा नहीं, दुनिया क्या कहेगी ? कुछ ख़याल भी है ?

\+ + + +

जो भगवान् का स्वरूप समझ लेते हैं, वे अपने सुख में मगन रहते हैं, दुनिया से 'शास्त्रार्थ' करते नहीं फिरते कि 'भगवान् निराकार है, शास्त्रार्थ कर लो'। वे तो 'सहज सनेह मगन सुख अपने' रहते हैं। यही भाव यहाँ इस प्रकार से लीजिए :—

जिन्हें समझाते आप, गूँगे कर देते उन्हें,
और आप स्वयं भी न हमको समझाते हैं !
देते पहचानने न, नहीं पहचाने जाते;
... ... ।

ऐसे ही हाल हैं। एक प्राचीन गवाही भी है :—

> जाको मन लाग्यो सुघर ते,
>
> नाहिं न कहत कछु जाँ ;
>
> ज्यों गूँगो गुड़ खाइ अघाइ है,
>
> स्वाद न कहु बताई !

कैसी बेबसी है ! जानने की—प्रिय को एक बार पहचान लेने की—प्रबल लालसा है; पर उसके लिए उपाय कोई भी नहीं ! क्या किया जाय ? किससे पूछा जाय ? 'कोई ऐसी सखी अब तक न मिली, जो पिय की डगरिया बता देती !'

नहीं, मैं गलती कर रहा हूँ ; उसका पता पूछने की क्या जरूरत ? देखिए न :—

> हमको पल पल बता रहा है,
>
> पत्ता पत्ता पता तुम्हारा ।

परन्तु :—

> फिर भी प्रभो, लापता हो तुम,
>
> कैसा है यह मता तुम्हारा ?

कुछ समझ में नहीं आता ! पत्ता पत्ता उनका पता बतला रहा है; फिर भी वह लापता ! यह कैसा चोर है ! इस 'विरोध' का भी कुछ ठिकाना है !

बात यह है कि कार्य से कारण की सत्ता मात्र का अनु-मान हो जाता है, किन्तु वह स्वरूपतः कैसा है; इसका पता

तो नहीं चलता। यही तो समस्या है, जो सुलझने में नहीं आती।

+ + + +

प्रसिद्ध है कि सुख में सब अपने और दुख में सब पराये हो जाते हैं :—

चाँदनी सुख की जहाँ, हैं साथ सब,
दुख-अँधेरी में न उनका स्नेह है!
देख लो हो जाय छाया भी अलग,
जब अँधेरे में हमारी देह है!

स्वाभाविक बात है, लोक-सिद्ध है! पूर्वार्द्ध में रूपक अलंकार है। नीचे 'उदाहरण' से उस सामान्य सिद्धान्त का पोषण बहुत अच्छी तरह हुआ है।

+ + + +

लक्ष्मीजी का वर्णन करते-करते कवि कहता है :—

आप को आता नहीं है देह में,
एक केवल जीव का ही डालना।
किन्तु धारण रूप करके विष्णु का,
आप करती हैं सभी की पालना!

बहुत ठीक है। लक्ष्मी क्या नहीं कर देती? कहते भी तो हैं :—'ज़र ख़ुदा नहीं, तो ख़ुदा से कुछ कम भी नहीं।'

इतनी शक्ति रखती हुई और उपयोगी होती हुई भी यह लक्ष्मी कई असहनीय अवगुणों में लिप्त है। देखिए :—

महिमामयी ! महामाया ! है तेरा अति अद्भुत व्यापार;
तेरी माया के आगे ही मायानाथ मानते हार !
हे कमला ! तुझ जैसी चपला जगत् बीच तू ही है एक,
चपला से बन अधिक द्युतिमयी रखती है तू तम-अविवेक !

पूर्वार्द्ध में "लाटानुप्रास" और 'छेकानुप्रास' जगमगाते हैं। उत्तरार्द्ध में—चपला—चपला में—'यमक' जमी है। 'कमला'—'चपला' के 'अला' को लेकर 'अन्त्यानुप्रास' है। 'वृत्यनुप्रास' तो कई हैं। तीसरी पंक्ति में 'अनन्वय' अलंकार बेजोड़ है। चौथी पंक्ति में चपला (विद्युत्) उपमान से भी बढ़कर साधारण धर्म (द्युतिमत्व) उपमेय (लक्ष्मी) में बतलाया है; इसलिए 'प्रतीप' नाम का अर्थालंकार ख़ूब रहा। 'द्युतिमत्व' कारण के होते हुए भी कार्य अन्धकार-नाश नहीं है; इसलिए 'विशेषोक्ति' नामक दूसरा अर्थालंकार स्पष्ट है। 'प्रतीप' और 'विशेषोक्ति' का अङ्गाङ्गी भाव 'संकर' अलंकार का एक पृथक् अस्तित्व हो जाता है, जिसमें वे दोनों आत्म-समर्पण कर देते हैं। इन अलंकारों से प्रतिपाद्य विषय ख़ूब ज़ोर पकड़ता है—कमला में, अच्छी तरह दोषोद्भावना जम गयी।

सच बात है, सम्पत्ति से बाहरी जगमगाहट ख़ूब हो जाती है; पर आन्तर अन्धकार दूर होने की जगह और बढ़ जाता है! तभी तो इसे अनर्थ का घर कहते हैं। सब जानते हैं कि भगवान् को छोड़ कर जब अकेली लक्ष्मी किसी के यहाँ आती है, तो उल्लू पर चढ़कर आती है! केवल लक्ष्मी का कृपापात्र आँखें रखता हुआ भी नहीं देखता :—

आँखों वाले होकर भी वे कहलाते हैं लोचन-हीन;
दृष्टि बनी रहती है उनकी स्वार्थ-पूर्ति में महा प्रवीण!
धारण करके सुनने वाले बड़े-बड़े कानों का भार—
कभी नहीं सुनते हैं उनसे दीनों की दयनीय पुकार!

बहुत ठीक है! 'आँखोंवाले कहला कर भी लोचन-हीन हैं!' 'विरोधाभास' अलंकार अच्छा रहा! कान रखकर भी नहीं सुनते! यहाँ 'विशेषोक्ति' की विशेष छटा है। 'अनुप्रास' तो प्रायः सर्वत्र हैं ही; इसलिए बार-बार उनका नाम लेना फ़िज़ूल है। इन अर्थालंकारों से लक्ष्मी-मद की ख़ूब पुष्टि होती है!

और भी :—

तुझ जैसी विश्वास-घातिनी त्रिभुवन बीच नहीं है और;
तुझ जैसी निर्लज्जा भी तो मिलती है न किसी भी ठौर!
स्वीय पिता की छाती पर ही सोती है तू पति के साथ;
हे माया! तेरी माया से हमें छुड़ावें मायानाथ!

पहली दो पंक्तियों में दो 'असम' अलंकार समा बाँध रहे हैं। पूर्वार्द्ध-कथित अर्थ का समर्थन तीसरी पंक्ति से किया है अतः 'अर्थान्तरन्यास' भी सुन्दर है। 'छाती पर' शब्द बड़े मज़े का रहा! इससे बढ़कर मदान्धता और क्या होगी? मद में लक्ष्मी माता-पिता आदि गुरुजनों की भी परवा नहीं करती! हद है न? इससे अधिक और क्या कहा जाय? आँखें ही नहीं रहतीं, तब दिखायी क्या दे?

\+ + + +

अब 'प्रकृति-कुञ्ज' के दो-एक कुसुमों की बहार देखिए। 'मरु-भूमि' शीर्षक के नीचे लिखा है :—

मंजुलतम मरु मही! तुझे ही कहते हैं वर-वीरागार;
पानी तुझ में न्यून दीखता, पर पानी का तू आगार!
कैसा पानी? धीर-वीर के, आनन पर जो करता वास;
जिसे पारखी नर-रत्नों का कहता है नर द्युति-आभास!

इतिहास-प्रसिद्ध सत्य है। साधारण पानी से इस अलौकिक पानी (ओज) में विशेषता बतलाई गयी है, इसलिए उत्तरार्द्ध में 'व्यतिरेक' अलंकार की दमक है। 'पानी' 'पानी' यमक है ही। और:—

भरा हुआ रहता है तुझ पर स्वर्ण-शलाकाओं का चूर्ण;
अथवा पीत मंजु मणियों से तेरा तन रहता है पूर्ण!
अथवा तुझ में रमी हुई है बाल भानु की अनुपम कान्ति;
या तुझ पर किंशुक-कुसुमों के है पराग की भूषित-भ्रान्ति!

यद्यपि 'मारवाड़' प्रदेश असल में वही है, जहाँ आज-कल जोधपुर और बीकानेर रियासतों का शासन है; परन्तु अब यह शब्द सामान्यतः समस्त राजपूताने का वाचक बन गया है। मैं स्वयं बीकानेर गया और रहा हूँ। वहाँ की श्वेत सिकता में रजत-चूर्ण का सन्देह हो सकता है, स्वर्ण-चूर्ण का नहीं। परन्तु, सम्भव है, मारवाड के किसी भाग में, जयपुर आदि की ओर, सिकता या साधारण रज पीले रंग की हो! ख़ैर, उस रज का वर्णन है और अच्छा है। उपमेय में कई तरह से उपमानों का सन्देह किया गया है, जिससे 'सन्देह' अलंकार स्पष्ट है; क्योंकि इसका उत्थान पीतिमा अथवा दमक साधारण धर्म को लेकर है। चौथे चरण के अन्त में 'भ्रान्ति' शब्द अपने असली अर्थ में नहीं है; क्योंकि 'या तुझ पर' आदि कह कर उपमेय में उपमान का सन्देह यहाँ भी है। 'या' सन्देह ही बतलाता है। 'भ्रान्ति' में भी अयथार्थ ज्ञान रहता है; किन्तु 'सन्देह' की तरह दोनों कोटियों में सम बल नहीं रहता, विपरीत कोटि में अधिक बल अथवा निश्चय रहता है। जान पड़ता है, यहाँ काफ़िया तंग हो गया है और केवल तुक भिड़ाने के लिए यह पद लाकर अज़ा-गलस्तन बना दिया गया है। तो भी, पद्य बहुत सुन्दर है।

भूमि की शोभा तो आज भी वैसी ही है; किन्तु न जाने क्यों, अब वह फीकी जान पड़ती है! उसकी ऐतिहासिक

विभूति का ख़याल आते ही आँखों में आँसू आ जाते हैं। आगे कवि ने भी यह रोना रोया है।

आजकल जो उस 'मरु-मही' की दशा है, उसे मैं अपने शब्दों में यों रखता हूँ. आशा है, पुरोहितजी नाराज़ न होंगे:—

जहाँ पुरुष भी रजोदोष से सन्तत दूषित रहते हैं!
लख कर शुष्क चर्म में जीवन मन अचरज सब करते हैं!

जयपुर की मैं नहीं जानता, इन दोनों पंक्तियों में ठेठ मारवाड़ (बीकानेर) का ज़िक्र है। रजः=रजोगुण=धूल और आर्तव। जीवन=ज़िन्दगी और पानी।

जोधपुर-बीकानेर में पानी की तंगी है, पर बहुत कष्ट नहीं। ऊँटों पर चमड़े की बड़ी-बड़ी पखालों में पानी भर-भर कर बिकने आता है और एक ऊँट पानी आठ दस आने में आता है। अपने-अपने घर में लोग बड़े-बड़े मिट्टी के बर्तन रख छोड़ते हैं, जिनमें एक ऊँट पानी आ जाता है और एक दिन का लिया हुआ पानी साधारणतः लोग पन्द्रह-पन्द्रह दिन तक बरतते हैं। इतने दिनों में उस पानी में कीड़े भी पड़ जाते हैं। यह पानी हिन्दू भी बेचते हैं और मुसलमान भी; पर मुसलमानों से ही अधिक लोग ख़रीदते हैं। बड़े-बड़े करोड़पति सेठ, जो इधर आकर ऐसी नाक भौं चढ़ाते हैं, मुसलमानों की पखाल का पानी पीते हैं! उन से कहो, तो कहते हैं,'चाल चली आ रही है, ज़रा सस्ता भी मिलता है। वहाँ पीतल-ताँबे के घड़ों से भी

जल बिकता है, जो प्रति घड़ा तीन-चार पैसे के हिसाब से मिलता है। सो, यह पानी सेठ नहीं पी सकते ! ख़ैर—

वहाँ उन राजपूतों के सूखे चर्म में भी न जाने कहाँ जीवन छिपा पड़ा है, जिन्होंने किसी दिन तलवार लेकर शत्रुओं के छक्के छुड़ाये थे। आज बेचारे दीन-हीन दशा में हल चला कर बड़ी कठिनाई से गुज़ारा कर रहे हैं ! समय की गति और अपने स्वरूप को भूल जाने का दोष !

+ + +

ग्रीष्म ऋतु का वर्णन करते हुए कवि-महोदय उसकी प्रखरता बतलाते हैं:—

> प्रस्वेद का जाल बिछा किया था,
> निदाघ ने यों जित मानवों को।
> 'हारे हुए हैं सब' यह बताने,
> झण्डे दिये थे मिष बीजनों के !

.गुलामी के झण्डे हाथ में दे दिये हैं ! .गुलामों की यह दुर्दशा ठीक ही है। विजेता जो न करे, थोड़ा ! 'मिष' शब्द से उपमेय का एक प्रकार से निषेध करके उसमें उपमान 'झण्डों' का आरोप करने से 'अपह्नुति' अलंकार ने रंग ला दिया है।

और—

> संयोग भी हाय वियोग सा था, (या है ?)
> देखो महादुष्ट निदाघ-लीला !

सारे दुखी थे, न कहीं सुखी थे,
'प्रताप' ऐसा उस ग्रीष्म का था!

संयोग भी वियोग सा था! अपने ही हाथ पर हाथ नहीं रखा जाता। तब और क्या किसे सूझे? इस प्रकार निदाघ-वर्णन से, कार्य-साम्य के कारण, तादृश किसी दुष्ट शासक की भी प्रतीति होती है, जो उपमान रूप से अभिप्रेत है। इसलिए 'समासोक्ति' सुन्दर है।

पद्य में 'प्रताप' खूब जमा। बहुत से कवि अपना उपनाम कविता में देते हैं, पर वह बकरी के गले का थन ही बना रहता है—व्यर्थ! न कहीं उनका अन्वय होता है और न मतलब! हाँ, स्वर्गीय कविवर 'शङ्कर' में यह बात देखी कि जहाँ वे 'शंकर' रख देते थे, ऐसा जमता था कि वाह! पुरोहितजी ने भी कमाल किया है। सर्वत्र अपना उपनाम नहीं ठूँसा है; किन्तु जहाँ कहीं रख दिया है, बिलकुल जम गया है। इसके लिए एक और उदाहरण लीजिए।

अपने स्वर्गीय पूज्य पिता पुरोहित श्रीरामप्रतापजी की स्मृति में आप लिखते हैं:—

स्वीय नाम रटनेवालों के, काट काट कर भीषण पाप—
'राम'! राम में आप मिल गये, भूपर अपना छोड़ 'प्रताप'!

कैसा सुन्दर शब्द-विन्यास है! उत्तरार्द्ध तो बहुत ही अच्छा रहा।

\+ \+ \+

'मानव-कुञ्ज' भी बहुत रमणीय है। एक 'अन्योक्ति' सुनिए। शीर्षक है 'पञ्जरबद्ध पञ्चानन'। बद्ध वनराज की करुणोक्ति है। छल-बल से पकड़ने वाले शिकारी के प्रति उपालम्भ है:—

दीन दिखाकर अपनी काया, गुप्त वेष से वन में आया,
माया-जाल खूब फैलाया, तू ने सिक्का यहाँ जमाया,

होकर मेरा शिष्य मुझे तू बतलाता अज्ञान!
समय का फेर बड़ा बलवान!
अरे दुष्ट, तू क्यों करता है ऐसा शान-गुमान?

इसी भाव को महाकवि अकबर ने अपने दूसरे ही ढंग से व्यक्त किया है:—

निहायत काबिलियत से मुझे साबित किया मुर्दा;
मुनासिब दाद देना है मुझे या रब कि रोना है?

\+ + +

'गुरु और गुणी शिष्य' देकर बड़े पते की बात कवि ने बतलायी है। इस शीर्षक के नीचे दिये हुए सब पद्य 'उत्तर' नामक अलंकार के उदाहरण हो सकते हैं। एक-दो सुनिए:—

मोटा ताजा मानव है, पर जय पाता वह कहीं नहीं!
गोल-गोल सुन्दर मोती है, तो भी उसकी क़दर नहीं!
नदी-सरोवर कहला कर वे करते हैं न पिपासा-नाश!
बड़े कूप पर जाकर मन में तृषित और भी हुआ उदास!

खेत बीज बैलों को तजकर कृषक बना दासों का दास!

कहो शिष्य, क्या कारण इनका ? पानी नहीं, सुनो गुरुदेव!

पानी के बिना सब फीका। इसे कोई-कोई 'प्रहेलिका' भी कहते हैं। पर, प्रहेलिका में कुछ गुप्त रहना चाहिए, सो यहाँ है नहीं। सब साफ़ है। 'उत्तर' बढ़िया है। ऊपर की दोनों पंक्तियों में 'विशेषोक्ति' भी है। तीसरी-चौथी पंक्तियों में दो भिन्न-भिन्न अन्योक्तियाँ भी कही जा सकती हैं। अन्योक्ति को ही संस्कृत में 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' कहते हैं। 'पानी' में श्लेष है ही।

एक और:—

पति-पत्नी सुख से रहते हैं, दीन-दशा में भी रह कर;

प्रेमी और प्रियतमा मिलते, लाखों कष्टों को सहकर!

बिना तपस्या के, विद्या के, जन हरि-दर्शन पा जाता।

बन्द कमल में ही मर जाता भ्रमर काष्ठ-छिद मदमाता।

महा कठिन विद्या को नरवर अल्प परिश्रम से पाता।

कहो शिष्य, क्या कारण इनका ? सच्चा स्नेह सुनो गुरुदेव!

पहली पंक्ति में 'विभावना' और 'विशेषोक्ति' का सुहावना 'सन्देह-संकर' अलंकार है। समस्त पद्य में कई अलंकार स्पष्ट हैं, जिन्हें सहृदय आप देखेंगे।

+ + +

शिवा जी के सम्बन्ध में महाकवि भूषण ने कहा है:—

शिवा जी न होत तौ सुनत होति सबकी!

इसी आशय को पुरोहितजी ने यों दर्शाया है:—

हरिद्वार का द्वार बन्द हो जाता पल में,

काबा का पाषाण जन्मता काशी-जल में।

यह चोटी रहती नहीं, छोटी सी भी शीश पर!

दाढ़ी ही दाढ़ी यहाँ लहरें लेती लटक कर!

'छोटी सी भी' विशेष अभिप्राय से है। आजकल कुछ तो जात्यभिमान न रहने से और कुछ फ़ैशन के मारे, चोटी का अति सूक्ष्म रूप हो गया है। इसीलिए यहाँ 'छोटी सी भी' सार्थक है।

शिवाजी की वीरता के सम्बन्ध में उक्ति है:—

देख अलौकिक आपकी शूर वीरता सम्पदा।

'आह, आह!' कर शत्रु भी 'वाह! वाह!!' करते सदा॥

प्रशंसा तो वही है, जो शत्रु के मुख से भी निकले।

\+ + + +

अन्त में 'प्रकृति-कुञ्ज' का भी थोड़ा सा आभास लेकर सीधे कानन-कुञ्जों में जाकर विहार कीजिए। आपको अधिक यहाँ ठहराकर मैं उल्लास में बाधा नहीं डालना चाहता। संक्षेप में यह पथ-प्रदर्शन या दिशा-परिज्ञान समझिए। 'गाइड' का तो इतना ही काम है। बाकी देखना-भालना और आनन्द लेना तो अपनी आँखों से और हृदय से होता है, वस्तु साक्षात्कार होने पर। अच्छा, सुनिए। 'सौन्दर्य' के सम्बन्ध में कवि के उद्गार हैं:—

मारण, मोहन, वशीकरण जो,
कहलाते हैं मंत्र महान।
हे सौन्दर्य! भरी रहती है,
तुझमें उनकी शक्ति महान।

'निदर्शना' के द्वारा वस्तु खूब चमका दी गई है। सौन्दर्य्य-विशेष को लेकर महाकवि विहारी ने भी कुछ कुछ ऐसा ही कहा है :—

अमिय हलाहल मद भरे, सेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत, जे चितवत इक बार॥

सौन्दर्य्य की मादकता! आह! क्या कहना है! देखिए:—

अद्वितीय तेरी मादकता तुझमें ही बसती भर पूर;
दृश्य और द्रष्टा, दोनों को, करता तू ही मद में चूर!

और मदों से यह बहुत विलक्षण है। अच्छा 'व्यतिरेक' है! सौन्दर्य्य जगत् में सदा रहेगा, अमर है :—

हे सौन्दर्य्य! भयंकर होता,
तेरा दृढ़तम जाल विशाल।
जिसके बन्धन को न काटता,
संहारी भी काल कराल॥

इसी सौन्दर्य्य-दर्शन के साथ मैं आपके आगे से हटता हूँ। आप स्वच्छन्द सैर करें।

अन्त में यह निवेदन और किये देता हूँ कि भाषा-दोष या काव्य-दोष बड़े-छोटे सभी कवियों की कृतियों में थोड़े-

बहुत आ ही जाते हैं। बचते बचते भी—'काजर की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय, एक रेख लागि है, पै लागि है, पै लागि है।' और :—

गच्छतः स्खलनं क्वाऽपि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

'साहित्य-दर्पण' में कविराज श्रीविश्वनाथजी ने भी ऐसा ही लिखा है—"किञ्चैवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्, सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसम्भवात् ।" अर्थात्, यदि सर्वथा दोष-रहित ही काव्य माना जाय, तो फिर दुनियाँ में शायद ही कहीं कोई काव्य मिले और न भी मिले! कारण, सब तरह से बिलकुल निर्दोष होना तो प्रायः असम्भव ही है।

ऐसा लिख कर मैं दोषों का समर्थन नहीं कर रहा हूँ। दोष तो दोष ही हैं, सदा हेय है, क्योंकि वस्तु में बट्टा लगाते हैं—सोलह आने का माल, कम से कम आनों में तो, घटा ही देते हैं! इसलिए इनसे सर्वथा बचना चाहिए। यह तो हुआ सिद्धान्त। परन्तु वस्तु स्थिति ऐसी है कि प्रत्येक कृति में कहीं न कहीं कोई दोष आ ही जाता है! जिस सौभाग्यशाली की कृति सर्वथा दोष-स्पर्श से बची रहे, वह वन्दनीय है। मतलब यह कि उत्तम वस्तु में दोष की छींट यदि हो, तो मर्षणीय है। सहृदय जन ऐसे दोष के कारण उस कृति को ही नहीं छोड़ बैठते! मधुकर गुलाब और कमल के काँटे भी सह लेता है। हाँ, बबूल के काँटे वह न सहेगा।

परन्तु यदि किसी काव्य में दोषों की मात्रा बहुत ज़्यादा हो, तो अवश्य सहृदयों को घृणा हो जायगी।

प्रसन्नता की बात है कि 'काव्य-कानन' की भाषा अत्यन्त परिमार्जित और व्याकरण-सम्मत है। कहीं एकाध जगह शब्दों को तोड़मरोड़ कर कवि ने निरकुंशता भी दिखलायी है, सो क्षम्य ही है; यह देखते कि श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त जैसे सिद्ध कवि भी समय पर 'प्रति' का 'प्रत' कर बैठते हैं! इस प्रकार भाषा दोष की तरह जहाँ-तहाँ सहृदयों को काव्य-दोष भी मिल जायँगे; पर बिलकुल साधारण। इस सम्बन्ध में मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ।

अन्त में एक बात और कह दूँ और बस। भूमिका-लेखक अथवा समालोचक प्रायः यह भी लिखा करते हैं कि अमुक कवि का काव्य-जगत् नें क्या स्थान है। इस दृष्टि से मुझे भी यहाँ पुरोहितजी का स्थान निर्दिष्ट करना चाहिए। परन्तु मैं ऐसा करना न तो अच्छा ही समझता हूँ और न आवश्यक ही। वर्तमान कवियों का तो स्थान-निर्देष कभी भी निरापद कहा ही नहीं जा सकता। और आवश्यकता भी क्या है कहने की ? यदि कवि की वाणी में जादू है, तो आपसे आप उसे सहृदय पलकों पर लेंगे और यदि यह बात नहीं, तो कोई पूछेगा नहीं, चाहे कोई उसकी कितनी ही प्रशंसा क्यों न कर दे। कस्तूरी की सुगन्ध को कसम खाकर प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं होती। कौन किससे जाकर

कहता है कि मणि शिरोभूषण में लगानी चाहिए ? पुरोहितजी की वाणी में जादू है—असर है और वे हिन्दी-काव्य-जगत् में एक विशेष स्थान प्राप्त कर लेंगे मुझे तो ऐसी ही आशा है। एक बात और कही जा सकती है कि कवियों का स्थान-निर्देश न सही, उनके काव्यों की तुलनात्मक विवेचना तो होनी ही चाहिए। इसी से कवियों का स्थान-निर्णय आप ही हो जाता है—तारतम्य स्पष्ट हो जाता है।

ठीक है। मैं मानता हूँ। परन्तु, कई कारणों से जान-बूझ कर यहाँ मैंने आधुनिक काव्यों की तुलना नहीं की है। आशा है, मेरा आशय समझ कर विज्ञ पाठक सन्तोष करेंगे।

मैं पुरोहितजी को राष्ट्रभाषा हिन्दी का एक उदीयमान सुकवि समझता हूँ।

हरिद्वार
माघी अमावास्या
वि० १९८९

—किशोरीदास वाजपेयी।

काव्य-कानन पर एक दृष्टि

(ले०,—बिडला कॉलेज पिलाणी के वायस प्रिन्सिपल, अँग्रेज़ी और हिन्दी के एम० ए०; साहित्य-मर्मज्ञ श्रीसूर्यकरणजी पारीक)

पुरोहित श्रीप्रतापनारायणजी कविरत्न के सुन्दर कविता-कलाप को 'काव्य-कानन' में पढ़ कर अपार हर्ष हुआ। इस अनिर्वचनीय हर्ष के दो कारण हैं; एक तो यह कि उदीयमान प्रतिभासम्पन्न कविवर न केवल सगोत्रीय, आत्मीय बन्धुजन है वरन् परमस्नेही सुहृद हैं, अतएव आत्मगौरव के भाव से मस्तक ऊँचा होता है। दूसरे ममत्व, और स्नेहजन्य पक्षपात को दूर रखकर उत्तम काव्य की कसौटी पर कस कर जाँचने पर भी आपकी कविता उच्च कोटि की प्रतीत होती है; जैसा कि पुस्तक के नाम से प्रकट होता है। काव्य-कानन कवि की फुटकर रचनाओं का संग्रह है। इस संग्रह में वे रचनाएँ सम्मिलित हैं जो १ जनवरी सन् १९१७ और ३१ दिसम्बर सन् १९३२ के बीच में लिखी गई हैं।

इस पुस्तक के अतिरिक्त इन्हीं महाभाग कवि की समुज्ज्वल लेखनी ने "नल-नरेश" महाकाव्य को भी रचा है, जो गङ्गा पुस्तक माला कार्यालय लखनऊ से प्रकाशित हो गया है। पहले तो कविता करना आसान काम नहीं है, फिर उत्तम कविता और प्रवन्ध-काव्य लिख देना तो बहुत कठिन कार्य है, जो केवल परिश्रम और बुद्धि से ही नहीं, बल्कि ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा के बल से सम्भव होता है। अब तक खड़ी बोली हिन्दी में दो ही लब्ध-प्रतिष्ठ महाकाव्य ध्यान में आये हैं, एक तो श्रीहरिऔधजी का 'प्रियप्रवास' और दूसरा श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त का 'साकेत'। तीसरा यह 'नल-नरेश' होगा। अतएव काल-क्रम की दृष्टि से ये तीसरे महाकवि होंगे जो हिन्दी के गौरव को उज्ज्वल करेंगे।

यह जान कर बड़ी प्रसन्नता होती है कि कवि की सभी रचनाओं में वह उत्साह, वह स्फूर्ति और वह सजीवता मिलती है जो सच्चे काव्य के लक्षण होते हैं। कवि को कविता करने की खरी और दिली लगन है। इन्होंने १४ वर्ष की अल्प आयु में ही अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय देना प्रारम्भ कर दिया था और तभी से कविता भी लिखने लगे थे। पूर्व-संस्कारों ने भी कवि की हृद्गत भावनाओं की जागृति में कम सहायता नहीं दी है। आपके पिताजी जयपुर के ताजीमी सरदार स्वर्गीय पुरोहित श्रीरामप्रतापजी उच्च कोटि के विद्वान्, कलाविज्ञ और आशुकवि थे, जिनसे हिन्दीसाहित्यज्ञ परिचित हैं और जिनके 'श्रीकृष्ण-विज्ञान'—श्रीमद्भगवद्गीता के सर्वोत्तम हिन्दी पद्यानुवाद को हिन्दी-संसार प्रतिष्ठा दे चुका है। "होनहार बिरवान के होत चीकने पात।"

काव्य-कानन की सुन्दर रचनाओं का रसास्वादन करते हुए कुछ विशेषताएँ हमारे ध्यान में आईं, जिनको नीचे अङ्कित करते हैं:—

ये कविताएँ खड़ी बोली में लिखी गई हैं जो काव्य प्रतिष्ठित और रसपरिपुष्ट ब्रजभाषा की अपेक्षा भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से काव्य-भावनाओं को वैसा ही सुन्दर रूप देने में अब तक पूर्णतः सफल नहीं हुई हैं। खड़ी बोली का खड़ापन अब भी उन काव्य-रसज्ञों को अखरता है जिनके कान ब्रजभाषा के प्राकृतिक रसास्वादन के अभ्यस्त हो चुके हैं। परन्तु इन प्रतिबन्धों के होते हुए भी इन कविवर के सम्बन्ध में हम निस्संकोच होकर कह सकते हैं कि इनकी भाषा में वह सरलता, ओज और शब्द-सौष्ठव है जो रसात्मक आयोजना में खटकता नहीं। भाषा के धाराप्रवाह ने कविता के प्रसाद गुण को बहुत अंश में बढ़ा दिया है। मुहावरों और प्रचलित शब्दों का अच्छा प्रयोग हुआ है जिससे भाषा में एक प्रकार की सजीवता और चमक आगई है। इन्हीं प्रमाणों से हम कह सकते हैं कि यह उदीयमान कवि कोई नौसिखिया तुकड़ नहीं है वरन् अनुभवी और प्रतिभा-सम्पन्न उच्च कोटि का कवि है; भाषा और भाव दोनों पर इनका अच्छा अधिकार है। इसमें सन्देह नहीं कि कहीं-कहीं केवल शब्द-चमत्कार और बाह्याडम्बर की नोक-झोंक में पड़कर कवि ने भाषा और अलंकार का वह चमत्कारपूर्ण स्वरूप दिखलाने की चेष्टा की है, जिसके लिये पिछले खेवे के रीतिकाल के आचार्य-कवि प्रख्यात रहे हैं, परन्तु इस प्रकार के बृहत्-संग्रह में जिसमें कवि की सभी अवस्थाओं की कृतियाँ सम्मिलित हों, यह दोष क्षन्तव्य समझा जा सकता है। बहुधा देखा जाता है कि किसी कवि के व्यक्तित्व के विकास के प्रारम्भिक काल में शब्दाडम्बर और भाषा सम्बन्धी बाह्य चमत्कारों का बाहुल्य रहता

है, ज्यों-ज्यों कवि प्रौढ़ता को प्राप्त होता जाता है त्यों-त्यों भाषा और भाव का पारस्परिक समन्वय बढ़ता जाता है और अन्त में भाव प्रकाशन की प्रधानता स्पष्टतः दीख पड़ती है। इस प्रकार का विकास सूत्र इन कविवर की कृतियों में भी अन्तर्निहित है और ध्यान देने पर स्पष्ट झलकता है। अच्छा हो यदि भविष्य में यह बृहद्-सग्रह ऐसे छोटे-छोटे संकलनों के रूप में निकलें, जिनमें कविताओं का विभाग कवि के काव्य-व्यक्तित्व के विकास के सिद्धान्त पर किया गया हो। ऐसा करने से वह गुण-वैषम्य नहीं दिखाई देगा जो इस सग्रह में एक कविता और दूसरी कविता के बीच में अब दिखाई देता है।

काव्य-कानन चार कुञ्जों में विभाजित है। इन चारों में मानव-कुञ्ज की छटा मुझे सबसे अधिक हृदयग्राही प्रतीत हुई। इसी में कवि की प्रौढ़कालीन रचनाओं का अधिक समावेश हुआ प्रतीत होता है। यद्यपि उत्तम और भावपूर्ण कविताएँ अन्य कुञ्जों में भी हैं, परन्तु कवि की हृत्तंत्री का झकार जितनी सुस्पष्ट और मनोज्ञ रीति से इस कुञ्ज की कविता में व्यक्त हुआ है उतना अन्यत्र नहीं।

श्रीप्रतापनारायणजी की कविता का सबसे प्रधान उद्देश्य यही जान पड़ता है कि वह विविध मानव दशाओं और भावनाओं को चित्र रूप में उपस्थित कर पाठकों की संवेदनात्मक मनोवृत्तियों को उत्तेजित करती है, उनके भावों को सजीवित और स्फूर्त करके उच्छ्वसित करती है और उनमें सात्विक शक्ति का संचार कर प्रसुप्ति से जागृत अवस्था में परिणत करने की चेष्टा करती हैं। यह बात कवि के इस संकल्प से विदित होती है—

धन-धाम-नाम यश चाहे लुट जाय मेरा,
काव्य का लुटेरा मेरा काव्य-धन लूटे ना।
चाहे पाप-पुंज से ही भर देना पूरंपार,
किंतु सिंधु बीच मेरी नाव टूटे फूटे ना।
चाहे गंगा घाट छूटे, करना गोविन्द! ऐसा—
देश-उपकार विना देह मेरी छूटे ना।
चाहे टूट जाय मेरा तुमसे भी नाता, किन्तु,
भारत से, कविता से नाता कभी टूटे ना॥ पृष्ठ २३७ "कविकीर्तन"

काव्य कानन की रचनाओं में राष्ट्रीय भावों की ओजस्विनी और मर्म-भेदी पुकार सन्निहित है, जिसकी प्रबलता हृदय पर असर किये बिना नहीं रहती। स्थान-स्थान पर कवि की सामाजिक उपकार-बुद्धि का अच्छा सुस्पष्ट दिग्दर्शन हुआ है। समाज-सुधार का ध्येय भी छिपा नहीं है।

संसार का ज्ञान भांडार उत्तरोत्तर समृद्ध हो रहा है। नवीन सिद्धान्त, नवीन शास्त्र और नवीन बातें प्रतिदिन सुनने और पढ़ने में आ रही हैं। काव्य-कलाकुशल कवि जमाने की बातों और ज्ञान-भांडार के विकास-सूत्र से अनभिज्ञ नहीं रह सकता। यदि रहे तो यह उसमें बड़ी कमी समझी जाती है। कविवर श्रीप्रतापनारायणजी की कविता में यह कमी नहीं पाई जाती। वे बीसवीं शताब्दि के कवि हैं और उनके काव्य में वर्त्तमान प्रगतियों का पूर्णतः समावेश हुआ है। आधुनिक वैज्ञानिक युग की प्रमुख विशेषताओं का प्रयोग यत्र-तत्र इनके काव्य में हुआ है। 'वृक्ष-वैचित्र्य' में वनस्पति शास्त्र की नई खोजों की चमत्कारिक ढंग से व्यंजना की गई है। इसी प्रकार रेडियो, बेतार का तार, वायुयान इत्यादि वैज्ञानिक आविष्कारों का भी उपयुक्त स्थलों पर प्रयोग किया गया है। परन्तु इन सभी

नवीनताओं का समावेश होते हुए भी भारतीय पूर्वसंस्कृति और आध्यात्मिक सभ्यता के संस्कारों को इनकी कविता में कहीं छोड़ा नहीं गया है। वेद, उपनिषद्, पुराण और स्मृतियों के ज्ञान-भंडार के प्रति अटूट श्रद्धा इनकी कविताओं की प्रत्येक पंक्ति में स्पष्ट झलकती है। पौराणिक कथाओं और महापुरुषों के चरित्रों को उपमानों और दृष्टान्तों के रूप में लेकर खूब प्रयोग किया गया है। इनका पौराणिक ज्ञान किसी भी कवि से कम नहीं है।

वर्णनों में जहाँ तहाँ पूर्व कवियों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है जो अत्यन्त स्वाभाविक है। हम इसे भावापहरण नहीं कह सकते। पूर्व कवि की विशेषताओं से प्रभावित हुए बिना कोई भी बड़ा से बड़ा उत्तरकालीन कवि नहीं रहा है। परन्तु जहाँ कहीं इन्होंने पूर्व कवि की प्रतिभा अथवा कल्पना का उपयोग किया है वहाँ उसे अपना रूप दे दिया है। यथा, उदाहरणतः "प्रकृतिकुञ्ज" की "गिरि-गौरव" शीर्षक कविता में काव्यगुरु कालिदास के कुमारसम्भव के प्रथम छन्द का आभास मिलता है—

कौन धारण भूमि को करता भला—
भाल बन कर भव्य भारत-वर्ष का ?
कौन है नगनाथ ! नभ को नापता—
इस धरा को दान कर उत्कर्ष का ? (काव्य-कानन)

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः।
.. ... .
स्थितः पृथिव्यां इव मानदण्डः॥ (कुमारसंभव)

'देवतात्मा नगाधिराज' और 'नापने' के भावों का प्रतिफलन उपर्युक्त छन्द में अवश्य हुआ है, परन्तु अन्तिम पंक्ति में भारतभूमि के प्रति हिमालय के निस्सीम उपकार को लक्षित करके कवि ने उन्हीं भावों को एक नवीन मनोज्ञ रूप दे दिया है। विशुद्ध नवीनता संसार की वस्तु नहीं होती; मौलिकता आपेक्षिक गुण है। पूर्व रूप को नवीन दृष्टि से देखने का नाम ही मौलिकता है।

छन्द-रचना, भाषा-वैचित्र्य और अलंकार छटा की दृष्टि से काव्य-कानन की कविताएँ कवि की प्रौढ़ दक्षता का परिचय देती हैं। खड़ी बोली में प्रयुक्त होनेवाले प्रायः सभी वृत्तों का उपयोग कवि ने बड़ी सिद्ध-हस्तता के साथ किया है। मात्रिक छन्दों का यद्यपि बाहुल्य है, परन्तु कुछ वर्णवृत्तों का प्रयोग भी हुआ है। ग़ज़लों की चंचल छटा निराली ही है। वर्णवृत्तों का प्रयोग केवल ऋतुवर्णनों में ही न करके यदि इतर विषयों में भी किया जाता तो अवश्य सफलता प्राप्त होती। हमारी धारणा है कि मात्रिक छन्दों की अपेक्षा वर्णिक छन्दों में एक प्रकार की गम्भीर संस्कृति और संगीत की लय विशेषतः रहती है, जो विषय में इन दोनों गुणों का समावेश कर उसे अधिक रोचक और काव्योपयोगी बना देती है। ऋतुवर्णनों में, राजस्थानी होने के नाते, कवि ने कुछ देशीय विशिष्टताओं का भी समावेश किया है, परन्तु इतना नहीं कि पर्याप्त गिना जा सके। मुहावरों के प्रयोग की दक्षता भी कहीं कहीं ख़ूब है।

जातीय त्यौहारों के सम्बन्ध की कुछ कविताओं यथा, होली, दिवाली, में कवि ने कविता द्वारा सत्य निरूपण का कार्य किया है। यद्यपि इन कविताओं को लिखते हुए कवि का उद्देश्य इन त्यौहारों के शुद्ध सामा-जिक रूप का व्यक्तीकरण ही रहा होगा, परन्तु कवि की सच्ची और प्रबल

हार्दिक वेदना ने इनमें एक ऐसा व्यंग्य रूप धारण कर लिया है कि वह उपदेश हमको केवल दार्शनिक तथ्य का रूखा-सूखा तथ्य-निरूपण होकर अखरता नहीं, बल्कि हमारी संवेदनाओं को जागृत कर वह हमारे हृदय में नवीन उत्तेजनाओं को उद्‌बोधित करता है। 'हर्षद-होली'—तथा उसी के साथवाली अन्य होली सम्बन्धी कविताएँ और 'उत्तम-उपदेश' व्यंग्यप्रधान रसात्मकता से भरी है और उनमें उत्तम कविता के सभी लक्षण मौजूद हैं। हमें तो यह भाग सबसे अधिक पसंद आया और हम आशा करेंगे कि कवि अनुप्रास यमकादि के व्यर्थ और निस्प्राण शब्दाडम्बरों और ऊहात्मक कष्ट-कल्पनाओं की उलझन में न पड़कर यदि इसी प्रकार की स्वच्छन्द, सरल, संगीतपूर्ण और भावमयी कविताओं की रचना करे तो न केवल हिन्दी काव्य की ही समृद्धि होगी वरन् कविता द्वारा सामाजिक उपकार भी अधिक हो सकेगा।

'प्रेम-प्रशस्ति' में प्रेम की व्यापकता की व्याख्या करते हुए कैसी अनुभव भरी बात कही गई है—

तुलसी कर्म हृदय मीरां का, सूरदास की सी वाणी।
जिसमें ये तीनों होते है, बस प्रेमी है वह प्राणी॥

शोक-स्मृतियों में शोक का मूर्तिमान भाव-चित्र उपस्थित हुआ है और उनमें भाव की बड़ी मार्मिक तीव्रता सन्निहित है, जिसका प्रभाव पाठक की हृत्तन्त्री को एक बारगी झंकरित कर देता है। 'स्वरूप-स्वर्गारोहण' अपने नाना तथा 'पितृ-प्रशस्ति' अपने पिता की स्मृति में लिखी हुई कविताएँ हैं। इन कविताओं में व्यक्तिगत स्नेह सम्बन्ध की घनिष्ठता ने शोक की प्रबलता को और अधिक बढ़ा दिया है और इसकी पाठक के समवेदना पूर्ण हृदय पर भी पूरी गहरी छाप पड़ती है।

सूक्ति-कुञ्ज में ऐसी कविताओं का ग्रथन हुआ है जो या तो जातीय मासिक-पत्र 'पारीक' के लिए यदा-कदा लिखी गई थीं अथवा "कथाच्छलेन हि बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते" वाली पद्धति पर रचित मनोरंजक और उपदेशप्रद, सरल बालोपयोगी छोटी-छोटी कविताएं हैं। पहेलियों और चित्रकाव्य का चमत्कार भी इसी के अन्तर्गत है। इन फुटकर कविताओं में कुछ हास्यप्रधान कविताएँ भी सम्मिलित हैं। जैसे—कविकल्पना मोहिनीमैडम, बुझक्कुझक्कड़, चतुर चित्रकार आदि। मोहिनीमैडम और कवि-कल्पना के कुछ अंश में उपहास अशिष्ट मज़ाक की कोटि में पहुँच जाता है। एक कोटि के लोगों के लिए यह रुचिकर भले ही सिद्ध हो परन्तु उन्नतकोटि के साहित्यज्ञ-समुदाय में हास्य तभी तक अच्छा समझा जाता है जबतक वह शिष्टता और शील की सीमा में रहे।

अन्त में हमें यह कहना है कि काव्य-कानन में एक होनहार महाकवि की प्रतिष्ठा का अच्छा परिचय मिलता है। कवि को हम उनकी उत्कृष्ट रचनाओं पर हार्दिक बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि उनकी प्रतिभा उत्तरोत्तर प्रौढ़ता को प्राप्त करती हुई हिन्दी-काव्य की श्री को बढ़ावेगी।

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्॥

—

जयपुर केबीनेट के रिटायर्ड मैम्बर, पुरोहित-कुल-भूषण, रायबहादुर सर श्रीगोपीनाथजी (नाडट्) एम०-ए०, सी० आई० ई० की सम्मति।

श्रीयुत कविरत्नजी के "काव्य-कानन" में विहार करके मुझे जो हर्ष हुआ है वह यथार्थतः लिखने में नहीं आ सकता। यह वास्तव में ही एक बहुत अनूठा काव्य है। आप इसकी किसी कुञ्ज में चाहे जिस समय जाइए वाटिका की मस्तानी सुगन्ध से अवश्य ही मुग्ध होंगे। रचना-शैली क्या ही सरल, सरस और सुन्दर है। पढ़नेवाले के मन को तत्क्षण अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। कवि के उच्च विचार ऐसे सस्कृत और श्रेष्ठ हैं कि कोई भी विद्वान् किसी भी विचार का क्यों न हो उनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। भाव-चित्रण में ये नवयुवक कवि इतने प्रगल्भ प्रतीत होते हैं कि प्रौढ़ पण्डितों को भी इनकी गम्भीर ग्रन्थियों के सुलझाने में कितनी ही कठिनता होगी। पुस्तक इतनी मनोहर है कि एक सप्ताह में ही मुझे इसकी दो आवृत्तियाँ करनी पड़ी हैं। जिस विषय पर कवि ने अपनी लेखनी उठाई है उसको चरम सीमा तक पहुँचा दिया है। गहन से गहन विषय—ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मविद्या, साकार-निराकार-उपासना, द्वैताद्वैतवाद आदि से लेकर साधारण से साधारण बात को भी कवि ने अपनी अमूल्य विभूति में इस प्रवीणता से ओतप्रोत किया है कि विवेकी पाठकों के लोभी मन को भी उसकी खोज करने में बहुत सा समय विवश होकर लगाना पड़ता है। ऐसे सर्वाङ्ग सम्पूर्ण और सर्वाङ्ग सुन्दर श्रेष्ठ ग्रन्थ के लिए इसके सुयोग्य लेखक को सहर्ष और सगर्व धन्यवाद दिए बिना मैं कदापि नहीं रह सकता। सगर्व की यथार्थता का यह कारण है कि इन पंक्तियों का लेखक और काव्य-कानन जैसे

सुन्दर काव्य के रचयिता एक ही महाराजाधिराज के आश्रित, एक ही देश और नगर के निवासी, एक ही पाठशाला के विद्यार्थी और एक ही वर्ण और जाति के व्यक्ति है । श्रीपरमेश्वर से यही प्रार्थना है कि कविरत्नजी सुखी और चिरञ्जीवी रह कर ऐसी-ऐसी उत्तमोत्तम पुस्तकों की रचना करके देश की सदैव सेवा करते रहें ।

——

महाराजा कालेज (जयपुर) के प्रोफेसर, हिन्दीभाषातत्वज्ञ पं० श्रीरामकृष्णजी शुक्ल एम० ए० की सम्मति ।

काव्यकानन में पुरोहित प्रतापनारायणजी की उन फुटकर कविताओं का संग्रह है जो उन्होंने अपने काव्यारम्भ-काल से अब तक समय-समय पर लिखी हैं । मैंने इस ग्रन्थ के अधिकांश को पढा है और कहीं-कहीं इसके काव्यगुणों को देखकर वास्तव में मुग्ध हो गया हूँ । पुरोहितजी ने अपनी किशोरावस्था से ही कविता लिखना आरम्भ कर दिया था ; परन्तु उस प्रारम्भिक कविता में भी निर्दोष भाव-सामग्री तथा विदग्ध वचनावली का यथेष्ट परिचय देकर पुरोहितजी ने उसी समय अपने को कवि-कर्म का अधिकारी सिद्ध कर दिया । उसके बाद धीरे-धीरे उनके इन गुणों का बराबर विकास होता गया । इस समय जब कि उनकी अवस्था ३० वर्ष के लगभग है, उन्होंने अपने लिए वह स्थान बना लिया है जो श्रेष्ठतम कवियों को दिया जा सकता है ।

पुरोहित प्रतापनारायणजी में स्वाभाविक प्रतिभा है, अनुभव है और उन्होंने अनवरत अभ्यास किया है । दण्डी के अनुसार ये तीन गुण ही परस्पर मिलकर काव्यसम्पत्ति का कारण होते हैं । पुरोहितजी की रचना में हृदय तक पहुँचनेवाले भावों की कमी नहीं है, ऊँचे आदर्श सर्वत्र भरे

हुए हैं, अलङ्कारों का मंजुल प्रयोग है, भाषा प्रसाद से युक्त है और विषय-वैचित्र्य मनोमुग्धकारी है। सब प्रकार के विषयों पर आपने लिखा है जो आपके अध्ययन, अभ्यास और अनुभव का सूचक है। रुचि के अनुरूप सब प्रकार के मनोवेगों के लिए आपका हृदय खुला हुआ है। यदि आप एक स्थल पर गम्भीर तथा शान्त बन सकते हैं तो दूसरे स्थल पर वीरभाव से भी उत्तेजित हो सकते हैं या फिर विनोद या व्यंग्य भरी हँसी से हँस सकते हैं। काव्यकानन में से इन सब बातों के सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं; परन्तु उन सब के लिए यहाँ स्थान नहीं है। तथापि निम्नलिखित दो-चार पद्य हमारे कथन की पुष्टि करेंगे :—

(१) कृष्णचन्द्र! अब देख कर, पूर्णचन्द्र को भूमि पर—
घटता-बढ़ता चन्द्र है, कहला करके शीतकर।

(२) मैं ही मैं जिसके सदा, मैं-मैं है जिसके नहीं,
मैं मैं ही उसको कहूँ, उसे न मैं तू फिर कहीं।

(३) तुम असल में वस्तु वह हो ही नहीं—
मुदित हो, मुझमें जिसे तुम देखकर।

(४) आँखवाले भी कई क्या देखते—
आँख जो बनता न मैं उनके लिए।

(५) मित्र का कहना जिसने मान, वृक्ष पीछे हो अन्तर्धान—
चलाया लुब्धक बनकर बाण, लिए थे बली बालि के प्राण।
भव्य भावों से बुद्धि भरे—
व्याध वह मेरी व्याधि हरे।

काव्यकानन को देख और पढ़कर हमें हर्ष हुआ है और हमारी कामना है कि पु० प्रतापनारायणजी अन्यान्य श्रेष्ठतर रचनाओं द्वारा साहित्य की अधिकाधिक श्रीवृद्धि करें।

हिन्दी भाषा के आदि उद्धारक, आदर्श सम्पादक और आचार्य पं० श्रीमहावीरप्रसादजी द्विवेदी की सम्मति।

काव्य-कानन की सभी कुञ्जों में विहार करने की मेरी शक्ति उसी ने हर ली है जिसकी महिमा और महत्ता का वर्णन इस कानन के कई स्थलों में मुझे सुनाई दिया है। तथापि, यथाशक्ति इसमें यत्र-तत्र घुसकर जितने दृश्य मैंने देखे उन्हीं ने मुझे मोह लिया। अपनी सरसता, मनोरमता और विषय-विचित्रता से उन्होंने मुझे परमानन्द की प्राप्ति करा दी। अतएव जिसकी कृपा से मुझे यह अलौकिक लाभ हुआ वह उदारता-पूर्वक मेरे कृतज्ञता-ज्ञापन को स्वीकार करे।

"प्रिय-प्रवास" महाकाव्य, "चोखे चौपदे" और "चुभते चौपदे" आदि कई श्रेष्ठ पुस्तकों के निर्माता, खड़ी बोली के आदि महाकवि "साहित्यरत्न" प्रोफेसर पं० श्रीअयोध्या-सिंहजी उपाध्याय की सम्मति।

मैंने काव्यकानन को पढ़ा, मैं उसका सहर्ष स्वागत करता हूँ। आज कल हिन्दी का पद्य-विभाग विचित्र अवस्था में है, उसमें मनमाने परिवर्तन

हो रहे हैं, और इसके लिये अवांछित मुहावरे गढ़े जा रहे हैं। कोई छन्दो नियम का परित्याग करता है, कोई व्याकरण पर खड्गहस्त है, और कोई रूढ़ि-विनाश के पर्दे में हिन्दू-संस्कृति का संहार कर रहा है। जिस युवक को देखिये वह आँख मूँदकर छायावाद के पीछे दौड़ता पाया जाता है, चाहे वह यह भी न जानता हो कि छायावाद अथवा रहस्यवाद किसे कहते हैं। अपनी रचनाओं को निरर्थक और जटिल शब्दों से भर देना, और यथाशक्य उसको दुर्बोध बना देना ही, आजकल के कविकर्म की महत्ता है। हर्ष है कि "काव्य कानन" इन दोषों से मुक्त है, और एक युवक कवि होने पर भी ग्रन्थकार ने प्रसादमयी सुन्दर कविता की है। मेरे कथन का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि ग्रंथ सर्वथा निर्दोष है, वरन् मैं यह कह रहा हूँ कि कवि का आदिम ग्रंथ होने पर भी इसमें जितने अधिक दोषों की सम्भावना थी, उनसे यह ग्रन्थ सुरक्षित है। विचारशैली के साथ वर्णनशैली भी सुन्दर है। भावुकता की मात्रा भी इसमें कम नहीं है। आदिम ग्रंथ में ही कवि की प्रखर प्रतिभा का अच्छा विकास देखा जाता है। आशा है हिन्दी-संसार इसका उचित आदर होगा।

"भारत-भारती" और "साकेत" महाकाव्य आदि कई श्रेष्ठ पुस्तकों के रचयिता प्रसिद्ध महाकवि श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त की सम्मति।

"काव्य-कानन" में यत्र-तत्र विचरण करने का सुयोग पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है, लेखक ने उपवन लगाने का गर्व नहीं किया, यह उनके विनय का परिचायक है।

तुलसीदासजी ने वन का वर्णन करते हुए एक स्थान पर कहा है— "कुश-कण्टक मग कांकर नाना" परन्तु उन्होंने हमें बताया है कि इसके अतिरिक्त वन में कुछ और भी होता है, जिसके समक्ष ये सब कष्ट भूल जाते हैं, आशा है, इसमें पाठक वैसी ही कोई वस्तु पावेंगे, मैंने तो रस ही पाया है।

यों तो स्वयं लेखक का आनन्द पाना ही उनके प्रयास का पर्याप्त मूल्य है, परन्तु यह आनन्द ऐसा है, जिसमें अन्य जन भी सम्मिलित हो सकते हैं। लेखक ने कृपा कर मुझे भी आमन्त्रण दिया है, अतएव मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

भिन्न-भिन्न विषयों पर रचना करके लेखक ने अपनी अनुभूति की व्यापकता का परिचय दिया है। सन्तोष की बात है, पु० प्रतापनारायणजी ने अपने पिता से उत्तराधिकार में धन-सम्पत्ति ही नहीं, विपुल विद्या-बुद्धि भी पाई है।

"काव्य-कानन" की भाषा मनोहर और भाव भी सरल-शोभन हैं; बधाई।

——

"काव्य-कल्पद्रुम" के कर्त्ता, साहित्य-मर्मज्ञ सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार, रईस, बैंकर व जागीरदार की सम्मति।

'काव्य-कानन' को दृष्टिगत करके चित्त बड़ा प्रसन्न हुआ। "नलनरेश" महाकाव्य के समान यह ग्रन्थ भी कवि की प्रतिभा का परिचायक है। इसमें वर्णित विषय सुपरिचित होने पर भी सभी विषयों की वर्णनशैली

में नवीनता है— पिष्ट-पेषण नहीं। भाषा प्रसाद-गुण-युक्त ओजस्विनी है। शब्दावली मुहाविरेदार है। कविता सरल-बोधगम्य, गम्भीर, भाव-पूर्ण एवं शिक्षाप्रद होने के साथ मनोरञ्जक है. यह सुवर्ण में सौरभ का योग है। निस्सन्देह पु० प्रतापनारायणजी वर्तमान कवि समाज में उज्ज्वल रत्न हैं। अँगरेजी के उच्च श्रेणी के विद्वान् होकर हिन्दी काव्य पर इतना प्रेम रखना यह बड़ा हर्ष का विषय है। हम "कविरत्न"जी को इस ग्रन्थ की रचना के विषय में हार्दिक बधाई देते है।

विनीत वक्तव्य

"काव्य-कानन" के विषय में इतना ही लिखना उचित है कि यह प्रेमी, उदार और सहृदय हिन्दी-संसार के कोमल कर-कमलों में अर्पण कर दिया गया है; अब वह चाहे इसको पढ़े, सुने, सुनावे, चाहे इसकी आलोचना करे, चाहे इस पर आक्षेप करे या न करे। इस संग्रह में प्रायः सभी कविताएँ शुद्ध खड़ी बोली की हैं। सन् १९१७ की पाँच-सात रचनाओं में जो व्रजभाषा के शब्द आए हैं उन्हें ज्यों का त्यों ही छोड़ दिया गया है क्योंकि मैं इस भाषा से द्वेष नहीं रखता और दूसरे इसका सा शब्द-सौष्ठव व माधुर्य अभी खड़ी बोली की कृतियों में, यहाँ तक कि अनुभवी महाकवियों की श्रेष्ठ कविताओं में भी आया है या नहीं यह सर्वसम्मत नहीं है। कई स्थलों पर विद्वानों को कविताओं का मार्मिक चुनाव भी इसमें दृष्टिगत नहीं होगा। विषय की एकता या कुछ-समानता के कारण प्रौढकालीन कविताओं के साथ मेरे प्रारम्भिक काल की कृतियाँ भी लगादी गई हैं। कहीं-कहीं पर कविता

का निर्माण-काल भी लिख दिया गया है ; परन्तु सर्वत्र ऐसा करना मुझे अनावश्यक और अरुचिकर ही प्रतीत हुआ। दो-चार राष्ट्रीय रचनाएँ मेरे स्वर्गीय पूज्य पिताजी महाराज की कृतियाँ हैं जिनको उन्होंने कई वर्ष पहले, मुझे उत्साहित करने के लिए, मेरे नाम से ही पत्रों में छपवाया था। इनका उत्तरदायित्व और कीर्त्ति-लाभ का अधिकारी उनके अतिरिक्त और कोई भी नहीं हो सकता।

मैं जैसा चाहता था वैसा नहीं हो सका। मेरा दृढ़ विचार है कि "काव्य-कानन" के दूसरे संस्करण को और भी परिमार्जित रूप में निकाला जाय अतएव जो-जो अनुभवी विद्वान इस विषय में अपना मत प्रकट करेंगे और उचित परामर्श देकर मेरी सहायता करेंगे वे सब मेरे हार्दिक धन्यवादों के पात्र होंगे। आशा है प्रेमी पाठक-गण मेरे इस प्रयास को आदर की दृष्टि से देखेंगे क्योंकि यह मेरा प्रथम प्रयास ही तो है और दूसरे मैं तो—

"कवि न होउँ, नहि चतुर-प्रवीना, सकल कला, सब विद्या-हीना।
कवित-विवेक एक नहिं मोरें, सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे॥

मानवमात्र को अपनी रचना बहुत पसन्द आती है; मैं भी मनुष्य होने के नाते यदि ऐसा ही करूँ तो कोई आश्चर्य नहीं क्योंकि—

"निज कवित्त केहि लाग न नीका, सरस होय अथवा अति फीका।"

परन्तु मैं तो अपने इस परिश्रम को तब ही सफल समझूँगा जब कि वाचक-वृन्द को भी इस "काव्य-कानन" से कुछ आनन्द मिलेगा। मेरी इस दृढ़ धारणा को प्रकट करने के लिए यह धृष्टता कदापि नहीं है—

हैं और भीं दुनियाँ में सखुनवर बहुत अच्छे।
कहते हैं कि ग़ालिब का अन्दाज़े बयाँ और॥

इस अल्प जीवन में मुझ जैसे विपरीत वातावरण में रहने वाले एक अल्पज्ञ से यदि कुछ भी अच्छा काम बन पड़ जाय तो बहुत सन्तोष की बात है क्योंकि कवि-कर्म बड़ा भारी कठिन है और उसको पूर्णतया सफल बनाने में एक क्या सैकड़ों जीवन भी काफ़ी नहीं। कवि-वर एच० डब्ल्यू० लॉङ्फेलो ने क्या ही अच्छा कहा है—

Art is long, and time is fleeting,
And our hearts, though stout and brave,
Still, like muffled drums, are beating
Funeral marches to the grave

फिर भी मैंने ऐसा कठिन कर्म क्यों स्वीकार किया—क्यों ऐसा प्रयास किया? इसका उत्तर कविवर आर० हेरिक से सुनिए—

Gather ye rosebuds while ye may,
Old time is still a-flying:
And this same flower that smiles to-day
To morrow will be dying.

इसका समर्थन करने के लिए

"काल करे सो आज कर, आज करे सो अब्ब।
ओसर बीता जात है, फेर करेगो कब्ब ॥"

इस पुस्तक की सफलता के लिए बहुत से महानुभावों ने जो कष्ट उठाया है उसके लिए मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। "काव्य-कानन" के मुद्रक और प्रकाशक इसको मनोहर रूप में मुद्रित एवं प्रकाशित करके अपनी उदारता और साहित्य-प्रेम को पूर्णतया प्रमाणित कर रहे हैं। इसके भूमिका-लेखक ने अपनी निस्वार्थ साहित्य-सेवा-परायणता और काव्य-मर्मज्ञता को ही नहीं प्रकट किया किन्तु मेरे उत्साह को भी बढ़ाया है अतः वे और "काव्य-कानन पर एक दृष्टि" के लिखनेवाले एक और दूसरे साहित्य-मर्मज्ञ विद्वान भी मेरे विशेष हार्दिक धन्यवादों के पात्र हैं। अपनी विद्वत्ता-पूर्ण, सारगर्भित और अमूल्य सम्मति देने की कृपालु कृपा करनेवाले—मुझे विशेष गौरव प्रदान करनेवाले—सभी साहित्य-महारथियों व महाकवियों को भी मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। मेरे पास ऐसे शब्द नहीं कि जिनसे मैं इन सब के प्रति अपनी कृतज्ञता को पूर्णरूपेण प्रकट कर सकूं। मैं नहीं जानता कि किस प्रकार से मेरे धन्यवाद, जो सुदामा के तण्डुल-कणों के समान ही हैं, इन सभी महानुभावों की सेवा में अर्पण किए जावें। मेरा अन्तरात्मा यही लिखता है कि मैं उक्त व्यक्तियों का हृदय से आभारी हूँ—ऋणी हूँ।

मङ्गलमय भगवान हम सब के मनोरथों को पूर्ण करें। उन लीलामय की ललित लीला अतीव अद्भुत, अगम्य और अपार है। उनका चाहा हुआ ही पार पड़ सकता है, "होय वहि जो राम रचि राखा, को करि तर्क बढावहि साखा"।

पड़े भटकते हैं लाखों दाना, करोड़ों पंडित, हज़ारों स्याने।
मगर ख़ुदा क्या किसी ने जाना, ख़ुदा की बातें ख़ुदा ही जाने।

(नज़ीर)

सदियों फ़िलासफ़ी की चुनाचुनी रही है।
लेकिन ख़ुदा की बात जहाँ थी वहीं रही।

(अकबर)

अन्त में मैं उन सभी महाशयों का हृदय से उपकार मानता हूँ कि जिन्होंने "काव्य-कानन" को इस रूप में लाने के लिए मुझे किसी भी प्रकार की सहायता दी हो। प्रेमी पाठकों से मेरी अन्तिम प्रार्थना यही है, "सन्त-हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि-विकार" क्योंकि निर्दोष तो एक केवल भगवान का ही नाम है। यह साहसपूर्वक कहा जासकता है कि संसार के किसी महाकवि की सर्व श्रेष्ठ रचना में भी दोष पाए जाते हैं। गुणों की अवहलेना करनेवालों के लिए, "विचित्ररूपाः खलु चित्त वृत्तयः" को मैं लिखकर ही इस विनीत वक्तव्य को समाप्त करता हूं। सुनिए —

"गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति ।
ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः ।
सुस्वादु तोयाः प्रभवन्ति नद्यः ।
समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः ।"

इस असार संसार में—

"तत्वं किमपि काव्यानाम् जानाति विरलो भुवि ।"

विनयावनत

पु० प्रतापनारायण ।

"काव्य-कानन" के कर्त्ता

ताज़ीमी सरदार, "नल-नरेश" महाकाव्य के रचयिता
महाकवि पु० श्रीप्रतापनारायणजी "कविरत्न"
तथा द्वि-स्वर्णपदक प्राप्त
सिवार हाउस जयपुर, राजपूताना।

देवकुञ्ज

काव्य-कानन
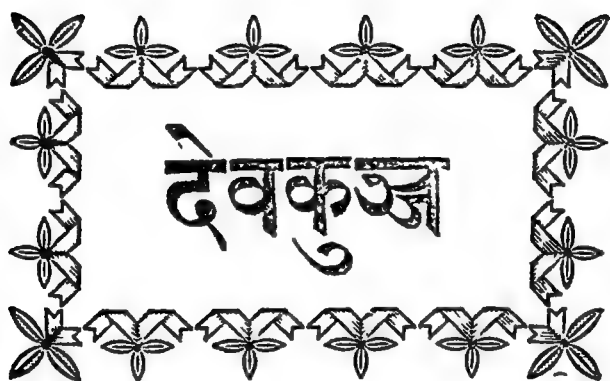
मञ्जु-मङ्गलाचरण ।

वाणी, गुरु-वर, विघ्नहर, राम और घनश्याम—
पूर्ण करें, करके कृपा, मेरे सारे काम।
मेरे सारे काम नहीं विघ्नों में अटकें—
और कभी भी नहीं किसीके मन में खटकें।
मीठी, सुधा-समान सभी से जावे मानी—
बड़ी रसीली बनी रहे मेरी यह वाणी॥

असीम-असमर्थता

(१)

निराकार कहते हैं कोई, कहते हैं कोई साकार।
ज्ञानगम्य वतलाते कोई, कोई प्रेम-भक्ति-आधार।
हे भगवन्! मैं मानूँ किसकी, कहो कृपाकर कृपानिधान!
'नेति नेति' वेदों को सुनकर हूँ मैं आज वड़ा हैरान॥

(२)

तुम्हें जानने वाले तो सब किये हुए हैं धारण मौन।
मुझ अज्ञानी को कलियुग में वतलावेगा तुमको कौन?
नहीं आज तक दर्शन देकर तुमने मुझको किया कृतार्थ।
आनेपर सम्मुख मैं कैसे पहचानूंगा तुम्हें *यथार्थ?

---

*आपका रूप, रङ्ग, और आकार इत्यादि सभी कुछ अज्ञात है।

(३)

भूले भटके इस कुटियापर आ भी गये कभी जो आप—
और दिखा भी दिया मुझे फिर निज-स्वरूप को हे निष्पाप !
*पाऊँगा उसको न, चाहता मैं सेवा से जो विश्राम—
क्योंकि आपके दर्शन पीछे हो जाऊँगा मैं निष्काम॥

(४)

अब तक मैंने की है कुछभी नहीं आपकी सेवा, नाथ !
इससे यही विनय करता हूँ जोड़ आपसे दोनों हाथ।
बना रहूँगा प्रभु-पूजा में मैं सदैव असमर्थ महान—
क्योंकि आपसे अबतक मेरी नहीं हुई है कुछ पहचान॥

(५)

आप मुझे निज-परिचय देने देंगे जब दर्शन अभिराम—
काम-हीन‡ बन मैं न करूंगा तबभी कुछ सेवा का काम।
दर्शन के पहले-पीछे भी—आप मुझे दोनोंही बार‖—
सेवा में असमर्थ जानकर क्षमा कीजिये जगदाधार॥

---

* आपकी सेवा करके जो शान्ति मैं पाना चाहता हूँ वह मुझे नहीं मिलेगी क्योंकि शास्त्रमें लिखा है, हरि-दर्शनके पश्चात् मनुष्य के कोई भी कामना नहीं रहती। ‡इच्छा से रहित।

‖ दर्शन के पहले क्या और किसकी सेवा करूँ- इस अज्ञान से और पश्चात् कामना हीन होने से मैं दोनों ही बार प्रभु की यथार्थ सेवा-पूजा में असमर्थ ही रहूँगा।

लीला-लावण्य

(१)

ईश्वर ! कैसे करूं तुम्हारा मैं वर-वर्णन ?
वर्णनीय तुम नहीं और मैं जन साधारण।
फिर भी ऐसा जान तुम्हीं मुझमें रहते हो।
करते हरते तुम्हीं, तुम्हीं सुनते कहते हो।
लिखता हूँ दो शब्द मैं, क्योंकि भाव तुम भर रहे।
मैं तो कुछ करता नहीं तुम्हीं सभी कुछ कर रहे॥

(२)

धन्य धन्य है तुम्हें तुम्हारी इस लीला को।
धन्य तुम्हारी वृत्ति, ललित-लीला-शीला को।
हे मायामय ! सदा तुम्हारा गूढ़-भेद है।
उसे जानता नहीं, यही तो बड़ा खेद है।
महामन्दमति मैं कहाँ, कहाँ आपके गुण-निकर !
खड़ा हुआ मैं भूमि पर, छूना चाहूँ गिरि-शिखर* !!

---

* निदर्शना अलङ्कार।

(३)

लेकर के अवतार। और बन प्रति-दिन-जन्मा—
रहते हो तुम विभो! किसतरह सदा अजन्मा?
मुझे तुम्हारा रूप नहीं दिखलाई देता—
तो भी दर्शन नित्य तुम्हारा मैं कर लेता।
रोम-रोम में रम रहे तो भी तुम्हें न जानता।
नहीं प्रभो! पहचानता, अद्भुत तुम्हें बखानता॥

(४)

"ईश्वर कुछ भी नहीं, सभी कुछ यह माया है।
तत्वों से ही बनी स्वयं सबकी की काया है"।
ऐसा कहते आज मूढ़तम जो मानव हैं—
मोह-ग्रस्त हैं, मलिन-बुद्धि हैं, वे दानव हैं।
*सर्वाधिप! सर्वत्र ही रहते हो तुम सर्वदा।
फैल रही संसार में सुखद तुम्हारी सम्पदा॥

(५)

माया क्या है, ईश! तुम्हारी वह छाया है।
तुम उसके हो नाथ, तुम्हारी वह जाया है।
स्वामी हो तुम और तुम्हारी वह दासी है।
विश्वनाथ तुम और तुम्हारी वह काशी है।
कारण हो तुम और वह कार्य-रूप बन मोहती।
सूक्ष्म-रूप तुम और वह स्थूल-रूप बन सोहती॥

---

* सबकी पालना करने वाले; सबके स्वामी।

(६)

हो तुम गन्ध अमन्द और वह पृथ्वी उज्ज्वल।
हो तुम रस-भाण्डार और है वह निर्मल-जल।
हो तुम रूप अनूप और वह ज्योति मनोरम।
हो तुम सुन्दर-स्पर्श और वह *स्पर्शन अनुपम।
तुम सुखदायक शब्द हो, स्वच्छ-नील आकाश वह।
हाथ जोड़ रहती खड़ी सदा तुम्हारे पास वह॥

(७)

माया कहते उसे ब्रह्म तुम कहलाते हो।
वह हो जाती प्रकृति, पुरुष-पद तुम पाते हो।
शङ्कर हो तुम और दिव्य वह शक्ति तुम्हारी।
सीता है वह और राम तुम हो असुरारी।
राधा है वह कृष्ण तुम, जीवन तुम वह देह है।
तुम उसके आधार हो, विश्वरूप वह गेह है॥

(८)

तुम्हें चाहता नहीं क्योंकि तुम घट-घट-वासी,
किन्तु तुम्हारी एक कृपा का मैं अभिलाषी।
दे दो उसको प्रभो! उसीका मैं इच्छुक हूँ—
और नहीं भगवान! तुम्हारा मैं भिक्षुक हूँ।
दान दया का दो प्रभो, कृपा-पात्र मुझको करो।
भव्य-भाव मुझमें भरो, पाप-दोष मेरे हरो॥

* वायु, हवा।

(९)

जननी-जनक-समान तुम्हीं पालन करते हो।
पोषण करते तुम्ही तुम्ही सबको हरते हो।
जीवमात्र में सदा उपस्थित तुमको कहते।
दुर्जन में भी तुम्ही, तुम्हीं सज्जन में रहते।
होकर "पञ्चम जार्ज" भी, "गांधी" के तुम रूप हो।
होकर "मौलाना" तुम्हीं "मालवीय" द्विजभूप हो॥

(१०)

रहते हैं सब जीव तुम्हारे होकर वश के।
महा-मधुरतम-सिन्धु तुम्हीं हो अद्भुत-रस के।
लेकर जग-लावण्य होरहे तुम कुरूप हो।
धरते रूप अनेक, विश्व में तुम अनूप हो।
हरे! त्रिलोकीनाथ! तुम निज भक्तों के दास हो।
रहकर उससे दूर भी तुम प्रेमी के पास हो॥

(११)

तुमसे भी तो प्रभो! वस्तुएं है दो बढ़कर।
एक तुम्हारी कृपा, दूसरा नाम पाप-हर।
इनके द्वारा मञ्जु-मुक्ति को सारे पाते।
सभी असम्भव काम शीघ्र सम्भव हो जाते।
रक्खो तुम मुझ पर कृपा रटने दो प्रभु-नाम को—
राम, राम अभिराम को, श्याम, श्याम घनश्याम को॥

(१२)

भारत लीला-धाम तुम्हारा कहलाता है।
ऐसे, ऐसे कष्ट कहो वह क्यों पाता है?
गज के फन्द-समान काटदो उसके बन्धन।
*तुलसी-चन्दन तुम्हें चढाता वह, जगवन्दन!
रक्खो उसके शीश पर, मुकुट विजय-यश-मान का—
हे भगवन्! निज-त्राण का, ज्ञान-ध्यान-विज्ञान का॥

* ये दोनों वृक्ष विशेष कर भारत में ही होते हैं।

गुण-गायन

(१)

अजी ! मैं निरा निराला हूँ।
अजी ! मैं सबसे आला हूँ॥
मैं ही सृष्टि-सृष्टि करता हूँ लालन-पालन-प्यार।
मैं ही सब संसार-सार का कर देता संहार।
सभी में मैं ही गामी हूँ।
सभी में मैं ही नामी हूँ।
सभी का मैं ही कामी हूँ।
सभी का मैं ही स्वामी हूँ।
मैं ही बालक-वृद्ध-तरुण हूँ, मैं ही बाला हूँ।
अजी ! मैं निरा निराला हूँ।
अजी ! मैं सबसे आला हूँ॥

(२)

मैं ही प्राणी कहलाता हूँ, मैं ही सबका प्राण।
मैं ही गानेवाला, बाजा, मैं ही उसकी तान।
दान हूँ, मैं ही दानी हूँ।
मान हूँ, मैं ही मानी हूँ।
ध्यान हूँ, मै ही ध्यानी हूँ।
ज्ञान हूँ, मैं ही ज्ञानी हूँ।
मैं ही पीनेवाला, *हाला, मैं ही प्याला हूँ।
अजी! मै निरा निराला हूँ।
अजी! मैं सबसे आला हूँ॥

(३)

मैं ही कोकिल-कीर-काक हूँ, मैं ही भृङ्गी-भृङ्ग।
मैं ही कुञ्जर ‡कोल-केसरी, मैं ही शृङ्गी-शृङ्ग।
मैं ही विषधर नीला, नीला—
लचकीला, ‖कीला, चमकीला।
मैं ही केकीरङ्ग-रँगीला—
बड़ा रसीला, बड़ा फबीला।
मैं ही पीला, धौला होता, मैं ही काला हूँ।
अजी! मैं निरा निराला हूँ।
अजी! मैं सबसे आला हूँ॥

---

* मदिरा, शराब। ‡ सूकर। ‖ प्रेम-मन्त्र-बद्ध।

(४)

मैं ही वीज, वीज का अङ्कुर, मैं ही फल-दल-फूल।
मैं ही वृक्ष, वृक्ष की शाखा, मैं ही कलिका-धूल।
मैं ही *नाल-मृणाल-वन्ध हूँ।
मैं ही मन्द-अमन्द-गन्ध हूँ।
मैं ही मधु-मकरन्द-कन्द हूँ।
मैं ही मधुकर-प्रेम-फन्द हूँ।
मैं ही माली, मालावाला, मैं ही माला हूँ।
अजी! मैं निरा निराला हूँ।
अजी! मैं सवसे आला हूँ॥

(५)

मैं ही सवसे दूर हो रहा, मैं ही सवके पास।
मैं ही गहरा अन्धकार हूँ, मैं ही तेज-प्रकाश।
मुझे ही रोगी कहते हैं।
मुझे ही जोगी‡ कहते हैं।
मुझे ही भोगी कहते हैं।
मुझे ही योगी कहते हैं।
मैं ही ताली, तालावाला, मैं ही ताला हूँ।
अजी! मैं निरा निराला हूँ।
अजी! मैं सवसे आला हूँ॥

* कमल की डंडी और तन्तु। ‡ जोगिया वस्त्र धारण करनेवाला।

(६)

मैं ही उदक हूँ, मैं ही थल हूँ, मैं ही तुङ्ग-तरङ्ग।
मैं ही पवन, गगन हूँ मैं ही, मैं ही अङ्ग-अनङ्ग।
भूमि की भूधर-माला हूँ।
भूमि की भूषण-शाला हूँ।
वरों को मै ही देता हूँ।
नरों को मै ही लेता हूँ।
मैं ही धनुवाला हूँ, मैं ही वंशीवाला हूँ।
अजी! मैं निरा निराला हूँ।
अजी! मैं सबसे आला हूँ ॥६॥

ललित-लीला

(१)

आप ही हैं दृश्य और आपही है दिव्य-दृष्टि-
तोभी हम आपसे ही आपको दिखायँगे।
आप ही हैं गानेवाले आप ही है स्वर, ताल—
तोभी हम गुण-गान आपको सुनायँगे॥

आप ही पुजारी, पूज्य और पुष्प पूजा के भी-
तोभी हम आप पर पुष्पों को चढ़ायँगे।
आपही हमारे प्राण, प्राणोंके भी प्राण, तोभी—
प्राणों की बाजी हम आप पर लगायँगे॥१॥

(२)

वेदरूपी-वाणी ने भी खोला नहीं भेद पूरा,
आप का स्वरूप नहीं किसीने बताया है।
बार-बार भूल जाता आपको क्यों जीव तब—
आपसे ही आया जब आपमें समाया है?
आपसे मिलेगा क्यों न सबही संसार यह-
हो करके आप की ही कायागत-छाया है।
वाह! वाह! मायानाथ! नित्य महामायाको भी-
माया में फँसाने को आप की ही माया है॥२॥

(३)

कहाँ तक गुण गावें, कहो गुण-गेह! गुणी!
गाना और रिझाना भी तुम्हीं ने सिखाया है।
हम तो यह जानते न कौन संसार रच,
ऐसे माया-जाल बीच हमको ले आया है।
किस को बड़ा कहें, आपको या माया को, हम-
भ्रम में पड़े है, भला भेद नहीं पाया है।
बसे आप हममें या आप में बसे हैं, हम
माया बीच आप हैं कि, आप बीच माया है॥

(४)

जिन्हें समझाते आप, गूँगे कर देते उन्हें,
और आप स्वयं भी न हमें समझाते हैं।
देते पहचानने न, नहीं पहचाने जाते
आप दूर बसे, निज को निकट बताते हैं।
जल में बनाते थल, थल में रचाते बीज—
बीज-बीच कैसे आप वृक्ष को छिपाते हैं?
आप यहाँ हैं या नहीं, नहीं की नहीं मानें,
हैं तो फिर नेति, नेति वेद कैसे गाते हैं॥

(५)

कहिए कृपानाथ! किससे यह कष्ट कहें,
इसको मिटानेवाले मानव क्या कहीं हैं?
हैं, तो वे छिपे रहते, कहते स्वभेद नहीं,
कहते मनुष्य वे ही रहते जो यहीं हैं।
किन्तु विश्वास पूरा हमको इस बात का है
जहाँ आप रहेंगे हम भी बस वहीं हैं।
परदे को हटा करके देखो तो ज़रा हमें
हम और नहीं और आप और नहीं हैं॥

(६)

अपरंपार ! आपकी अपार गंभीर महा-
महिमामयी माया को जानता न ज्ञानी है।
आज तक किसी ने भी आपका न पाया पार,
हार करतार ने भी बार, बार मानी है।
लाखों ही उपाय किये, देव, मुनि, मानवों ने,
हारे, थके सारे, किन्तु लीला को न जानी है।
वाह ! वाह ! अभिराम-राम-श्याम-रमापते !
यहीं आके वाणी की भी थकी श्रेष्ठ वाणी है॥

(७)

होकर निष्काम आप, करते तमाम काम,
काम-जीत नाम धरा, कारण हो काम के।
समदर्शी रहे आप *तारा-नाथ मारा तो भी,
शत्रु, मित्र एक देख, मारण हो ‡वाम के।
होके पतित-पावन, तारक कुकर्मियों के,
निर्माता हुए तो भी, नरक से धाम के।
रोम में ब्रह्माण्ड कई रमते त्रिलोकी-नाथ !
तो भी आप गोप बने वृन्दावन ग्राम के॥

---

* सुग्रीव का भाई बालि-वानर। ‡ शत्रु।

(८)

निराकार होकर भी, बनते साकार आप,
विश्व-व्यापी विष्णु होके, अणु में समाते हो।
दृश्य हो सर्वत्र तो भी, रहते अदृश्य सदा,
लीलामय होकर के, लीलाहीन पाते हो।
कहला-अजन्मा, जन्म कई बार आप लेते,
रहते अदूर, तो भी दूर, दूर जाते हो।
पत्ता, पत्ता, पता नित्य आपका बताता हमें,
तो भी आप *ताप देने, लापता कहाते हो ॥

(६)

वामन-स्वरूप बना, त्रिविक्रम-धारी हुए,
जनार्दन‡ होके, जन आप अपनाते हो।
भीषण विराट-रूप करते अनूप कभी,
भस्मासुर हेतु, रूप मोहिनी सजाते हो।
गोपियों के प्रेम भरे भावों में लिप्त होकर—
निरंजन कहाते हो, अंजन लगाते हो।
वाहजी, त्रिलोकीनाथ! जान§ जीव-जान की भी,
जानकी को खोज, खोज, आप विलखाते हो॥

---

* वियोग का संताप अथवा योगियों की तपस्या का ताप देने को।
‡ मनुष्यों का भक्षण करनेवाले। § सबके घट की (जीव, जान की) जान कर भी।

(१०)

आपकी विचित्र-लीला, कैसी है अगम्य माया,
काया में बसे तो भी कोई नहीं जानता।
नास्तिक प्रलाप करे, माया को प्रधान कहे,
माया के विधाता को न वह पहचानता।
होकर सर्वज्ञ-स्वामी, महर्षि वशिष्ठ के भी,
शिष्योत्तम बनें यह आपकी महानता।
देख के दशा ऋषि के पूज्य-वर-सपूतों की—
गुरुओं को भूले आप मैं तो यह मानता॥

सत्ता-सौन्दर्य

जलमें, थलमें पल पल मिलता
निराकार ! आकार तुम्हारा।
वायु-तेजमें स्पर्श-रूप तुम
है नभमें विस्तार तुम्हारा ॥१॥

रोम-रोम में रमे हुए हो
सभी कहीं है धाम तुम्हारा।
कहा तुम्हारा नाम हो रहा
और कहीं बदनाम तुम्हारा ॥२॥

सभी चराचर खड़े हुए हैं
ले-लेकर आधार तुम्हारा।
फिर भी तुमको नहीं जानते
है अपार-व्यापार तुम्हारा ॥३॥

[illegible] तारों में [illegible]
है झिलमिल [illegible] तुम्हारा।
*सु-मयङ्क-मध्य में भी तो
है कलङ्क-आभास तुम्हारा ॥४॥

है अखण्ड-मार्तण्ड-ज्योति में
अति-तेजोमय रूप तुम्हारा।
अन्धकार में महा-तमोमय—
है सौन्दर्य अनूप तुम्हारा ॥५॥

देश-देश में कई रीति से
होता पूजन-पाठ तुम्हारा।
लोक-लोक में जमा हुआ है
ठाठबाठ से ठाठ तुम्हारा ॥६॥

कामदेव में, †कामवाममें
राम-श्याम में वास तुम्हारा।
मुनि-वर-मनु में, मानवतामें
है मानव में भास तुम्हारा ॥७॥

---

* सुन्दर चन्द्रमा में। † शिव।

*शाखामृग-हरि-†मृगपति-हरि भी
है अनूप-आकार तुम्हारा।
कामधेनु में, शिव-नन्दी में
है स्वरूप-आधार तुम्हारा ॥८॥

‖नागराज के आनन-गण से
आता है फुङ्कार तुम्हारा।
नागराज-अरि-गरुड़-वदन में
पाता है हुङ्कार तुम्हारा ॥९॥

स्वर्णशैल-हिमगिरि-नन्दन में
है सुरतरु में मूल तुम्हारा।
दल में, फल में, फूल-फूल में
रूप दीखता §फूल तुम्हारा ॥१०॥

वहाँ ले चलो आज हमें तुम
होय न दर्शन जहाँ तुम्हारा।
सभी कहीं पर दृश्य दीखता
यहाँ तुम्हारा, वहाँ तुम्हारा ॥११॥

---

* वानर। † सिंह। ‖ शेषनाग। § फूल कर।

क्या और कौन

क्या है शिशु के हाव-भाव में ?
तनुधारी-मुसकान कौन है ?
अज्ञानी बन कर भी करता—
जन-मन की पहचान कौन है ?

क्या है शाखामृग-क्रीडा में ?
चलता मार फलाँग कौन है ?
क्या है मृग की उछल-कूद में ?
भरता छैल-छलाँग कौन है ?

क्या है जल-कलकल-पलपल में ?
करता वहाँ विहार कौन है ?
किसे न पल, पल कल पड़ती है ?—
चञ्चलता-आधार कौन है ?

क्या है स्वाति-बिन्दु में ? उडता—
पी-पी की रट लगा कौन है ?
विरह-व्यथा-विधुरा में भरता—
विरह-वह्नि को जगा कौन है ?

क्या है कोकिल-कान्त-कूक में ?
देता मोद अतोल कौन है ?
अति-मीठे-अनमोल बोल से—
ले लेता मन मोल कौन है ?

क्या है पादप के फल, फल में ?
दलपर बनता *धूल कौन है ?
फूल, फूल में फूल, फूल कर—
कण्टक-शूल-त्रिशूल कौन है ?

डोल रहा क्या डाली, डाली ?
खिलता झूला झूल कौन है ?
क्या वन, वन में गहन बन रहा ?
वृक्ष-मूल का मूल कौन है ?

* पराग ।

क्या है गन्ध अमन्द, सुमन में ?
शुचि-सौन्दर्य-निधान कौन है ?
क्या प्रधान* है कुसुम-कली में ?
मधु-मकरन्द-विधान कौन है ?

क्या है अचल-कठिनतमता में ?
चञ्चल होकर अचल कौन है ?
क्या है नीचा, ऊँचा होकर ?
नहीं मचलता मचल कौन है ?

क्या है जलनिधि-चञ्चलता में ?
बहता उसमें धीर कौन है ?
अति-अतोल-कल्लोल-†लोल बन–
सागर में गम्भीर कौन है ?

छोटे से भी क्या छोटा है ?
बहुत बड़े से बड़ा कौन है ?
पड़ा हुआ क्या ‖पड़े हुए पर ?
§खड़े हुए पर खड़ा कौन है ?

---

* प्रकार। † चपल-तरङ्गे। ‖ दीन-दुखिया। § अपने पैरों पर खड़े होनेवाले धनी-मानियों के शीश पर भी परमात्मा ही हैं।

बड़े-बड़े से भी बढ़ने की
करता बढ़कर टेक कौन है ?
एक अनेक होकर रहता है ?
वही एक है, एक कौन है ?

मधुर-मुसकान

[१]

कौशल्या की गोदी में तुम करते थे अति-लोल-किलोल,
दशरथ-संमुख तुम मटकाते गोल, गोल, अनमोल कपोल,
*डावाँडोल हो सके तुमसे कूर्म, कोल, भूगोल, खगोल,
भर कर अपने बोल बनाते वेदों को तुमही अनमोल,

छोटे से छोटे हो तुम ही, हो महान से और महान,
हाथ जोड़ कर अब मैं तुमसे करता हूँ बस यही बखान—
आज मुसकराओ भारत में आकर फिर से कृपा-निधान !
फैलाओ, आओ अब इसमें अपनी मन्द-मधुर-मुसकान ॥

---

* कूर्म (कच्छपावतार) कोल (वराहावतार) अर्थात् जो सबका नाश कर सकते हैं।

[२]

चतुरानन, चतुरानन-तनया *अष्टानन-शंकर निष्काम,
गुणी-गजानन, बली-षडानन, काम-कामिनी, काम ललाम,
गणिका, गीध, अजामिल, शबरी, श्रीगौतम-नारी अभिराम,
ध्रुव से ध्यानी, शुक से ज्ञानी, बलि से दानी वैभव-धाम,

रावण से अभिमानी, मानी-वीर-बालि से बल की खान,
‡माता-सीता, सीता-माता और जनक से ज्ञान-निधान—
जिसके दर्शन कर के करते सदा निछावर अपने प्राण—
वह भारत का मान बढ़ावे राघव-मन्द-मधुर-मुसकान॥

[३]

नन्दगाँव, बरसाना, गोकुल, मथुरादिक शुचि सभी प्रदेश,
जिसे देख कर सदा-सर्वदा पाते थे आनन्द विशेष,
जिसके कारण कभी बढ़े थे महा-सुन्दरी-‖कृष्णा-केश,
जिसे निहार न मन में माते §मन्मथ-मुनिवर-उमा-महेश,

—देव, देवकी, नन्द, यशोदा जिसे समझते थे निज-प्राण,
जिसके आगे व्यर्थ दीखता ज्ञानी को निज-ज्ञान महान,
वृन्दावन-व्रज-गोप-गोपिका करतेथे बस जिसका ध्यान,
भारत लाज वही रक्खेगी माधव-मन्द-मधुर-मुसकान॥

* अष्टमूर्ति शिव। ‡ माता स्वरूपा श्रीसीताजी। ‖द्रौपदी। §कामदेव।

[४]

कृष्ण! नन्द-आनन्द ! यशोदानन्दन ! हे व्रज-गोकुल-चन्द !
आजाओ अब आप काटने जन्मभूमि के सारे फन्द।
मन्द, मन्द मुरली में गाकर गीता के वे अनुपम छन्द—
शत्रु-देशका द्वार बन्द कर, करो इसे अब वैभव-कन्द ॥

कंस-वंश-विध्वंश-कार तुम कहला कर। हे ! शक्ति-निधान !
क्यों न आज आकर खोतेहो *निशिचर-निकर-महा-अभिमान ?
या तो अरिका नाश करो तुम रूप दिखा कर भयद महान,
या भारत को मुक्त बना दो करके मन्द-मधुर-मुसकान ॥

[५]

महा-मृदुलता-मूर्त्ति, और जो सुन्दरता का पारावार,
पावनताका और कृपा का कहते हैं जिसको आगार,
जिससे सदा बहा करता है हर्ष, मोद आनन्द अपार,
जो है सुर-नर-मुनि-मन-मोहक, सकल-भुवन-गणका श्रृङ्गार,

‡निगमागम कहते हैं जिसको शक्ति-मुक्ति का जन्म-स्थान,
महिमामयी-महामाया का मन्दिर है जो छवि की खान,
जो है राम, श्याम के सुन्दर-अधर-पल्लवों का विज्ञान,—
भारत का कल्याण करे वह मोहन-मन्द-मधुर-मुसकान ॥

———

* राक्षस-समूह का महागर्व। ‡ वेद-पुराणादि।

माधव-महिमा

(१)

यादव-कुल-अवतंस, कंस-विध्वंस-विधायक।
महा-धीर-गम्भीर, वीर-ब्रजवासी-नायक॥
नेता परम प्रवीण, विजेता भीषण रण के।
कालियदमन कराल, काल तुम कालयवनके॥
गिरिधारी, गोपाल तुम, मङ्गलकारी, मुरलिधर।
भवभयहारी हो सदा, कुञ्जविहारी, क्लेश-हर॥

(२)

पृथ्वी में तुम गन्ध, नीर में रस कहलाते।
रूप तेज में, स्पर्श वायु में तुम बन जाते॥
शब्द व्योम में, ज्योति सूर्य में तुम हो, उज्ज्वल।
रोम-रोम में रमे हुए हो, होकर निश्चल॥
निराकार बनकर, प्रभो! तुम सबके आकार हो।
राधाप्राणाऽधार हो, सकल लोक-शृङ्गार हो॥

(३)

*जन-पालन के लिये काम-सर में बहते हो।
बह कर भी निष्काम सर्वदा तुम रहते हो॥
‡काम-प्रबल-बल सहित, चित्तचञ्चलता हरते।
हर कर भी सन्तुष्ट गोपियों को तुम करते॥
निर्लोभी हो, लोभ पर रखते हो भव-लोम का।
निर्मोही हो, मोह पर करते हो तुम प्रेम का॥

(४)

रोगी हो तुम, दिव्य राग|| के ही, अति-विह्वल।
भोगी हो तुम, भव्य-भावना के ही केवल॥
होकर मायातीत, दास हो तुम माया के।
रह काया से दूर, पास हो तुम काया के॥
काले होकर भी अहो! बने हुए तुम गौर हो।
चोरी§ करते हो नहीं, फिर भी माखन-चौर हो॥

(५)

विश्वम्भर! सर्वेश! सदा समदर्शी रह कर—
करते हो तुम ग्रहण पार्थका पक्ष निरन्तर॥

---

* भगवान् सदैव निज-भक्त-पालन की ही कामना किया करते हैं।
‡ कामदेव। || सत्य-अनुराग। § वस्तु को ग्रहण करना चोरी कैसे हो सकता है?

होकर योद्धा, वीर, सारथी तुम बन जाते।
तज के स्वय निषेध, हाथ में शस्त्र* उठाते॥
माया ममता-हीन बन, माया-ममताधान हो।
तुम्हीं, एक, लघु हो रहे, तुम्हीं अनेक, महान हो॥

(६)

लीला अपरम्पार, अनोखी सदा तुम्हारी।
उसकी बातें नहीं समझ में आतीं सारी॥
लीलामय-श्रीकृष्ण ! सुनो तुम विनय हमारी।
भोग रहे हम कष्ट, भयङ्कर भारी भारी॥
करुणाऽऽकर ! करुणा करो, हमें अभय वर दो प्रभो !
भारत गारत हो रहा, इसे शरण में लो प्रभो !

---

* महाभारत में निःशस्त्र रहने की प्रतिज्ञा कर के भी भगवान् श्रीकृष्ण ने भीष्म के सम्मुख रथ-चक्रायुध से कई बार प्रहार किया था।

(३)

छटपटाता देख भारत-मीन का,
विष्णु-जल* के है नहीं करुणा हिये।
नाम नारायण|| भला है आपका,
कुछ असर तो नाथ! रहना चाहिये॥

(४)

एक वे दिन थे तुम्हारे, याद हैं,
ग्राह से गज को छुड़ाया दौड़ कर।
आज ये दिन हैं समझ लो, देख लो,
आप बैठे हैं भला मुख मोड़ कर॥

(५)

ख़ूब रखवाली करो आकर प्रभो,
श्वेत-चिड़िया चुग रही इस खेत को।
नाश उसका देखते हो किस तरह,
आपने बोया भला जिस खेत को॥

(६)

पिट रहा है, कुट रहा प्रभु-देश अब,
सुन रहा है कान से कुवचन कड़े।
भोगते फिर भी भला भक्षक इसे,
जब कि राघव राम हैं रक्षक खड़े॥

---

* व्यापक और भगवान् || नारे जले अयन स्थानं यस्य सः नारायणः अर्थात् जल में है घर जिसका।

(७)

देख कर बस सारथी ही आपको,
थे कुटिल-कौरव ध्वजा से धूजते।
हा ! महाभारत न पांडव जीतते,
जो न वे पद-पद्म प्रभु के पूजते॥

(८)

प्राण रक्षक आप हैं जिसके भला,
आज उसके कष्ट में क्यों प्राण हैं?
और उसका त्राण* फिर भी हो नहीं,
जब कि प्रभु के हाथ में धनु-बाण हैं?

(९)

आप इसके पास जो रहते भला,
तो गला यों फाड यह रोता नहीं।
देह को ताती पवन लगती नहीं,
बाल भी बांका कभी होता नहीं॥

(१०)

चाँदनी सुख की जहाँ, हैं साथ सब,
दुख-अँधेरी में न उनका स्नेह है।
देख लो हो जाय छाया भी अलग,
जब अँधेरे में हमारी देह है॥

* रक्षा।

(११)

आप का था क़ौल* है क्या वस यही,
वृद्ध-भारत को विपत में छोड़ना।
और गीता में वचन देकर प्रभो!
आज रीता कर इसे मन मोड़ना॥

(१२)

हे! दयासागर! सुनो यह जा रहा,
दुःख-सागर में, न कोई साथ है।
खेद है सबको यही यह डूबता,
नाथ के जब हाथ इसकी नाथ है॥

(१३)

लूटते इसको लुटेरे रात-दिन,
यह भरोसा कर रहा जगदीश पर।
दुःख इतना ही हमें यह लुट रहा,
नाथ का जब हाथ इसके शीश पर॥

(१४)

डोलियाँ|| इसने बहा निज रक्त की,
है बिछादी शत्रु-संमुख झोलियाँ।
बोलियाँ मधु सी मधुर यह बोलता,
वे चलाते हैं तदपि यों गोलियाँ॥

---

* प्रतिज्ञा। || बोलचियाँ।

(१५)

नाथ ! हाहाकार इससे हो रहा,
शीघ्र ही साकार अब हो जाइए।
मधुर-मुरली को बजा कर प्रेम से,
एक-माला में हमें पो जाइए॥

(१६)

फूट की जलती हुई जो आग है,
भस्म उसमें एकता है हो गई।
भाइयों से लड़ रहे भाई भला,
बुद्धि उनकी द्वेष से है खो गई॥

(१७)

दीन इससे हो गया भारत भला,
पर न इसको हीन होने दीजिए।
तीन तेरह हो गए इसके तनय,
पर न उनको क्षीण होने दीजिए॥

(१८)

आप पर आशा लगा, यह रात-दिन,
एक प्रभु को ही सहायक मानता।
और कुछ आधार इसके है नहीं,
आपका ही बस सहारा जानता॥

(१९)

आपकी लीला अनोखी ही रहे,
वेद भी उसको न जानें, खेद है।
पोलिसी रहती अनूठी, आपकी,
वेव्ली* में भी छिपा कुछ भेद है॥

(२०)

जन्म-भू उद्धार करने की घड़ी,
आज भी स्वामिन्! नहीं जो आयगी।
तो न कुछ इसका विगड़ना है प्रभो!
लाज केवल आपही की जायगी॥

(२१)

क्या करें किससे कहें हम हाय! अब,
साथ तो मिलता नहीं है आपका।
याद कर लो विप्र हैं, गुरु हैं हमीं,
;क्यों न फिर भी भय भला है शाप का?

---

* ध्यान न देना।

विनीत-विनय

रमा-राम-पद-पद्म स्मरण सबसे पहले कर
मंजुल-मंगल माँग सकल विघ्नों का दल हर
करूँ विनय भगवान ! हमें क्यों बिसराते हो ?
इस भारत से भला दूर यों क्यों जाते हो ?
कहो आपही क्या करें मिलजुल कर हम आज सब।
किसके पीछे हम सजें ऐक्यभाव के साज अब ॥१॥

मुखिया जो थे उन्हें काल ने नष्ट कर दिया ?
और हमारा सकल बाहुबल भ्रष्ट कर दिया ?
बिना आपके कौन बचा सकता था हमको ?
उत्तम-पथ पर कौन जचा सकता था हमको ?
"भालतिलक" को भी नहीं रहने दिया ललाट पर।
सुख-नौका कैसे बहे दुर्गति-नद के घाट पर ॥२॥

हरे ! आपकी जन्मभूमि यह भारत ही है ।
क्रीडन-स्थल भी प्रभो ! आपका *श्रीहत ही है ।
अश्वमेध-यज्ञादि आपने किये यहाँ ही ।
हमको सुख, वरदान आपने दिये यहाँ ही ।
पर अब हमको दूर से क्यों छिटकाते यों भला !
हमें भस्म क्यों कर रहे विरहवह्नि से यों जला ॥३॥

सुनते हैं हम "राम सहायक दुख में होते ।
लेकर के अवतार विपत-दल पल में खोते ।"
किन्तु नियम-विपरीत बात हम अब पाते हैं ।
कृपा-दृष्टि की वृष्टि-विमुख ही सब पाते हैं ।
इसमें प्रभु का तो नहीं दोष दृष्टि आता ज़रा ।
पर सारा अपराध है केवल हममें ही भरा ॥४॥

राघव ! हम हैं कुटिल, आलसी सब मर्मों में ।
रहते हैं अनभिज्ञ नीति के सब मर्मों में ।
हमने प्रभु-गुण-गान-ध्यान अब छोड़ दिया है ।
निगमागम से और स्वमन को मोड़ लिया है ।
खेल-कूद में पुत्र जो विसरादे निज-मात को ।
तो क्या माता भी प्रभो ! दूध न प्याती तात को ?॥५॥

* शोभाहीन भारत ।

हम हैं पुत्र समान आप हैं माता सब की।
पा देते जो दूध विपत मिट जाती कब की।
की हमने शिशु-रीति तुम्हें बिसराते हम सब।
तो माता की प्रकृति आप भी क्यों तजते अब ?
सुध लो अब तो शीघ्रही दो स्वराज-पय पा हमें।
ऐक्य-*सिता को घोलकर स्वामिन्! देदो ला हमें ॥६॥

प्रभु का कपि-समुदाय बना भारत का रक्षक।
किन्तु बन रहा वही आज भारत का भक्षक॥
नष्ट कर रहा वही हमारे तन को धन को।
क्या लगती है देर बदलते बन्दर-मन को॥
कपि, शुक, सर्पों का कभी भूल करो विश्वास मत।
है प्रसिद्ध वानर-प्रकृति, इसमें नर होवे न रत ॥७॥

हे रघुवर! घनश्याम! पालना करो हमारी।
तुम हो दीनानाथ विपत अब हरो हमारी।
ज्ञान-शक्ति-बल-भक्ति प्रभो! अब देदो हम को।
मात-पिता हो आप गोद में लेलो हमको।
चाह रहे हैं यह नहीं कपि-अरि ही जल जायँ अब।
पर, जो अनुचित कर रहे बस वेही गल जायँ सब ॥८॥

---

* एकता की शक्कर (खांड)

श्री-स्तुति

कष्ट-निवारिणि ! दुष्ट-विदारिणि !
महालक्ष्मि ! है तुझे प्रणाम।
इस आरत-भारत को कर दे
तू फिर से वैभव-धन-धाम।

हे दारिद्र्य-दुःख-क्षय-कारिणि !
हे अघ-हारिणि ! जग-माता !
तेरा आदि-ललित-लीलालय
जो भारत है कहलाता।

प्रेम-भक्ति-पूर्वक जो पल-पल
है तेरे गुण-गण गाता;
यह दरिद्रता-सागर में क्यों
आज ख़ूब गोते खाता ?

राम, राम, उसको मिलता है
नहीं नाम को भी आराम !
कष्ट-निवारिणि ! दुष्ट-विदारिणि !
महालक्ष्मि ! है तुझे प्रणाम ॥१॥

छवि-मधु-धारिणि* ! हे मधु-मारिणि|| !
क्यों इससे मुख मोड़ लिया ?
छोड़ दिया क्यों उसको, जिस पर
तूने बहुत विहार किया ?

सीता और राधिका होकर
तूने गौरव जिसे दिया ;
आज उसे हा भूल गई तू,
कैसा है तव कठिन हिया ?

इसके वाम§ भोगते तुझको
होकर अब पूरे निष्काम ;
कष्ट-निवारिणि ! दुष्ट-विदारिणि !
महालक्ष्मि ! है तुझे प्रणाम ॥२॥

---

* लक्षणा से, सौंदर्य माधुरी को धारण करनेवाली। || एक राक्षस का नाम। § शत्रु।

जन-उद्धारिणि ! हे भव-तारिणि !
हे चपला ! अमला-कमला !
अपनी जन्मभूमि पर आकर
अब तो तू हो जा अचला।

दुःख, दर्द, दारिद्र्य, दासता—
इनका आ तू दबा गला;
हे जगदंब ! विलंब न कर तू
दे इसको अवलंब भला*।

पद्मा ! ‖पद्मालया ! प्रेम से
जपता है यह तेरा नाम;
कष्ट-निवारिणि ! दुष्ट-निवारिणि !
महालक्ष्मि ! है तुझे प्रणाम ॥३॥

स्ववश-विहारिणि ! यश-विस्तारिणि
महिमामयी ! महामाया !
हे मायाविनि ! मोदविधायिनि !
हे वरदायिनि ! हरिजाया !

* उत्तम, अच्छा। ‖ लक्ष्मी।

तेज-प्रकाश सदा रखतो है
तेरी अद्भुत पद-छाया ;
तव माया का मर्म किसीने
नहीं आज तक है पाया ।

हे श्री ! भर दे भव्य-भूति से
भारत के भाण्डार ललाम ;
कष्ट-निवारिणि ! दुष्ट-विदारिणि !
महालक्ष्मि ! है तुझे प्रणाम ॥४॥

लक्ष्मी-लीला

(१)

कौन आ सकता महामाया ! नहीं—
आपकी अत्यन्त टेढ़ी चाल में ?
जब कि माया-नाथ भी हैं बँध गये—
आपके दृढ़-मञ्जु-माया-जाल में ॥

(२)

मान ली है हार, हे ! श्री ! आप से—
पञ्च*-सायक-काम ने, स्मर-वाम ने।
शक्ति-नायक भी नवाते शीश हैं—
आपकी ही शक्ति के बस सामने ॥

---

* पाँच बाणों वाले कामदेव ने और (स्मर) कामशत्रु-शिवजी ने।

(३)

*मद्य-मादकता ग्रहण कर आपने—
वन्धु-विष से विषमता भी ली भला।
चञ्चलाहट ले तरंगों से महा,
क्यों बनी हैं आप ऐसी चञ्चला?

(४)

‖विप्र-पद का चिह्न रखते वक्ष पर—
विष्णु तुमको अचल करने के लिये।
क्योंकि स्थिरता प्राप्त करती आप है—
एक§ ब्राह्मण-चरण के दर्शन किये॥

(५)

आपकी लीला-मयी! लीला भला—
है अनोखी और चोखी सर्वदा।
आप जो आती नहीं तो धनद की,
§धनद-पति की दीनता थी सम्पदा॥

---

* विष और वारुणी भी लक्ष्मी के साथ ही समुद्र से निकले थे ‖ भृगुजी। § विप्रों को लक्ष्मी का दान करना लक्ष्मी को स्थिर करता है। § कुवेर के स्वामी श्रीनारायण।

(६)

प्रलय पीछे वृष्टि करती आप हैं—
　प्राणियों पर निज-अनुग्रह दृष्टि की।
रूप ब्रह्मा का बना कर आप ही—
　सृष्टि करती हैं चराऽचर-सृष्टि की॥

(७)

आपको आता नहीं है देह में—
　एक केवल जीव का ही डालना,
किन्तु धारण रूप कर के विष्णु का—
　आप करती हैं सभी की पालना॥

(८)

बैठती हैं चुप नहीं उत्पत्ति कर—
　और पालन कर सभी संसार का।
आप ही बीड़ा उठाती हैं भला—
　रुद्र-हर होकर सकल-संहार का॥

(९)

जब सताते हैं सुरों को असुर तब—
　आप होती हैं निशाचर-हारिणी।
इसलिए कहते सभी हैं आपको—
　*मार-गुरु-विधि-मार-हर-मद - मारिणी॥

* कामके पिता विष्णु, ब्रह्मा और काम-शत्रु शिवजी।

(१०)

दासियाँ बन आपकी रहतीं सदा—
सिद्धियाँ भी शक्तियाँ भी पास हैं।
और सब, आदेश पाने के लिये—
आपके मानव-सुराऽसुर दास हैं॥

(११)

कौन चाहेगा नहीं संसार में—
आपकी ऐसी कृपा की कोर को?
जो बना दे दीन को भी इन्द्र सम—
मेट उसके दीनता-दुख, घोर को॥

(१२)

क्यों न रखती आप आपे में उन्हें—
आपके हैं अति कृपा के पात्र जो?
विष्णु को क्यों भूल जाते वे भला—
याद करके एक *लक्ष्मी-मात्र को?

(१३)

आपके क्यों भक्त भरते पाप के—
पुञ्ज से हैं नित्य अपनी नाव को?
क्यों बढ़ाते भारती|| से वे भला—
हैं भयङ्कर-शत्रुता के भाव को?

---

* धन। || सरस्वती में और लक्ष्मी में वैर है।

(१४)

देखती हैं क्यों न उसके रूप को—
जाति, विद्या और कुल को आप तब
ज्ञान-लोचन-हीन-जन-सम आप बन—
डालती नर पर कृपा की दृष्टि जब ?

(१५)

आप करती हैं अनुग्रह क्यों नहीं—
धीरपर, वर-वीरपर, विद्वान पर ?
क्यों दिखाती हैं दया अपनी महा—
आप सहसा मूढताकी* खानपर ?

(१६)

दानियों को छोड़ करके आपका—
कृपण-जनके पास में क्यों वास है ?
योग्य जो हैं दास उनका इस तरह—
आपसे क्यों हो रहा उपहास है ?

(१७)

चन्द्र को भी मात क्यों करती कहो—
आपके अस्थिर-अनुग्रह की कला ?
आज इसपर और कल उसपर गिरी—
खेल वह क्यों खेलती है यों भला ?

* लक्ष्मी मूर्ख के पास भी चली जाती है।

(१८)

आप राजाको बनाती रङ्क हैं—
और करतीं आप राजा रङ्कको ?
रो रहा निज अङ्क को कोई कहीं—
सो रहा कोई लुटाकर लङ्कको ?

(१९)

कोपकर, जनसे स्वमनको मोड़कर—
भाग्य उसका आप क्यों हैं फोड़तीं ?
सन्त से संबन्ध अपना तोड़कर—
प्रीति परसे आप क्यों हैं जोड़तीं ?

(२०)

आपका क्या ध्येय, क्या व्यवहार है—
यह किसीके ध्यान में आता नहीं ?
आप* माता हैं कहीं, जाता कहीं—
हे ! महामाया ! बनी जाया कहीं ?

---

*श्री तीन तरह की होकर आती है। माता होकर आने से कृपण इसकी सेवा करता है। (जाता) पुत्री, दूसरे के लिए, और (जाया) भोगने के लिए।

(२१)

दो* जातीं दूर, या आती कहीं—
आप हैं क्यों दान में, उपकार में ?
और क्या आनन्द लेती हैं भला—
बन्द होकर आप कारागार में ?

(२२)

आपको अपनी समझता जो सदा—
आप खो देतीं उसीकी सम्पदा ?
सम्पदा को मानता जो आपदा-
आप उसके साथ रहतीं सर्वदा ?

(२३)

आप जो आती नहीं करके कृपा—
बन्द होता काम सब संसार का ?
काम भी होता न, होती काम|| भी—
मंन्द होता स्रोत जग-व्यापारका ?

(२४)

कीजिये हे ! जगज्जननी ! आप अब—
निज-निरन्तर-वास भारतवर्ष में ?
दीजिए स्वाधीनताकी सिद्धि भी—
और इसकी वृद्धि भी उत्कर्ष में ?

---

*तीन गति—दान, भोग और नाश। ||कामदेव, लक्ष्मी पुत्र

लक्ष्मी-लाञ्छन

(१)

महिमामयी! महामाया! है तेरा अति-अद्भुत व्यापार।
तेरी माया के आगे ही मायानाथ मानते हार।
हे! कमला! तुझ जैसी चपला जगत बीच तू ही है एक।
चपला से बन अधिक द्युतिमयी रखती है तू तम-अविवेक॥

(२)

ध्यानी, ज्ञानी, दानी से भी नहीं जोड़ती तू सम्बन्ध।
पर पसन्द आते हैं तुझको लूले, लँगड़े, बहरे, अन्ध।
पूर्ण-स्वस्थता, सुन्दरता से रखकर भी तू शुभ-संयोग—
बनी हुई है महा कुरूपा अस्थिरता का लेकर रोग॥

(३)

पतिव्रता होकर तू आती कई वित्त-पतियों के पास।
उनके वश में कभी न आती, किन्तु बनाती उनको दास।
करती है विश्वासघात तू हरती है औरों का धर्म।
हे! श्री! तेरी क्या शोभा है करने में ये कुत्सित-कर्म॥

(४)

तुझे प्राप्त करने को देवी! होते हैं संग्राम महान।
लड़ते हैं कुलीन भी करने अपने जीवन का अवसान।
विजयी तुमको कर देते हैं निधियों में, दुर्गों में बन्द।
फिर भी तू चल ही देती है चारु-चाल चल करके मन्द।

(५)

तेरे कृपा-पात्र पाते हैं मद-मदिरा में पूरे मस्त।
बड़े लोभ में फँस जाते वे, रहते हैं चोरों से त्रस्त।
फैला देती है तू उन पर महा-मोह-माया का जाल।
और बना देती है नास्तिक करके उनको मालामाल॥

(६)

आँखों वाले होकर भी वे कहलाते हैं लोचन-हीन।
दृष्टि बनी रहती है उनकी स्वार्थ-पूर्ति में महा-प्रवीण।
धारण कर वे, सुननेवाले बड़े बड़े कानों का भार—
कभी नहीं सुनते हैं उनसे दीनों की दयनीय पुकार॥

(७)

कमला ! किन्तु चली जाती तू ऐसे भक्तों को भी छोड़ ।
धोखा ही देती तू सबको पल में अपने मन को मोड़ ।
हे ! लक्ष्मी ! हे ! अघाचारिणी ! करती है तू ऐसे काम ।
*आशीविष-विष-विषम-सदृश ही विषधारी है तेरा नाम ॥

(८)

तुझ जैसी विश्वासघातिनी त्रिभुवन बीच नहीं है और ।
तुझ जैसी निर्लज्जा भी तो मिलती है न किसी भी ठौर ।
स्वीय-पिता की छाती पर ही सोती है तू पति के साथ !!
हे ! माया ! तेरी माया से हमें छुड़ावें मायानाथ !!

* सर्प के भयङ्कर विष के समान ।

भव्य-भारती

(१)

क्यों रखती है महा-वैर तू—
लक्ष्मी से सब काल भारती!
क्यों तू टेढ़ी चाल चल रही—
होकर अति वाचाल भारती!

(२)

क्यों न किया है तूने मन में—
वृद्ध पिता का ध्यान भारती!
किस कारण से तोड़ी तूने—
कन्या-कुल की कान भारती!

(३)

क्यों न भक्त-वर* भगिनी बनकर—

तू रखती हरि-भक्ति भारती!

क्यों स्रष्टा-विधि-सुते! न तुझमें—

सृष्टि-सृष्टि|| की शक्ति भारती!

(४)

जो प्रभाव तन-मन पर डाले—

दे दे ऐसी गिरा भारती!

इस असार-संसार-सिन्धु से—

तू अब हमको तिरा भारती!

(५)

जो साहित्य-सुधा-सर का ही—

करे सर्वदा पान भारती!

दे दे ऐसी वृत्ति चित्त को—

कर हमको धीमान् भारती!

(६)

हम लक्ष्मी के दास नहीं हैं—

फिर क्यों यह उपहास भारती!

बिना दाम के हम गुलाम बन—

रहते तेरे पास भारती!

---

* नारद-मुनि। || संसार-सृजन-सामर्थ्य।

(७)

है दरिद्रता-दुःख नहीं कुछ—
किन्तु यही है दाह भारती !
लक्ष्मीवालों को क्यों मिलती ?—
वाह, वाह है वाह भारती !

(८)

हम सारे यों विललाते हैं—
होकर तेरे भक्त भारती !
आज हँसी के योग्य हो रहे—
हो तुझमें अनुरक्त भारती !

(९)

विद्या-बुद्धि-हीन बन पाते—
महामान, धनवान भारती !
पढ़े-लिखों की—हाय, हमारी—
बिगड़ रही यों शान भारती !

(१०)

तेरा आश्रय लेनेवाले—
भारत का यह हाल भारती !
हाथ हथकड़ी, पैरों बेड़ी और—
दासता-जाल भारती !

(११)

"पुण्यभूमि"|| की ओर देख तू—
जहाँ वह रही आज भारती§!
वहाँ आरती होती थी की—
सजा-सजाकर साज भारती!

(१२)

विद्या-बल देकर, तू कर फिर—
भारत का कल्याण भारती!
सुयश और सम्मान बढ़ाकर—
तू कर इसका त्राण भारती!

|| आर्यावर्तः पुण्यभूमिः— इत्यमरः । § सरस्वती नदी ।

वाम-विधाता

(१)

पद्मनाल से जन्म प्राप्त कर
तूने क्या-क्या किया विधाता!
पद्मनाभ* को सबसे पहले
तूने ही दुख दिया विधाता!

(२)

कामवाम|| से वामदेव ने
मानी तुझसे हार विधाता!
राम-श्याम को भी तो तेरा
नहीं मिला है पार विधाता!

---

*विष्णु भगवान। || महादेव।

(३)

तू करता है टेढ़े-मेढ़े
उलटे-सुलटे काम विधाता!
नाम कमाना क्या अच्छा है
होकर यों बदनाम विधाता!

(४)

निज कर-विरचित काम-रूप को
कर न सका जब सहन विधाता!
मदन-कदन* द्वारा तब तूने
किया मदन का दहन विधाता!

(५)

राजतिलक का पूरा-पूरा
देकर दृढ़ विश्वास विधाता!
दिया महाअभिराम-राम को
तूने कानन-वास विधाता!

(६)

दिव्य-प्रेम के स्वस्थ-भाव का
तूने कर संयोग विधाता!
लगा दिया घनश्याम-श्याम के
प्रिय-वियोग का रोग विधाता!

* शंकर।

(७)

चारु, चतुर, चतुरानन होकर
तू करता है भूल विधाता!
वेदविज्ञ होकर तू रहता
पंडित के प्रतिकूल विधाता!

(८)

नहीं किसी पर भी जाता है
तेरा ख़ाली वार विधाता!
किया स्वपुत्री वाणी* पर भी
तूने अत्याचार विधाता!

(९)

काम नहीं पूरा होता तब,
तू जब होता वाम विधाता!
तू अवाम रहता है जिसका,
पुजता उसका नाम विधाता!

(१०)

तेरी लीला, तेरी माया
है बस अपरम्पार विधाता!
उसको, तुझको नमस्कार हम
करते बारम्बार विधाता!

*शास्त्र में लिखा है कि ब्रह्मा ने सरस्वती पर बलात्कार किया था।

(११)

छीन लिया आदर्श देश* का
तूने ही सुख-हर्ष विधाता!
पर आशा है, तू अब देगा
उसको अति उत्कर्ष विधाता!

(१२)

बारंबार बखानें तेरी
हम क्या-क्या करतूत विधाता!
तू-जैसा कपूत तू ही है
परम पिता का पूत विधाता!

*भारतवर्ष।

चतुरानन की चतुराई

मनहर कवित्त

(१)

स्रष्टा* ! तेरी सृष्टि बीच नीच मक्खीचूस पास,
आता है बहुत वित्त, दानी दुःख पाता है।
झूठा जन जीत जाता नाम भी कमाता अच्छा,
सच्चा ही वेचारा लातें वार-वार खाता है।
पण्डित बहाता आँसू, द्वार-द्वार गुण गाता,
मदमाता महामूढ मौजें ही उड़ाता है।
वाह ! वाह ! *धाता ! तुझे आता है न जाता कुछ,
तोभी तू विधाता बना कैसे कहलाता है॥

---

*सृष्टि को सिरजनेवाला ब्रह्मा ।

(२)

चतुर-चकोर पक्षी रजनी में रोता फिरे,
*रजनी-पति-प्रेमी बन अंगारे बूकता।
खाते हैं ‡शैवाल हंस खग-‖अवतंस बन
काला हुआ कोकिल भी कूहू कूहू कूकता।
वाणी का वाहन और §षडानन वाहन जो—
ऐसा भी मयूर देख चरणों को सूकता।
गजानन चूकें, चूकें Տ एकानन, खेद नहीं
चतुरानन होकर भी कैसे तू चूकता॥

(३)

केवड़ा, गुलाव और केतकी के काँटे किए
दिए फल ईख को न, कैसी सृष्टि ढाली है।
सोने में सुगंध नहीं, रूप रंग अंग में है
गंधवाली कस्तूरी को करता तू काली है।
रङ्ग-मकरंद-युक्त-किंशुक में गंध नहीं,
गंध-गेह-चन्दन क्यों सुमनों से खाली है?
¶पद्मा-पति-पुत्र होकर पद्मों को दुःख देता,
पद्म-जात! पद्मासन! कैसा तू कुचाली है!!

---

*रात्रि का स्वामी चन्द्रमा। ‡ जल पर हरी-हरी सिंवाल। ‖ गहना, श्रेष्ठ। § छै मुख वाले स्वामिकार्तिक। Տ एक मुख वाले मनुजादि जीव.... । ¶ लक्ष्मी के स्वामी विष्णु।

(४)

कीड़े, मकोड़े करता वर्षा बीच व्यर्थ पैदा,
रँग रँग के साँचे में उनको क्यों ढाला है?
गरमी में रात-दिन चलाता गरम हवा,
सरदी में डालता तू ओले और पाला है।
धातुओं को, रत्नों को भी खानों में छुपाता सदा,
मुक्ता*-पिता-सागर को खारा कर डाला है।
धन्य, धन्य बूढे ब्रह्मा सृष्टि के सिरजने में,
तूने निकाला अपनी बुद्धि का दिवाला है॥

(५)

क्षमा कर पितामह‡! मुझसा अजान शिशु,
तेरी महान् महिमा कैसे पहचानता?
दोषों को बतानेवाला मुझे क्यों बनाता तू है,
ऐसी मति देने में मैं तेरा दोष मानता।
या तो कर श्रेष्ठ मुझे या तू निज-दोष मान,
तोतली ज़बान पर तू क्यों कोप ठानता?
देदे विद्या-बुद्धि मुझे जिससे यों कहूँ मैं न,
या तू कर मुझे यों ही कविता बखानता॥

* मोती को पैदा करनेवाला। ‡ ब्रह्मा

मेरा मत

(१)

प्रभो ! बहुत से मानव मुझको आस्तिक नहीं बताते हैं—
और स्वयं वे नास्तिकता के पूरे पद को पाते हैं।
सदा असत्य बोलना ही तो उनके मन को भाता है—
और आपका भेद न उनको कभी समझ में आता है॥

(२)

प्रतिमा में ही सदा आपको विद्यमान वे मान रहे।
उसकी सेवा-पूजा को ही प्रभु का पूजन जान रहे।
आप नहीं भाते हैं, उनको मूर्त्तिमात्र ही भाती है—
और आपकी सुन्दर-सत्ता नहीं ध्यान में आती है॥

(३)

कई सम्प्रदाओं में फँस कर अपनी हँसी कराते वे।
मूढ़-भक्तजन-गण के धन से निज-भाण्डार भराते वे।
द्वेषभाव की आग लगा कर उसमे वे सब जलते हैं।
निन्द्य मार्ग में चलते हैं, अघपूर्ण फूलते फलते हैं॥

(४)

नाना-नाम-रूप के जग में रखते हैं वे इष्ट कई।
प्रेम-भक्ति की कई प्रथाएं निर्मित करते नई-नई।
कारों के सम रट पीरों को उनके गुण-गण गाते हैं।
पैगम्बर को, सैयद को भी वे निज-शीश नवाते हैं॥

(५)

उनका कोई ध्येय नहीं है, कोई नहीं धर्म उनका।
अपने को उत्तम कहना ही कुत्सित एक कर्म उनका।
भक्त-शिरोमणि कहला कर वे प्रेम-सिन्धु में बहते हैं।
बतलाते नास्तिक औरों को, निज को आस्तिक कहते हैं॥

(६)

हे भगवन्! हे अन्तर्यामी! आप सभी में रहते हैं।
हे अविनाशी! सभी आपको घट-घटवासी कहते हैं।
जल, थल, अनल, अनिल, नभ में भी आप सर्वदा पाते हैं।
सब लोकों में, चराचरों में निज-छवि को दर्साते हैं।

(७)

ऐसी कोई वस्तु नहीं है बसते जिसमें आप नहीं।
ऐसी कोई कान्ति नहीं है जिस पर प्रभु की छाप नहीं।
ऐसा कोई स्थान नही है जहाँ आपका वास नहीं।
ऐसा कोई काल नहीं है हो जिसके प्रभु पास नहीं॥

(८)

दलमें, फलमें आप फले हैं फूल-फूल में फूल रहे।
हे वनमाली! आप झूम कर डाली-डाली झूल रहे
स्थूल-रूप बन आप देह के रोम-रोम में रमे हुए।
सूक्ष्मरूप बन आप सभी के जीव-जीव में जमे हुए॥

(९)

शत-ब्रह्माण्ड-निकायों को भी रखती है जिनकी काया—
सभी कही फैली छाया सी जिन मायामय की माया—
ऐसे आप हृद्-मन्दिर में कैसे नाथ! समावेंगे?
प्रस्तर-प्रतिमाओं में कैसे पूर्ण-रूप से आवेंगे?

(१०)

निराकार! यों नहीं मूर्ति का तिरस्कार मैं करता हूँ।
वारंवार प्रेम से उसको नमस्कार मैं करता हूँ।
किन्तु उसे मैं नहीं कहूँगा तू ही मेरा ईश्वर है।
तू ही फल-दाता है, तू ही सदा सत्य-शिव-सुन्दर है॥

(११)

नीची श्रेणी का यह साधन।अधिक नहीं हित-कर होता।
स्वामी-शरणागत करने में समय बहुत सा यह खोता।
तब इसको करना न चाहिए पूरी करने इच्छाएं—
चलती* फिरती जब कि कई हैं प्रभु की पावन-प्रतिमाएं‡।

(१२)

पक्का मैं न सनातनधर्मी, नहीं समाजा हूँ नामी—
ईसाई मैं कभी नहीं हूँ और नहीं हूं इस्लामी।
सब धर्मों के सही तत्व को सदा सर्वदा मानूंगा—
और आपको ही मैं ईश्वर ! ईश्वर करके जानूंगा॥

(१३)

पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र को मैं आदर्श मानता हूँ।
वे ही मेरे पथ-प्रदर्शक, उनको एक जानता हूँ।
वे भी बन अवतार आपके नित्य आपको रटते हैं।
दोनों को भजने से मेरे दिन सुख से ही कटते हैं॥

(१४)

व्यर्थ "रामलीला" में उनका देख-देख उपहास महा—
दु:खित हुए बिना भी भगवन् ! मुझसे जाता नहीं रहा।
उनकी ये छोटी प्रतिमाएं दिखलाई जो देती हैं।
वे नौका को भवसागर से कहिए कैसे खेती हैं

* जीवधारी। ‡ निगमागम कथित लक्षणों से युक्त देवताओं के चित्रों का ध्यान करना विशेष लाभ प्रद है।

(१५)

जो शिक्षा है रामायण में उसको केवल पढ़ करके—
कौन स्वर्ग को जा सकता है व्योमयान में चढ़ करके।
इसी तरह प्रतिमा के केवल पूजन से भी क्या होगा ?
विना भक्ति के, विना ज्ञान के समय नष्ट सारा होगा ?

(१६)

उनके मन्दिर में भी होते काम-काज कैसे-कैसे !!
अत्याचार वहाँ होते हैं सुने न देखे हैं जैसे।
महा-घृणित-व्यभिचार वहाँ पर चोड़े-धाड़े होता है।
देवालय को लख पापालय मेरा मानस रोता है॥

(१७)

वहाँ सैकड़ों दुष्ट, लुटेरे, लम्पट मौज उड़ाते हैं।
महाप्रसाद मुफ्त खाते हैं, कभी न मुँह की खाते हैं!!
प्रायः सभी वहाँ पर जो जन दर्शन करने आते हैं—
वे तो अपनी सुन्दरियों से केवल मिलने जाते हैं॥

(१८)

वहाँ शिकार महन्त खेलते राम-नाम की रख टट्टी।
धर्म-कर्म-हित उनके रहती आँखों के आगे पट्टी।
ऐसेही मानव इस जग में सच्चे आस्तिक कहलाते।
परम-भक्त भी हो जाते वे और परम-पद भी पाते॥

(१६)

पुरी, अयोध्या, पुष्कर, गोकुल, मथुरा, वृन्दावन, काशी,
हरिद्वार, रामेश्वर आदिक तीर्थ स्थानों के वासी—
दो प्रतिशत सज्जन होते हैं, शेष सभी दुष्टाचारी।
हे असुरारी! हैं वे कैसे आस्तिकता के अधिकारी?

(२०)

कई सम्प्रदायों के गुरुजन-मठाधीश होकर कामी—
बदनामी को भोग रहे हैं गोस्वामी नामी-नामी।
पण्डे, सन्त, महन्त अनेकों झूठे त्यागी, संन्यासी—
महापातकी ही पाते हैं होकर प्रतिमा-विश्वासी॥

(२१)

देवदासियाँ और गोपियाँ रखते कई कुपथगामी—
अति-व्यभिचारी, अत्याचारी बड़े-बड़े मन्दिर-स्वामी।
वे गुलछर्रे सदा उड़ाते होकर महा-धनी-मानी—
भोले-भाले भक्त जनों के जन-धन के बन आदानी॥

(२२)

जो श्रद्धा-विश्वास न करते ऐसे कई महज्जन भी—
लोकलाज के कारण इनमें क्यों फँसते बुध, सज्जन भी?
कभी विरोध नहीं मैं रखता सच्चे ईश्वर-प्रेमी से,
त्यागी, योगी, वैरागी से नेमी, जग के क्षेमी से॥

(२३)

जो आध्यात्मिक उन्नति करता मेरा आदरणीय वही।
ढोंगी ही बस निन्दनीय है, पदवी में वह बड़ा सही।
किसे बताऊँ साधु, सत्य-गुरु लाखों ही आते-जाते।
*युगल-पुराण-लिखित कुछ लक्षण नहीं किसी में भी पाते॥

(२४)

स्वयं कष्ट सह, जो पादप-सम हैं जड़ जङ्गम-उपकारी—
ऐसे साधु बहुत ही विरले, समदर्शी वर-व्रतधारी।
विश्व-बन्धु-भिक्षुक-संन्यासी आज कहाँ पर पाते है—
जो गृहस्थ को सुख देने ही भिक्षा लेने जाते हैं॥

(२५)

मुझ से देखी, सुनी गई है कई महन्तों की लीला।
जिनके मुख का रङ्ग स्वयं ही कह देता पीला-पीला।
ऐसों को भी आप दिलाते जो निज-दर्शन-दृढ़-आशा—
तो मैं प्रभो! नहीं रखता हूँ उसकी भी कुछ अभिलाषा॥

(२६)

हे भगवन्! मैं कहूँ कहाँ तक देव-मन्दिरों की बातें—
जो घाते हैं, नित्य विताने पातकमयी वहाँ रातें।
भारत का कितना धन इनसे सर्वनाश में मिलता है।
जिसे देख कर बुद्धिमान का हृदय आपही हिलता है॥

---

*विष्णु पुराण के ३ अ० ९ ख० में भिक्षुकों के कर्मों का वर्णन है और गरुड़ पुराण में साधुओं के लक्षण लिखे हुए हैं।

(२७)

तिलक लगाने से ही मनसे काम-क्रोध जो हट जावें,
माला जपने से ही कष्टद जो सब कल्मष कट जावें,
तो क्यों ज्ञानी ज्ञानानल से षड्-रिपु-मारण करते हैं।
दोष-निवारण करते अपने व्रत को धारण करते हैं॥

(२८)

आँखें मूँद ध्यान करने से होजावें जो सब ज्ञानी—
तो भव-सागर तिर जावेंगे श्वेत-रङ्ग के बक ध्यानी।
मोक्ष प्राप्त करलें जो मानव डूब-डूब गङ्गा-जल में—
तो विमुक्त सब होजावेंगे मीन-मकर-कच्छप पल में॥

(२९)

भुक्ति त्याग से पैदा होगी मानस में अनुरक्ति सदा।
ज्ञान-शुक्ति में ही जन्मेगी मुक्तारूपी मुक्ति सदा।
इन ढोंगों से, इन रोगों से क्या हो सकता लाभ कहीं?
चित्त-शुद्धि के विना न जग में होगा कुछ भी कभी नहीं॥

(३०)

कहलाता धन-धान्य निरर्थक सच्चे सात्विक दान विना।
हो जावेगा व्यर्थ दान भी दया-सत्य-सम्मान विना।
मन्दिर में क्या देखें, होंगे कभी न दर्शन ध्यान विना।
चरणामृत से तृषा मिटेगी मुक्ति न होगी ज्ञान विना॥

(३१)

नास्तिक से भी बहुत बुरे हैं कोरे आस्तिकताधारी।
मूर्त्ति पूजना ही आस्तिकता, बड़ी भूल है यह भारी।
ध्यान व्यर्थ है रूप-ज्ञान-हत और धारणा-शक्ति बिना।
केवल समय नष्ट करना है प्रतिमा-पूजन भक्ति बिना॥

(३२)

हे भगवन्! जिनके मानस मे भक्ति-पद्मिनी खिल जाती—
उनको तो फिर बिना मूर्त्ति के प्रभु की झाँकी मिल जाती।
अज्ञानी-हित मूर्त्ति-प्रेम का मैं भी मण्डन करता हूं,
पर प्रतिमा-पूजक ही आस्तिक इसका खण्डन करता हूँ॥

(३३)

झूठे दुष्ट आस्तिकों की मैं बहकावट से बहूँ नहीं।
छोड़ आपको परमेश्वर मैं और किसी को कहूँ नही।
आप न्यायकारी हैं सच्चे परख हृदय की करते हैं।
आप भाव के ही भूखे हैं, भीति भक्त की हरते हैं॥

(३४)

सज्जन को भी आप जानते, हे अनन्त! अन्तर्यामी!
नहीं आप से छुप सकते हैं कामी और कुपथगामी।
मुझे पूर्ण-विश्वास, आपही बस मुझको अपनावेंगे।
भीषण-भव-सागर से मेरा बेड़ा पार लगावेंगे॥

(३५)

भक्ति आप की मैं करता हूँ और आपका भय है साथ।
मिथ्या-तर्क-वितर्क किसीके नही सुनूंगा मैं हे नाथ !
मुझमें और आप में कुछ भी भेद नहीं है हे निष्पाप !
इस पर्दे को हटा लीजिए और देखिए पीछे आप ॥

भगवान् की भक्ति

(१)

जो असम्भव काम है संसार में।
जो न होता 'शक्ति' की भी शक्ति से
शीघ्र वह सम्भव सभी हो जायगा—
शक्ति-स्वामी की अलौकिक भक्ति से॥

(२)

भक्ति क्या है? शान्तिदायक शक्ति है—
दे सकेगी दिव्यतम जो ज्ञान को।
प्रेम की भी भव्य-भगिनी है यही।
जन्म देती है यही शुचि-ध्यान को॥

(३)

भक्ति से हैं नष्ट हो जाते सभी—
पातकों के पुञ्ज भी, अज्ञान भी।
दौड़ आते छोड़ कर वैकुण्ठ को—
भूमि पर हैं, भक्ति से भगवान् भी

(४)

कोटिशः ब्रह्माण्ड-गण के सूत्र से—
बाँधने में जो न पल भी आयँगे—
विश्वव्यापी वे त्रिलोकीनाथ भी—
भक्ति-बन्धन से स्वयं बँध जायँगे॥

(५)

भक्ति से क्या क्या नहीं होगा भला?
शत्रु भी हो जायँगे सब मित्र से।
आधियों के, व्याधियों के भीमतम—
दृश्य भी हो जायँगे सब चित्र से॥

(६)

जो गरल है *नीलगल के कण्ठ में—
वह सुधा के सदृश ही हो जायगा।
क्रोध करके काल भी जो आयगा—
हाथ जोड़े सामने वह पायगा॥

* नीलकण्ठः शिवेऽपि च इत्यमरः।

(७)

भक्ति-बल से वायु का अति-वेग भी—
मन्द होकर बन्द ही हो जायगा।
अग्नि का भी तेज दाहक, चण्डतम—
खण्ड होकर आप ही खो जायगा॥

(८)

दाब देगा पंगु अपने पैर से—
चारु-चोटी को, हिमालय शृङ्ग की।
बधिर सुन लेगा मधुर-गुञ्जार को—
उस *अनाहत-नाद-रूपी भृङ्ग की॥

(९)

दिव्य-वाणी की ‡सुवाणी बुद्धि को—
मूक भी वाचाल होकर पायगा।
अन्ध का, दो चक्षुओं के साथ ही—
ज्ञान-लोचन-युग्म भी खुल जायगा॥

(१०)

मानवों की अति महत्तम शक्ति है—
राम में, घनश्याम में अनुरक्ति हो।
नाव है, संसार-सागर-पार-हित—
सर्वदा भगवान् की दृढ़-भक्ति ही॥

* अनहद नाद जिसे योगी सुनते हैं। ‡ सुन्दर बोली, सरस्वती।

(११)

भक्ति की ही शक्ति से सब काल में—
भक्त को अति शीघ्र मिलती मुक्ति है।
भक्त-*मानस-मञ्जु मानस-मध्य में—
भक्ति ही †निर्वाण-मुक्ता-शुक्ति है॥

(१२)

माँगकर कुछ भूप से, सम्राट् से—
आज क्यों हम पड़ गये उपहास में?
माँगते उससे न क्यों? जिसके सभी—
शक्तियाँ हैं दासियाँ बन पास में॥

* मन और मान सरोवर। † मोक्षरूपी मोती को जन्म देनेवाली सीपी।

पावन-प्रतिज्ञा

(१)

सारे संसार का आधार जिसे कहते वे,
ऐसी अचला के बीच आप गंध-भार हैं।

मेदिनी का जन्मकार, तृषा का संहार-कार,
ऐसे जल-तत्त्व में भी आप रस-सार हैं।

स्पर्शन के बीच भी तो स्पर्श कहलाते आप,
तेज में अनूप-रूप महा-शोभागार हैं।

रोम-रोम में भी आप बसे हुए सूक्ष्म बन,
और व्योम में भी आप शब्द सुखकार हैं॥

(२)

जहाँ-जहाँ देखता हूँ वहाँ-वहाँ आप ही हैं,
तो भी मैं सुमनों को आप पर चढ़ाऊँगा।

आप हैं अदृश्य और निरञ्जन-निराकार,
तो भी वस्त्र आपको मैं नये पहनाऊँगा।

मानते हैं ज्ञानवान आपको निर्लेप प्रभो!
तो भी मैं चन्दन-लेप आपके लगाऊँगा।

आप आप ही हैं तो भी आप हैं समान मेरे,
आप कभी मुझमें, मैं आपमें समाऊँगा॥

सच्चा सम्बन्ध

(१)

जो आप दीनानाथ हैं,
तो हम दरिद्री, दीन हैं।
जो आप करुणा-सिन्धु हैं,
तो कारुणिक हम मीन हैं।

(२)

जो आप अशरण-शरण हैं,
तो हम शरण-इच्छुक प्रभो!
जो हैं दयाधन आप, तो
हम हैं दया-भिक्षुक प्रभो!

(३)

जो आप हैं दनुजाऽरि, तो
हम हैं दनुज-पीड़ित मनुज।
जो आप हैं हलधर*-अनुज,
तो हम गदाधर‡ के अनुज।

(४)

जो भक्त-वत्सल आप हैं,
तो आपके हम भक्त हैं।
जो आप प्रेमी-वश्य, तो
हम आपमें अनुरक्त हैं।

(५)

जो आप हैं श्रीराम, तो
हम वायु-नंदन वीर हैं।
जो आप हैं श्रीकृष्ण, तो
हम द्विज सुदामा धीर हैं।

(६)

जो आप गोपीनाथ, तो
हम गोपियाँ संतुष्ट हैं।
जो आप हैं गोपेश, तो
हम गोपगण परिपुष्ट हैं।

* बलराम के छोटे भाई श्रीकृष्ण। ‡ भीम के छोटे भाई अर्जुन।

(७)

जो आप नटवर-नाथ हैं,
तो हम नटों के झुंड हैं।
जो आप पूरे रसिक, तो
हम गीति-रस के कुंड हैं।

(८)

जो आप नायिक नव्य हैं,
तो हम निराली नाव हैं।
जो आप भावुक भव्य हैं,
तो हम विभूषित भाव हैं।

(९)

जो आप कर्षण-शक्ति हैं,
तो आपके हम कृष्य हैं।
जो आप दर्शन-हीन हैं,
तो आपके हम दृश्य हैं।

(१०)

जो हैं निराकृति आप, तो
हम दिव्य आकृति आपकी।
जो हैं अचिन्तन आप, तो
हम सौख्यकर-स्मृति आपकी।

(११)

जो आप नीरज-बन्धु‡, तो
हम श्रेष्ठ नीरज, शान्त हैं।
जो आप कैरव-बन्धु‖, तो
हम श्रेष्ठ कैरव-कान्त हैं।

(१२)

जो आप पूरे ब्रह्म हैं,
तो जीव हैं सुखकार हम।
जो आप हैं आधार, तो
ब्रह्मांड हम, संसार हम।

(१३)

जो आप हैं वर-गंध, तो
हम भूमि-कण दृढ़, धीर हैं।
जो आप हैं रस-रूप, तो
हम तृप्तिकारक नीर हैं।

(१४)

जो आप मोहन-रूप हैं,
तो तेज हमको मानिए।
जो आप सुन्दर स्पर्श हैं,
तो वायु हमको जानिए।

---

* अदृश्य। ‡ सूर्य। ‖ चन्द्रमा।

(१४)

जो आप सौन्दर्य चन्द्र हैं,
तो स्वच्छ हम आकाश हैं।
यहाँ उठाकर देखिए,
हम आप ही के पास हैं।

वर-वांछा

(१)
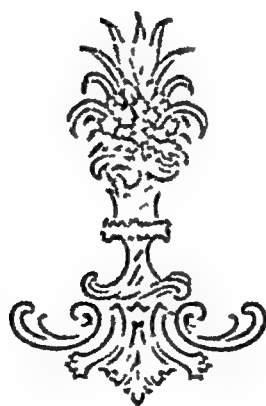
देना मुझे मन दो प्रभो !
    जो आप में तल्लीन हो ;
जो आपके गुण-गान के,
    पीयूष-सर का मीन हो ।

(२)

तत्पर रहे दिन-रात जो—
    निज देश के उद्धार में ;
सद्धर्म के व्यापार में ,

(३)

ऐसा मुझे तन दो प्रभो!
नीरोग हो, जो पुष्ट हो।
फल-फूल खाकर भी सदा,
सर्वत्र जो संतुष्ट हो।

(४)

निज-वैरि-लोचन-युग्म में
वर-बाण-सम गड़ जाय जो;
पर-हानि से हट जाय जो
पर-पीर में पड़ जाय जो।

(५)

ऐसा मुझे शिर दो प्रभो!
ऊँचा रहे जो सर्वदा;
लावें न जिसमें उष्णता—
अति संपदा या आपदा।

(६)

डूबे कभी भी जो नहीं
अपने सुयश-सम्मान में;
नत हो तुम्हारे ध्यान में,
रत हो सुविद्या-ज्ञान में।

(७)

ऐसा मुझे मुख दो प्रभो !
जो वेद-वाङ्मय-स्रोत हो ;
मन मोल लेने को महा—
माधुर्य-ओत-प्रोत हो ।

(८)

जो आप ही के नाम की
माला जपे अति प्रेम से ;
उपदेश देकर लोक को
जो युक्त कर दे क्षेम से ।

(९)

ऐसे मुझे दो नेत्र दो,
जिनमें दया का वास हो ।
सौंदर्य भी, अति तेज भी,
जिनके क्षमा भी पास हो ।

(१०)

जिनमें अलौकिक स्फूर्ति हो,
स्वातंत्र्य-इच्छा-पूर्ति हो ;
जिनमें बसी वह मोहनी,
बस, आपही की मूर्ति हो ।

(११)

ऐसे मुझे दो हाथ दो,
सामर्थ्य जिनके हाथ हो;
असहाय-अबला-त्राण का
दृढ ध्येय जिनके साथ हो।

(१२)

जो सर्व-आयुध-हीन बन—
सारे अमङ्गल टाल दें;
हथियारवाले सामने—
हथियार जिनके डाल दें।

(१३)

ऐसे मुझे दो चरण दो,
जो शरण देना जानते;
जो सुर-नरों से पूज्य बन,
सम्मान लेना जानते।

(१४

आता न जिनको युद्ध में
है पैर अपने मोड़ना।
परतंत्रता के पैर केवल
जानते जो तोड़ना।

(१५)

दे दो यही वर एक, जो
इतना न दे सकते कहीं;
धर स्वाँग भरकर आपसे
मैं भीख फिर माँगूँ नहीं।

कलित-कामना *

(१)

जहाँ §पाकशासन-शासन है, वाणी-वीणा शब्द अमन्द,
जहाँ सदैव भरा रहता है ||सुमनस-मन मे अति-आनन्द,
नारद का सङ्गीत जहाँ है, रम्भा का है मोहन-गान,
और जहाँ पर फैल रहा है ज्ञान-हर्ष-उत्कर्ष महान,
ईश ! वहाँ मत पैदा करना आप किसी भी काल मुझे,
भारतमाता की गोदी का किन्तु बनाना लाल मुझे ॥

---

* जीव चार प्रकार के होते हैं। जरायुज (मनुष्य, पशु) अण्डज (पक्षीगण) उद्भिद्ग (वृक्ष, लता) और स्वेदज (कीट-पतङ्ग)। जब तक मुक्ति नहीं होती तबतक जीव को एक किसी न-किसी योनि में रहना ही पड़ता है। § इन्द्र। || देवों के मन में।

(२)

जो कहलाता है अति-पावन-लक्ष्मी-लक्ष्मीपति का यान,
विनताऽगस् का भी रहता है पूरा-पूरा जिसको ज्ञान,
*विनतानन्द-कारि-सुत जो हैं क्रूर भुजगों का भोज विचित्र,
विनताऽऽनन्द‡-कारि-सुर-वन्दित हैं जिसके पद-पद्म पवित्र,
ऐसा पक्षीपति मत करना गरुड़-नामधारी मुझको,
किन्तु जटायु बनाना ईश्वर ! ||माता-हितकारी मुझको।

(३)

मनमोहन का §शयन-भवन है जिसका पावन-जन्म स्थान,
जिसको पाने सुर-असुरों ने झेली थी आपत्ति महान,
जिसके नीचे बस आते ही होजाते हैं सब निष्काम,
जो नन्दन-वन की शोभा है और स्वर्ग-शृङ्गार ललाम,
ऐसा सुर-नन्दन, $ मत करना सुरपति-वन्दन-वृक्ष मुझे,
किन्तु नाथ ! इस भारत का ही करना चन्दन वृक्ष-मुझे॥

---

*विनता नामक स्वमाता का कष्ट मिटाने को जिसने सूर्य-रथ के घोड़ों की पूछों के लिपटे हुए सर्पों का भोजन किया है। ‡ विनत (भक्त) को आनन्द देनेवाले देवताओं...(श्लेषालङ्कार)। § जगज्जननी जानकी। || दुग्ध-समुद्र। $ देवताओं को आनन्द देनेवाला।

(४)

जो *अलका का वासी बन कर है अतीव हर्षित-स्वच्छन्द,
जो कमला के कलित-कमल का पीता है दिन भर मकरंद,
जिसका शोभन-रङ्ग देखकर, सुनकर और विमोहन गान—
सुर-ललनाएं खोदेती हैं निज-सुकेश-गल-गर्व महान,
ऐसा भृङ्ग प्रभो! मत करना रङ्गों से सज-धज मुझको,
"देश"-दासता-हारी-जनका पर, करना §स्वेदज मुझको॥

* कुवेर-नगरी जहाँ लक्ष्मी रहती है § भारतवर्ष को स्वतन्त्र करनेवाले परिश्रमी वीरों के पसीनों से पैदा हुआ जन्तु, स्वेदज।

प्रकृतिकुञ्ज

चारु-चेतावनी

(१)

बालकपन में युवापने में सदा रहे थे साथ।
आज बुढ़ापे में ही मेरा छोड़ रहे क्यों हाथ ?
नाथ ! यह किसका है गुरुज्ञान, विनय पर दो अब तो कुछ ध्यान ॥

(२)

"जब-जब ग्लानि धर्म की होगी मैं लूँगा अवतार"—
देकर यों वरदान, मुझे अब छोड़ रहे मझधार।
पार अब कैसे हूँ भगवान ! विनय पर दो अब तो कुछ ध्यान ॥

(३)

भारत हूँ, तव जन्म-भूमि हूँ, मेरा यों अपमान !!
खड़े खड़े, तुम देख रहे हो मेरा यों बलिदान !!
बाण से लो अरियोंके प्राण, विनय पर दो अब तो कुछ ध्यान ॥

(४)

जो न पधारे मुझे बनाने देशों का सिरताज़—
मेरा क्या होगा, जावेगी केवल प्रभु की लाज।
लाज आने के सजो सुजान ! विनय पर दो अब तो कुछ ध्यान॥

सच्ची शिक्षिका

(१)

प्राणियों का आदि-शिक्षक कौन है ?
एक केवल प्रकृति का भाण्डार है।
ज्ञान देता है सभी को यह प्रथम,
सत्य-शिक्षा का यही आगार है॥

(२)

रुदन कर कर मधुतर, शिशु दुधमुँहे,
प्रेम-प्रतिमा-जननि-पयका पानकर।
प्रेम का ही पाठ पहले सीखते—
दुग्ध-पयमें प्रेम पूरा जानकर॥

(३)

फूलना, खिलना कली का और फिर—
खेलना अलि का वहाँ पर देख कर।
फूल-सा खिलता निरख माता-वदन,
फूलते, खिलते सभी हैं बाल-वर॥

(४)

मेघ से वे गर्जना हैं सीखते,
सीखते हैं सिंह से चिंघाड़ना।
वानरों से सीखते वे, वस्तु ले,
कर-वदन से तोड़ना या फाड़ना॥

(५)

देख कर वे खलबलाहट सिन्धु में,
और हलचल, अचलता भी सर्वदा।
चुलबुलाहट जान जाते हैं सभी,
और फिर पाना प्रतिज्ञा-*सम्पदा॥

(६)

देख अस्तोदय तारिका, चन्द्रका,
रात-दिन के नित्य-क्रम को जानकर।
दुःख-सुख-अनिवार्यता को बस उन्हें—
आप ही रहना पड़ेगा मानकर॥

* प्रतिज्ञा की सम्पदा अर्थात् उसकी पूर्ति। बाल हठ या निज प्रतिज्ञा को पूर्ण करना। | सर्व।

मरु-मही

(१)

मंजुलतम-मरुमही ! तुझे भी कहते हैं वर-वीरागार।
पानी तुझ में न्यून दीखता, पर पानी का तू आधार।
कैसा पानी ? धीर-वीर के आनन पर जो करता वास।
जिसे पारखी नर-रत्नों का कहता है नर-द्युति-आभास॥

(२)

रम्य-रत्न पैदा करके तू रमणी-मणियों की है खान।
तू निधान है शौर्य-शान्ति का, कीर्ति-कान्ति का वासस्थान।
छिटकाते हैं छटा छबीली अब भी तुझ पर मानव-रत्न।
गौरव-यश-धन-मान-प्रतिष्ठा देते तुझको जिनके यत्न॥

(३)

भरा हुआ रहता है तुझ पर स्वर्ण-शलाकाओं का चूर्ण।

अथवा पीत-मंजु-मणियों से तेरा तन रहता है पूर्ण।

अथवा तुझ में रमी हुई है बाल-भानु की अनुपम-कान्ति।

या तुझ पर किंशुक-कुसुमों के है परागकी भूषित-भ्राँति॥

(४)

दलदल के दलही दल तुझ पर या हैं ये सुमेरु के भाग।

अथवा फूट रहा यह तेरा मर्यादा-पालक-अनुराग।

नहीं-नहीं ये तो रज-कण हैं जो हैं अति ही पीत-पुनीत।

विष्णु-पुरातनपुरुष-मथित जो *चित्र पुरातन है नवनीत॥

(५)

जग में मायामय की माया लीलामय की लीला लेख।

कहीं विपुल जलकी कलकल है कहीं न्यूनता उसकी देख।

कहीं सघनघन-तरु-पुञ्जों के लगे हुये हैं पुञ्ज-विपुञ्ज।

कही दिखाई देते केवल चारु-चित्र में कुञ्ज-निकुञ्ज॥

(६)

इससे हे मरुमही! न कर तू नीर-न्यूनता का कुछ शोच।

कही कमी है, कहीं अधिकता चित्र-विचित्र बना यह लोक

मारवाड़! मरुभूमि! मनोहर मारवार भी तेरा नाम।

मार, वार तुझ में होती है, ‖ मार-वार का भी तू धाम॥

---

* मिट्टी रूपी मक्खन अत: विचित्र। ‖ कामदेव का महार, वार।

(७)

मृगतृष्णा का कान्त-केन्द्र तू हे *तपनातप-उज्वल-देह !
तेरी महिमा कहें कहाँ तक, हे मानिनि-ललना-गण-गेह !
जल पर ही न, किन्तु चलती है तेरे थल पर भी दिनरात
जगम-नौका ‖उष्ट्र नाम की, है सब से विचित्र यह बात ॥

*धूप पड़ने पर चमकने वाली। ‖ऊँट को मारवाड़ की जहाज कहते हैं।

*ग्रीष्म-गौरव

(१)

सुमिरत ही सिद्ध है, संसार-सुकर्म सब,
संग लेर संपति, को सद्म में सिधारिए।
सुरन में श्रेष्ठ श्रुति शास्त्रन सकल, सुधी,
सेवक-सहायक शठ, शत्रू सँवारिए।
वसनन§ के विपद-वर-वाहन विराज,
विग्रह, विपति, वैर विश्व के विसारिए।
बारंवार विनती है, वारन-वदन वारे,
विघ्न के विपिन को, "विघ्न-हर" विडारिए॥

*—१९१६ की रचना। § वस्त्रों के शत्रु मूषक, चूहे।

(२)

राजत विशाल भाल, भृकुटी कवान की सी,
नीरज से नेत्र, मुख चद सा सुहात है।
केकी के कंठ सरिस, श्यामल शरीर सोहै,
मोहै मुनि-मानस को, मणि सा विभात है।

मलिन तनिक भई जो न वनवास हू तै,
भूपति-विभव से न हर्षित दिखात है।
ऐसी अभिराम-श्याम-राम की ललाम छवि,
कवि के अमंगल को पल में मिटात है॥

(३)

*स्वेद-कन-जाल लसे सारे शरीर ऊपर,
मंद, मंद पवन आवे पखा के झलन से।
पक्षीगन चञ्चू-पुट खोलत है वृक्ष बैठे,
मानों दुरसीस देत दुखित होय, मन से।

सारे सुजीव-जन जगत में बसत जेते,
तनिक भी वदत नांहि अपने वदन से।
ऐसे विभासित होयँ, चिन्ता के समुद्र डूब,
बैठी है समाज सारी मानहु मौन-पन से॥

*पसीना।

(४)

प्रातःकाल होवत ही सारे तड़ाग जायँ,
बारंबार मज्जन करि देह शीतल करैं।
हरे-भरे वृक्ष, वेल तेल-दग्ध होय गए,
फल, फूल, दल नहीं, भीषण सी छवि धरैं।
सूरज के आतप से लोहे की चादर सम,
रही-सही मही और महीधर सबै जरैं।
पावक-प्रचंड ज्वाला जाल सी पवन चलै,
श्वापदादिजीव, जतु विपिन में न विचरैं।

(५)

गगन में घनन की घटा नांहि दीखैं कहीं,
निर्मल सलिलन की तरंगिनी पहार पै।
*व्योम-चर सौख्य पाने उड़े व्योम बीच ऊँचे,
डूबे जल बीच, दीखैं जलचर न धार पै
नगर विपिन भरे, हरे-भरे वृक्ष जरे,
निदाघ-वज्रघात आत सुषमा के भार पै।
खान ना सुहात भला, पान पान सभी चाहैं,
पावक सी बरस रही सारे संसार पै॥

---

*पक्षी जितने ऊँचे उड़ते हैं उतने शीतल हैं।

(६)

वापी-तड़ाग-सर-कूपन को तरंगिनि को,
अपनी तृषा-तृप्ति हेतु कुपित वायु सोषै।
सागर सुछवि को बडवानल नष्ट करै,
कानन की सुषमा को यह दावानल खोवै।

तृषा को बनाय तृष्णा आगसी लगाय ग्रीष्म,
नगर-नर-नारिन के निर्मल मन मोषै।
खान-मान-दान और गानन के स्थानन में,
पान, स्नान, ध्यान, ज्ञान मुनिजन मन-तोषै॥

(७)

बाँसों कै गहन मांहि पावक गहन जरै,
सिंह-मृग-शृगाल-चीते ताहि देख जात हैं।
शीश को कंपित करैं, हरैं जल बीच जंतु,
कोप करि करि-निकर सर में नहात हैं।

श्वान सब हाँप रहे जीहा को निकार कर,
विहग पशु बार-बार प्यास को बुझात हैं।
आतप से तपन कर तपन भूलोक को,
लोहे की चादर सम प्रतिदिन तपात है॥

(८)

दिनकर तो वदन जाको तेज और अग्निमय,
तपन मयूखन की प्रबल देह धारे हैं।
दावानल वात उष्ण साँस औ उसाँस सम,
सोषत निशि वासर सलिलाशय सारे हैं।
असि घबराहट औ रोगन के अस्त्र-शस्त्र,
लेकर कराल कर स्त्री-जन सँवारे हैं।
निशाचर निदाघ अब सारी दुःख-सेना ले,
कोप करि चित्त माहिं धरणी पर पधारे है॥

(९)

ग्रीषम की भीषम-ऋतु वाको सतावै नाहिं,
जाके ख़ुश-भवन माहिं चलत फॅवारे हैं।
बर्फ़ औ बरास पखो केवरा गुलाब सन्यो,
ऐसे सलिलन से सींचत व्यजन सारे हैं।
अंग माहि अंगराग, मन में उमंग महा,
संग माहिं हरित पट पाटन ही न्यारे हैं।
कमल के पत्रन पै, कमल-कलिन बिछा,
कमल डारि तापर कमल-देह डारे हैं॥

ग्रीष्म-गमन

(१)

प्रणाम मेरा रघुराज को है।
देते मुझे जो बल-बुद्धि को हैं।
सीता-सती के मुख-कंज के ही—
मंजु-प्रभा के अलिराज जो हैं॥

(२)

महीरुहों का अति कष्टकारी,
सरोरुहों का जल-जीव-हारी,
संताप-कारी चल ही दिया है,
ज्वालामुखी सा यह ग्रीष्म देखो॥

(३)

गुलाल जैसे रज के कणों को,
उड़ा रहा था भय-मुक्त होके।
मानों खिलाड़ी बन खेलता था,
होली हठीली ऋतुराज से ही॥

(४)

वसंत भी अद्भुत खेल होली,
चला गया है, करता 'यहाँ क्या?
आते जहाँ दुष्ट, वहाँ महात्मा-
भले, भला क्या स्थित हो करेंगे॥

(५)

बड़े द्रुमों पै स्थित हो रहे थे,
विहंग खोले निज चञ्चुओं को।
मानों दुखी हो अति उष्णता से—
दुराशिषें ही सब दे रहे थे॥

(६)

मृगेन्द्र के पास कुरंग काले,
मृगी, शृगालादिक जा रहे थे।
ऐसी बुरी हा! इस ज़िन्दगी से—
सोचें भला ये, मरना भला है॥

(७)

निद्रा सबों को अति न्यून आती,
भाता नहीं भोजन स्वादु-मीठा।
जहाँ विराजै नृप दुष्ट, अच्छी-
वहाँ किसे भोजन और निद्रा॥

(८)

प्रत्यंग में से निकलें पसीने,
मानों बहाते सब दुःख आँसू।
या नीर लेले उदराब्धि में से,
निल्हा रहे हैं निज देह को वे॥

(९)

धनीजनों को युग-उष्णतायें—
निदाघ की-वित्तविशाल की भी—
सता रही है अति-कष्ट देके,
ज़्यादा दुखी वे जन दीन से यों॥

(१०)

सभी कहीं भूमि सुतप्त ऐसी—
मुकुल नेत्र-द्वय देख होता।
मानों मिचा, क्योंकि पड़े फफोले,
सुदृष्टि के भी मृदु से पदों में॥

(११)

नदी विशाला, सर, कुंड सारे,
पीये घड़े, कूप न तृप्त होती।
मानों तृ॰ा जीव-समूह की, क्या,
तृष्णा हुई, या वन-वन्हि-ज्वाला॥

(१२)

हिमांशु धारी निज शीश पै ले,
देवापगा और हिमांशु को भी।
विवस्त्र होके हिम वीच भागे,
प्रभाव ऐसा तप का महा था॥

(१३)

ओहो! पड़े थे प्रभु चक्रपाणी,
निदाघ के वक्र-सुचक्र में ही।
*समुद्रजा साथ, समुद्र में वे,
सरोजछाया हित थे वनाते॥

(१४)

कुटुम्ब को और स्वदेश को भी—
छोड़ा छुपे जा जल-जात में वे।
व्रह्मा विचारे सव भाँति हारे,
नालीक-जन्मा वनही गये वे॥

*लक्ष्मी। यह अतुकान्त कविता १९१७ की रचना है इसके कई छन्द शास्त्र-प्रमाण-हीन कल्पना-मात्र हैं।

(१५)

आदित्य भी त्याग कुटुम्बियों को—
भागे चले थे हिम ओर जाते।
उद्दंड ताते तप-तेज आगे,
मार्तंड का चंडप्रताप क्या है॥

(१६)

प्रस्वेद का जाल बिछा किया था,
निदाघ ने यों जित मानवों को।
हारे हुओं को सब को बताने,
झंडे दिये थे मिषवीजनों के॥

(१७)

आराम में हो सब वित्त-शाली,
*आराम में दीन मृदालयों में।
आ राम में ही मन को लगावें,
‡आराम पाने हित संत बोले॥

(१८)

संयोग भी हाय वियोग सा था।
देखो महादुष्ट निदाघ लीला!!
सारे दुखी थे, न कहीं सुखी थे,
"प्रताप" ऐसा उस ग्रीष्म का था॥

---

*बाग़-बाग़ीचे। ‡ निर्वाण-पद।

वर्षा-वर्णन

(१)

गरजत है घनन की नभ में घटा घोर,
गोविन्द के गुणन को गरुत्मान* गात है।
कुञ्जत हैं कुंजन में कारंडव, कीर, केकी,
कोयल-कपोतन-कटक कहकहात है॥

शाखिन|| पै शोभित है शाखा-सुमन-समूह,
सरसी §रुह-संसद सर में सुहात है।
परै है पहारन पै पावन-पयद-पाथ,
पंथ में पंक-पय पथिकन फसात है॥

---

* पक्षी। || वृक्ष। § कमल वन।

(२)

मंजुल मयूर नाचैं मेघन को देख, देख,
दूर दूर दादुर* की धुनि है सुहारही।
सुन्दर-सलिल-शकुनी सोहै सरन बीच,
पद्मन पै पंक्तियाँ मधुपन गुंजारही॥
सरसावै शाखी को शीतल सुखद समीर,
वाहिनी‖ वगुलन की व्योम-पंथ आरही।
वर्षा की छटान को देखे तैं, अटान ऊपर,
ललना लटान ही घटान होय छारही॥

(३)

फूलत हैं फूल, फूल वन में लतान वृन्द,
तिन पै विहंग-वर विहार करत हैं।
आवै है सलिल-शब्द तुंग, तुङ्ग शैलन तैं,
वार-वार सुधा-विन्दु उन तैं झरत हैं॥
वीथिन वजारन में नारी, नर भीग, भीग,
छत्र वहु रंगन के करमें धरत हैं।
मेघन तैं बूँद-गन वीरन के वानन सी,
अरि-अकाल-काल को मारन परत हैं॥

* पपीहा। ‖ सेना।

(४)

होत ही प्रगट कृष्ण-कादम्बिनी स्वच्छ नभ,
प्रभाकर-प्रभा मञ्जु छिन में नश गई।
पूर्व जहँ धूलो के धाराधर घोर उडत,
देखत वहँ देखत ह्वै गई जल मई॥

ऐसो अंधकार छायो त्रिलोकी के वीच आज,
कर से कर न सूझै सुधि विसारदई।
दामिनी दमक के ओ दिवमें गिलाय जाय,
देखो प्रलय-काल की सो निशा प्रगट भई॥

(५)

नारी-नरन की मच गई धूम कानन में,
वृक्षन तैं बूँदें जहँ शीतल झर रही।
लवक, मराल, पिक करत हैं गान कल,
पापी पपीहन पंक्ति पिहू, पिहू कर रही॥

कोई जात, आत कोई सर में नहात कोई,
शोभा उपवन की मुनि-मन हर रही।
वर्षा ऋतु मोद देत, लेत है कलेश छीन,
आनन्द बधाइन तै पृथ्वी को भर रही॥

वर्षा की बहार

(रोला)

(१)

जहाँ मधुर-मुसकान चपल-चपला-सम-सुन्दर—
वेद-पुराण-प्रमाण, नेत्र-युग-सूर्य-कलाधर—
ऐसा यह घनश्याम-राम-मुख-कमल-छटा-सम—
पावस है घनश्याम-घटा-युत-वंदनीयतम ॥

(२)

थलचर, जलचर, जीव, जंतु लघु, नभ-चर नाना,
जलज, महीरुह, लता और जीवन-धर नाना,
अखिल-लोक के प्राणिमात्र जड़-जंगम सारे—
पाते हैं सुख-शान्ति वृष्टि बौछार निहारे ॥

(३)

विरही, विटपी, बार-बार बट पर निशि-बासर—
वारिद, वारि, बहाव, विज्जु, विधु, वन के बाहर—
विपिन, नाग के बीच बतक, बक, बहीं ऊपर—
बरसे वृष्टि बहार बाल-बामा पर सुन्दर ॥

(४)

मंजुल, मधुर महान, गर्व-गंभीर-गिरा-रत—
दादुर, मोर, चकोर, कीर करते ऋतु स्वागत।
स्वीय-प्रिया को सभी, मनाने में हैं तत्पर।
मूँदे सुख से नेत्र, वारि की बूँदें सह कर ॥

(५)

घरर-घरर घिर घटा-छटा छन-छन में झूमत।
घनन-घनन घन घोर-घोर गरजत है घूमत।
खलल-खलल जल गिरे, प्रबल खोलो में खल-खल।
पलल-पलल फिर बहे अमल-जल छल-छल, कल-कल ॥

(६)

काली घटा विलोक, लोक में शोक न रहता।
कर सुदृष्टि की वृष्टि उसी पर, कवि यों कहता ॥
नृपति-निदाघ-विनाश-हेतु सेना-सह आते—
आगे करके इन्द्र गजेन्द्रों को हैं लाते ॥

(७)

वर-वारिद्‌गण-व्यूह, विपल में रत्ना-रत्नाकर—
सित-वस्त्रों को पहन लड रहे वक्र-योद्धावर।
या, रण में करि-कुंभ फूट कर गज-मुक्ताफल—
गिरते चमकें भला धवल होने में भल-भल॥

(८)

चम-चम करती हुई इन्द्र की चन्द्र-हास का—
चमचमाट या बना, प्रसूचक ग्रीष्म-नाश का।
सहस्राक्ष के नेत्र, सहस्र दिव्य या ये हैं।
वैजयन्तियें विजय, जताने अथवा ये हैं॥

(९)

कड-कड कड़-कड़ करें विजलियें कड़-कड़ाट कर।
ओले तड़-तड पड़ें कहीं पर तड-तडाट कर।
बूंदें टप-टप गिरें टाप-सम टप-टपाट कर।
धड़-धड़ करता चित्त भीरु का धड़-धड़ाट कर॥

(१०)

अमल-कमल में कमल दीर्घ-दल-युत हो फूलें।
मधु पी मधु-कर-निकर उदर भर भर-कर भूलें।
कुटिल-भूप-सिर-छत्र उतर जाता है जैसे—
यत्र, तत्र हो आक्‌-जवास्‌-पत्र हैं वैसे॥

(११)

कलित-केतकी होय, केवड़ा, केला कुसुमित।
गैंदा, गोल गुलाव गुच्छ के गुच्छक गर्वित।
चपा, जूही, चारु-चमेली भी है सुरभित।
मंजु-मोगरा, मोलसरी, मंदार सुपुष्पित॥

(१२)

जुगुनू-जाति-जमात-ज्योतिसह जगमगाट कर—
चम-चम करती फिरे चाव से चमचमाट कर।
मानों तारक-निकर व्योम-मण्डल से भूपर—
उतर रहा लघुरूप किये ऋतु देख मनोहर॥

(१३)

अथवा उड़ती ग्रीष्म-चिता से उछल-उछल कर—
चिनगारियाँ अनेक, भस्म होने, जल-जल कर।
या निज-जय का हर्ष मनाने जयी पुरन्दर।
घी के दीये जला रहा है नये मनोहर॥

(१४)

इन्द्र-धनुष हो रहा, गगन में अति सुखकारी।
नाना नूतन वर्ण, प्रगट जिसमें दुखहारी।
मानों इन्द्र स्वराज्य, जमाने डरा रहा है—
असुरों को, यह भृकुटी उसी की कुटिल महा है॥

(१५)

खेतों बीच किसान, ध्यान में काम कर रहे।
देख वृष्टि बौछार, विभूषित-भाव भर रहे।
निर्भर है बस भाग्य इसी ऋतु पर भारत का।
इसके बिना "प्रताप" बजे डङ्का गारत का॥

नील-नीरद

(१)

श्यामघन ! तुम भव्य-भारतवर्ष की
सौख्यदा-सम्पत्ति के आधार हो;
और श्रीघनश्याम-सम निःस्वार्थ बन
प्राणिजन-उपकार तुम साकार हो।

(२)

दूसरों का लाभ करने के लिए
जन्म लेते तुम सदा संसार में;
नष्ट होते हो स्वयं तुम, डालकर
और को आनन्द-पारावार में।

(३)

है, नहीं बक-पंक्ति यह धवला भला
वेग से आगे तुम्हारे जा रही;
है तुम्हारी कीर्ति यह खग-रूप में—
व्योम में छाकर मही पर आ रही।

(४)

जो जगत् की माधुरी का मूल है
भर रही तुममें वही है मिष्टता;
नम्र होना *भूति पा करके अधिक
है तुम्हारी यह अलौकिक शिष्टता।

(५)

हो तुम्हीं बस एक, करने के लिए—
तप्त वसुधा पर अनुग्रह-दृष्टि को;
डालते हो तुम नहीं जल-बिन्दुएं
किन्तु बर्षाते सुधा की वृष्टि को।

(६)

हो दया-औदार्य के आधार तुम
और हो आगार तुम जल के, महा;
यह पपीहा आज फिर भी क्यों भला
है तुम्हारी यों बुराई कर रहा?

* अणिमा आदि अष्टसिद्धियाँ 'विभूतिर्भूतिरैश्वर्यम्' इत्यमरः।

(७)

*भुवन के भाण्डार इस भू-भुवन में
रिक्त होकर स्वयं तुम हो भर रहे;
ग्रीष्म को भयभीत करने के लिए
तुम गगन में गर्जना हो कर रहे।

(८)

मेघ! तुम-जैसे महा गम्भीर को—
चञ्चला है क्यों वधू-सौदामिनी?
किसलिये है बन ||गई क्षणकान्ति वह
आज होकर काम की-सी कामिनी?

(६)

शुष्कता रखते, कहीं पर वर्षते—
और कर देते प्रलय भी तुम कहीं;
इसलिए यह ज्ञात होता है हमें
उच्चता पाकर किसे मद है नहीं।

(१०)

गर्व कर तुम इस तरह आकाश में—
गर्जते हो क्यों महा-अभिराम बन?
भूमि के ही नीर हो इस रूप में—
और कुछ भी हो नहीं तुम श्याम घन!

* जल, जीवनं भुवनं वनम्' इत्यमरः। || बिजली 'ऐरावत्यः क्षणप्रभा।...चञ्चला चपला अपि' इत्यमरः।

हर्षद-हेमंत

(१)

शरदांत कर हेमंत तू !
क्यों दुःख देता दीन को ?
क्या वीरता है मारना
पानीय-हत-पाठीन को ?

(२)

क्यों वीर होकर त्यागता
वीरत्व का तू साथ है ?
क्या वीर सच्चा, दीन पर
अपना उठाता हाथ है ?

(३)

धनवान् को तू स्वप्न में
क्या कष्ट दे सकता कभी ?
सच है, झुकाते शीश निज
बलवान् के आगे सभी।

(४)

गरमी भले ही दे मिटा
तू देह की या चित्त की ;
पर नष्ट कर सकता नहीं
गरमी किसी के वित्त की।

(५)

दो हाथ वाले जीव ही,
तुझसे न डरते जा रहे।
जिनके *हजारों हाथ हैं,
वे अग्नि-सम्मुख आरहे॥

(६)

हा ! क्या कथा है और की ?
‖शुचि-तेज भी तो घटगया।
यह आग है—यह भय महा—
मनसे हमारे हट गया॥

---

*सहस्रांशु, सूर्य। ‖ आग।

(७)

है यह नहीं हिमराशि जो
अति श्वेत सुन्दर दीखती,
तेरे सुयश की श्वेतता–
है भूधरों पर दीखती।

(८)

मत गर्व कर, हो जायगा
निःशेष, बस तू भी यहीं।
हालत किसी की एक-सी
संसार में रहती नहीं।

(९)

दिन-देह दिन दिन दुःख से–
है सूखती ही जा रही।
है दुष्टता तेरी उसे—
दुर्बल बनाती जा रही॥

(१०)

अरि-क्षीणता को जानकर
अभिमान से विधु-कामिनी—
है फूलती ही जा रही
दिनरात सुख से यामिनी।

(११)

कुछ न्यूनता को देखकर
निज-नाथ के तनु-तेज में,
है पद्मिनी मुरझा गई—
शीतल-सरोवर-सेज में।

(१२)

भृङ्गावली के चित्त में—
भी मच रही है खलबली।
प्रेमीजनों को सर्वदा
खिलती नहीं मन की कली।

(१३)

है रात कटती विरह की
अति कठिनता से कोक की।
अभिवृद्धि करता है भला—
तू क्यों किसी के शोक को?

(१४)

जल को, अनल को इस तरह
क्यों शीततम तू कर रहा?
है क्यों किसी के रक्त की
तू उष्णता को हर रहा?

(१५)

हे हर्षप्रद हेमंत ! अब
तू वृद्धि कर दे क्षेम की।
दूनी बढ़ा दे आग, बस
तू मातृभू के प्रेम की॥

गो-गौरव

(१)

रत्न तुम जैसा नहीं उत्पन्न जो—
दुग्ध-सागर दुःख पा, करता कहीं—
तो सहारे और रत्नों के उसे—
नाम, रत्नाकर कभी मिलता नहीं ॥

(२)

देवता, ऋषि और मुनि, मानव तुम्हें—
मानते निज सम्पदा, सम्मान कर ।
दुःख-हर हो हर कहीं तुम हर घड़ी—
इसलिए तुम *कल्पतरु से श्रेष्ठतर ॥

---

*एक ही स्थान पर स्थित रहने से ।

(३)

दुग्ध पीने से तुम्हारा, सबल बन,
एक *ऋषिने काम था कैसा किया।
सैन्य-सह राजर्षि को नीचा दिखा—
समुद फिर ब्रह्मर्षि-पद उसको दिया॥

(४)

वीरवर-रणधीर ‖रघु का नाम-वर—
किस तरह है धन्य अचला पर चला!
नाम को भी बात रघुकुल-नाम की—
हा! न रहती, जो न तुम होती भला॥

(५)

दुष्ट-तारण का बनीं कारण तुम्हीं—
होय, वैतरणी-नदी §तरणी महा।
आपके आदान में या दान में—
स्वयं सुख का स्रोत सीधा बह रहा॥

---

* महर्षि वशिष्ठ . विश्वामित्र ... । ‖ नन्दिनी के वरदान से ही दिलीप के रघु, जिनसे रघु-वंश चला है, उत्पन्न हुए थे। §—गरुड़-पुराण में लिखा है कि वैतरणी नदी में पापियों को गाय का ही सहारा है।

(६)

तुम विना तो स्वयं ब्रह्मा भी भला—

*शूद्रता को आज तक खोते नहीं।

किस तरह द्विज-जाति आती सृष्टिमें—

वे जनेऊदार जो होते नहीं॥

(७)

आज इतनी श्रेष्ठता, महिमा महा—

श्रीश को श्री को कभी मिलती नहीं।

जो तुम्हारी ‡पुच्छ उन पर रात दिन—

मान-मङ्गल-दान हित हिलती नहीं॥

(८)

श्रेष्ठ-गौरी और गङ्गाधर हुए—

देख पावनता तुम्हारी, शोक में॥

आप जो उन पर कृपा करती न तो—

¶पग रगड़ते आज वे सुरलोक में॥

(९)

श्रेष्ठता, गुण और महिमा शब्द ये—

हो रहे हैं आपके जो दास से—

पा रहे इतनी प्रतिष्ठा आज है—

एक केवल आपके सहवास से॥

---

*गोमूत्र के पान बिना। ‡चमर । ¶—जो आप नन्दी को जन्म न देतीं तो।

(१०)

बाल से सुख-प्राप्ति-इच्छा-हित, स्वयं—
उमड़ आता दूध है मा के हिये,
किन्तु तुम निष्काम बन, पय पा रही—
जन्मदा मे श्रेष्ठतर तुम इसलिए ॥

(११)

आपकी, मातेश्वरी ! गुण-राशि को-
श्रेष्ठ-निगमागम कहाँ तक गा सके ?
क्योंकि वह है सिन्धु वह, जिसका नहीं
पार कोई भी कहीं पर पा सके ॥

(१२)

जब बजाते बाँसुरी गोपाल, तब—
वे सुनाते तान में ये वचन-वर—
"मधुरता स्वर में बढ़ी पयपान से—
यों सुधा से धेनु-पय है मधुरतर" ॥

(१३)

हम तुम्हारे दुग्ध के माधुर्य में—
डूब जाते हैं शिखा तक बस तभी—
बोलते हैं दुध-मुँहे बालक वचन—
और हरि वंशी बजाते हैं जभी ॥

(१४)

होगए गोपाल इससे आगई—
सब कलाएं, शक्ति भी, श्रीश्याम में।
धेनु-सेवा-न्यूनता से देखलो—
दो कलाएं घट गईं *श्रीराम में॥

(१५)

विष्णु होकर भी भला श्रीकृष्ण ने—
आपकी अति-प्रेम से है भक्ति की।
इसलिए है अकथ-महिमा आपकी—
श्रेष्ठता-शुचिता-सुसेवा-शक्ति की॥

(१६)

आपही के सदृश अति-महिमामयी—
आपकी बलवान यह सन्तान है।
हो रही, जो देह-धारी-श्रम सदा—
और जो कृषिकार, कृषिका प्राण है॥

(१७)

भाग्य, भारत का इसी सन्तान से—
धान्य-धन की वृद्धि पाकर है बढ़ा।
मखमली-चोला हरा, इस भूमि पर—
और जो प्रतिवर्ष है देती चढ़ा॥

---

*ये चौदह कला-युक्त ही थे।

(१८)

कृषि-कलाकी कीर्त्ति अति इसने बढ़ा—
कर दिया है सकल कृषकों को सबल।
और इससे हो गया अनमोल है—
इस धरा को सींच कर यह कूप-जल॥

(१९)

यह बचाती है हमें *दुर्भिक्ष में—
और रखती दूर बहु-बरसात में।
लग्न में करती वहू, वर साथ में—
तेज चल यह रात में, बारात में॥

(२०)

श्रेष्ठमाता! देख करके आपके—
वत्सगण की वीरता-क्षमता-क्षमा—
चकित होकर हो गई लज्जित महा—
चित्त में अस्थिर हुई ‡अचला-रमा॥

*दूर-दूर से अन्नादिक लाकर। आद्रता-रहित स्थान पर पहुँचा कर।
‡ बैलों में अपने से भी अधिक क्षमा-भाव देख कर पृथ्वी अचला होकर भी अस्थिरा हो गई...।

(२१)

शक्ति के, श्रम के, क्षमा के गेह यों—
भूमि पर जो हम भला पाते नहीं—
महल, मंदिर और ये ईमारतें—
दुर्ग, दुस्तर, दृष्टि में आते नहीं ॥

(२२)

पशुपना है स्वयं, कहना पशु इन्हें—
देख कर इनके रुचिर-व्यवहार को।
पशु वही है मनुज, इन पर डालता—
गौरि-*पशुपतिसे अधिक जो भार को ॥

(२३)

देवि ! इनका दुःख ऐसा देख कर—
दाह क्यों होती नही है आपके ?
श्रेष्ठतम-सन्तान भी क्या इस तरह—
भोगती है, फल, पुरातन-पाप के ॥

(२४)

क्यों न करती आप निजरक्षा स्वयं ?
क्यों तुम्हारे भाग्य पर ताले पड़े ?
आपके भक्षक बने क्यों दैत्य अब—
जब कि हैं दैत्यारि-हरि रक्षक खड़े ?

*दोनों का मिला कर ३॥ मन भार हुआ अतः इससे अधिक भार एक बैल पर नहीं रखना चाहिए।

(२५)

ले रहे उनकी परीक्षा आज क्या—
जो तुम्हारा दूध पीकर हैं बढ़े।
देह में अति-शक्ति पाकर आप से—
आज जो उन्नति-शिखर पर हैं चढ़े॥

(२६)

दीनता की हथकडी कर में चढ़ा—
दासता की पहन कर वेडी वड़ी—
वे करेंगे क्या सुरक्षा आपकी—
आफ़तों की लग रही जिन पर झड़ी॥

(२७)

किन्तु पीकर आपका पय मात्र ही—
जेल में भी चक्र को अपने चला—
आपका गुण-गान गाकर हो गए—
हैं, महात्मा आज गांधीजी भला॥

(२८)

देखिए, त्रैलोक्य-स्वामी-कृष्ण भी—
प्रकट होते हे नहीं इस काल में!!
कौन उसको मेट सकता आज है—
लिख गया जो लेख अपने भाल में।

(२६)

आप अब अपनी दशा को भूल कर—
एक मेरी प्रार्थना सुन लीजिए—
श्याम से-गोपाल से, श्रीकृष्ण से,
प्रेम से ऐसी विनय अब कीजिए—

(३०)

* नक्र-नर हैं नाश मेरा कर रहे—
भीत कर के भव्य-भारत-शक्र को।
वक्र पर हे चक्रपाणे! शीघ्र अब—
तुम चला दो चमचमाते चक्र को॥

*जल में ही है ज़ोर जिनका ऐसे मगर...।

गङ्गा-गरिमा

(१)

पावनता-आगार-शम्भु के शिर पर तूने किया विहार।
कर विहार, तू आई भू पर स्वयं उठाने पातक-भार॥
भागीरथ के तप का उज्ज्वल फल तूही है फल* देने।
पापी का बस तू आश्रय है पाप-शत्रु के असु§ लेने॥

(२)

महिमा से भी अधिक श्रेष्ठ जो रखता शब्द नागरी-कोष।
तो तेरे गुण-गण गाने में मुझको होता कुछ संतोष॥
तेरा पद इतना ऊँचा है, जितनी कोई वस्तु नहीं।
पावनतम पदार्थ है तुझसा नहीं त्रिलोकी बीच कहीं॥

---

*धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष। § प्राण।

(३)

जलचरपरथलचरफिरफणिपति,दश-दश-शतफणसहितविचित्र।
स्थित है फण पर भूमि, भूमि पर महा-कलित-कैलाश पवित्र॥
गिरिवर-रम्य-शिखर पर नन्दी जो बनता शिव का *आधार
शम्भु-शीश पर जटाजूट हैं सुषमा-शुचिता के आगार॥

(४)

ऐसे जटाजूट पर तेरी छटा छबीली छिटक रही।
वही त्रिधारा तेरी जिस पर भारत की वह धन्य मही॥
महीधरों को तोड़-फोड़ कर पल, पल कलकल करती है।
सगर‡ महीपति पुत्र-मुक्ति कर सबके पातक हरती है॥

(५)

मोक्ष बहुत से सुर देते हैं इसमें महिमा महा नहीं।
किन्तु विचित्र बात क्या तुझसी उनमें मिलती बता कहीं?
जो तिर जाता तुझको माता! वह भवसागर तिर जाता।
डूब गया जो मानव तुझ में पार भला वह क्या पाता॥

(६)

स्वीय-भक्त को एक बार ही देव एक फल देते हैं।
पर तुझसे फल कई तरह के पापी भी ले लेते हैं॥
तुझ जैसा उदार हे! जननी! और नहीं निःस्वार्थ मिला।
भारत-सुत-पालन करती तू पावन-पय को पिला, पिला॥

* सवारी। ‡ सगर राजा।

(७)

चन्दन-चर्चित-भस्मयुक्त-जन जो तुझमें मज्जन करते।
वे ही केवल मुक्ति न पाते और न निज-पातक हरते॥
किन्तु सकल-तरुओं सह, वासी* जो हैं विषधर-खग-वानर-
शोक-रहित वन स्वर्गलोक को जाते हैं शुभगति पाकर॥

(८)

‡तीन दुखों के नाश हेतु तू सदा त्रिपथगा कहलाती।
किया विष्णु-पद पावन तूने विष्णुपदी पद यों पाती॥
तेरे नामों में पावनता टपक, टपक कर बहती है।
जन्मस्थान तुझे शुचिता का सारी धरणी कहती है॥

(९)

अपना करके अहित सदा तू करती परहित लाभ महान।
मुक्ति न पाती, बहती रहती औरों को देने वरदान॥
शीतल-अमल-कमल§ में तेरे कमल नहीं खिलते कोमल।
किन्तु अतिथि के हेतु बिछाए तूने वे आसन उज्ज्वल॥

---

* जिन चन्दन वृक्षों पर सर्प रहते हैं और जिन वृक्षों के काष्ठ से भस्म बना है वे सब अपने निवासियों (सर्प पक्षी, बन्दर इत्यादि) सहित मुक्ति पाजाते हैं। चन्दन और भस्म लगा कर स्नान करने वाले केवल पुरुष ही मुक्त नहीं होते हैं। ‡ आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधि-दैविक। § जल।

(१०)

जननि ! सदा निस्स्वार्थ भाव में है स्वभाव तेरा रहता ।
मल औरों का लेकर के भी तेरा जल निर्मल रहता ।
गाऊँ महिमा भला कहाँ तक महिमा शब्द स्वयं लघुतम ।
तेरी गुरुता, मेरी लघुता हैं दोनों ही बस अनुपम ॥

(११)

गिरि-वर-नन्दिनि ! पापनिकन्दिनि ! जग-वन्दिनि ! भावों को भर ।
सुर-मद-मारिणि ! दुःख संहारिणि ! सुखकारिणि ! हे पावनतर !
गंगे ! सबको चंगे करती पातक-पट से नंगे कर ।
*भंगतरंगे ! सितरंगे ! तू भव के ‡दंगेतंगे हर§ ॥

* चपल तरङ्गों वाली । ‡ लड़ाई-झगड़े । § आवागमन ।

मयङ्क-महिमा

(१)

फैलाने सुख-शान्ति जगत में—
हे हिमकर ! हे रजनीनाथ,—
रखते तुम शीतल-सुखदायक
हिमकर-निकर सर्वदा साथ ॥

(२)

सन्तत सुधा बहाने वाला—
इस वसुधा पर सुधा-निधान !—
तुमसा और ढूँढना जग में—
है प्रयत्न का मुधा-विधान ॥

(३)

दिन में डाल अनिच्छित द्युति को—
दिनकर करता निज-उपहास।
किन्तु निशा में निशानाथ ही—
तुम फैलाते सुखद-प्रकाश॥

(४)

किसको प्राप्त हुआ है ऐसा—
महामान हे द्विज-कुल-भाल!
तुम से ही भूषित होता है—
ईश्वर का भी भाल विशाल॥

(५)

ओषधीश! करते रहते हो—
चराचरों का तुम उपकार।
विना तुम्हारे ओषधियों में—
करता कौन सुधा-सञ्चार?

(६)

पूर्णकलाधर! जो है तुममें—
क्षीण-कलाधरता का दोष—
विधि-विडम्बना ही है वह, पर—
स्तुत्य तुम्हारा है सन्तोष॥

(७)

*दोषाकर ! जो कहते तुमको—
दोषाऽऽकर वे करते भूल।
निन्दनीय लोकेश लोक में—
है यह चतुराऽऽनन प्रतिकूल॥

(८)

हे मयङ्क ! सित-मसृणता में—
हे कलङ्क की काली छाप—
महा-कलङ्कित आज हो गया—
बूढ़ा ब्रह्मा अपने आप।

(९)

रमा-उमा-सीता-राधा भी—
अपनी भूषित भृकुटि मरोर—
उपमा पाने देखा करतीं—
सदा तुम्हारे मुख की ओर॥

(१०)

तुमसे कीर्त्तिवान से करता—
कमल नहीं है वैर महान।
है वह व्रीडावान तुम्हें लख—
बन कर भी आनन-उपमान॥

---

* रात्रि को करनेवाला। अवगुण-खान।

(११)

तुम जैसा है नहीं दूसरा—
पुण्यवान-जन कहीं, महान।
त्राण-युक्त होते हों जिससे—
व्यथित-वियोगी-प्राणी—प्राण ॥

(१२)

विरह-व्यथा-विधुराएं तुमको—
सदा कोसती, कर सन्ताप।
पर विलाप वह, या कवि-कौशल-
या है वह उन्मत्त-प्रलाप ॥

(१३)

जो तुम स्मरण-सुधा से करते—
आधि-व्याधि का नहीं विचूर्ण—
तो होजाता यह जगतीतल—
प्रोषित-पतिका-शव-परिपूर्ण ॥

(१४)

धन्य, धन्य है तुम्हें, तुम्हारा—
पिता धन्य है पारावार।
जिसका हृदय तुम्हीं को देखे—
बढ़ता है हो हर्षाऽऽधार ॥

(१५)

चन्द्रदेव ! तुम इस अवनी पर—
करते नहीं [illegible]-वृष्टि।
किन्तु सुधाधाराओं की ही—
करते हो तुम शीतल वृष्टि॥

(१६)

या गङ्गा को लज्जित करने—
हरने उसका सर्व प्रभाव—
करते तुम उत्पन्न निरन्तर—
पावनतम-नव-श्वेत-पदार्थ।

(१७)

अथवा यह बतलाने, सब को—
है विधुही यश-वैभववान—
कीर्त्ति तुम्हारी ही त्रिभुवन में—
छाती है, होकर छविमान॥

(१८)

शान्ति-कान्ति के कान्त-निकेतन।
शुद्ध-सुधा के तुम आधार।
हो आगार मनोहरता के—
तुम्हीं गगन के हो शृङ्गार॥

(१६)

अपने श्रेष्ठ-कला-कौशल से—
खोल रहे हो तुम यह मर्म—
घटना बढ़ना, या परिवर्तन—
कहलाता है जग का धर्म॥

(२०)

भवमोचन-सित-नीरज-लोचन।
के तुम लोचन सुषमाऽऽगार।
हे मयङ्क ! है मञ्जुल-महिमा—
सदा तुम्हारी अपरम्पार॥

पद्मिनी-प्रलाप

(१)

प्राणेश ! मुझको छोड़ कर
एकाकिनी इस लोक में—
पल में कहाँ तुम चल बसे
करने मुझे अति शोक में ?

(२)

गृहनाथ हो तुम, शीश पर—
ग्रह नीच कैसे छा गया ?
दिननाथ हो तुम, फिर भला—
कैसे बुरा दिन आ गया ?

(३)

यह तो बताओ प्राण-धन !
मेरा यहाँ अब कौन है ?
किससे कहूँ इस कष्ट को—
अलि-आवली भी मौन है ?

(४)

हा ! हन्त ! होता ह्रास है
अति-चण्डतम-मार्तण्ड का !!
कुछ भी पता पड़ता नहीं
उस बण्ड-विधि-पाखण्ड का !!

(५)

हे मित्र ! होकर मित्र तुम
किस पर विमोहित हो गए ?
किस पद्मिनी की सेज में
निज-तेज खोने सो गए ?

(६)

हा ! दुःख-मज्जित हो गई
है आज मुझ जैसी सती !!
तुम रूप-वञ्चित हो गए—
होकर महा-ज्ञानी-यती !!

(७)

हे उमाकर! तुम शीत कर
थे शान्त सुखदा हो रहे;
पर उष्माकर बन कर तुम्हीं
अब शान्ति भी हो खो रहे॥

(८)

यह नभ नहीं है छा गया—
हरने सदा की पीतिमा।
मेरी महा-विरहाऽग्नि से—
है धूम की यह नीलिमा॥

(९)

जिसको तपाते थे नहीं—
हा! तपन जैसे नाथ भी।
उसको जलाता तपन बन
अब पद्मसर का पाथ भी।

(१०)

तुमने तुम्हारे तेज को
क्या चन्द्र को है दे दिया?
उसके सुधा-शीतत्व को
क्या पास अपने ले लिया?

(११)

मुझको करों से स्पर्श कर—
यह डालता है त्रास में॥
है मृत्यु मेरी छिप रही—
इसके महा-मृदु-हास में॥

(१२)

आओ, बचाओ तरणि! तुम
जीवन-तरणि क्षय हो रही।
हे पद्म-बान्धव! पद्मिनी
है प्राण अपने खो रही॥

(१३)

हे अरुण! अब तो अरुण-मुख
अपना दिखाओ प्रेम से।
भेजो अरुण को अब मुझे—
संयुक्त करने क्षेम से॥

(१४)

प्रिय के विना मैं पद्मिनी—
अति-कान्त-कोमल-कामिनी—
कैसे विताऊँ शीत की—
इस चाँदनी में यामिनी?

(१५)

रवि ने करुण-आलाप सुन—
प्रिय-अरुण को आगे किया—
आँसू प्रिया के पोंछ फिर—
उसको प्रफुल्लित कर दिया ॥

कुमुदिनि-क्रन्दन

(१)

कहाँ, गये ? हा ! कहाँ गये तुम ? मेरे प्यारे जीवन-नाथ !
इस-हेमन्त काल में तुमने छोड़ दिया क्यों मेरा साथ? ।
आओ, आओ मुझे बचाओ नाथ ! बढ़ाओ अपना हाथ ।
बिरहानल को बुझा न सकता जल होकर भी लोचन-पाथ ।

(२)

मरना आज पड़ेगा, करना, मृदुलांगी को अङ्गीकार ।
मेरे प्राण रहेंगे कैसे ? जब न रहे तुम प्राणाधार !
तुम जैसा है और न कोई गौरव-गुण-गण का आगार ।
तुम जैसे तो एक तुम्हीं हो हे पावनता-पारावार !

(३)

तुम्हें देखकर किया, बनाने तुम से अधिक स्वरूप-निधान—
—चतुर-वदन-बुध-चतुरानन ने मदन-वदन का सुखद-विधान,
किन्तु नहीं वह सफल हो सका तुम हो ऐसे महिमावान।
महा मनोहर मुख के तुम ही अब भी होते हो उपमान।

(४)

अन्ध गन्धवाही चलता है गन्ध-हीन वन शीत, अमन्द।
मन्द-भागिनी का हरता है यह आनन्द मञ्जु-मकरन्द!
विरह-फन्द को रोप कहाँपर चले गये तुम हे सुखकन्द!
तुमको होना नहीं चाहिये हे प्रियतम! ऐसे स्वच्छन्द।

(५)

नाथ! मृगाङ्क नाम मिथ्या है नहीं तुम्हारे अंक कलंक।
*सुधा-सिन्धु-गाम्भीर्य बताने है वह विधिकृत-श्यामल-अंक।
अथवा शुद्ध सुधा में है वह जग-लावण्य-राशि का पंक।
जो माधुर्य मध्य मिलता है ‖विकृत-नीलिमा-सहित, मयंक!

(६)

देखो मेरी मृदुल देह पर विरह-व्यथा दुःखद व्यापार।
स्वेद होगया जमकर हिम सम व्याकुलता-शीतलताकार।
यह दिनकर-कर-निकर-स्पर्श से टपक रहा अब वारम्बार।
होजावेगा मलागार यों जलागार यह होकर क्षार।

* नक्सों में अधिक गहराई बतलाने के लिए समुद्र का रङ्ग बहुत नीला कर देते हैं। ‖ लावण्य के मिलने पर सुधा में विकार हो जाता है। दूध फटने पर नीला होता है।

(७)

इसका फल बस यही मिलेगा आवेंगे *कुम्भज बलवान।
सर को नूतन सिन्धु समझकर करने को शीतल जलपान।
साथ साथ ही हो जावेगा जिससे मेरा भी बलिदान।
आओ ऐसा मत होने दो होकर तुम धीमान महान।

(८)

देख दुर्दशा निज दासी की कुछ तो दया करो निष्पाप!
क्या अपराध किया है मैंने देते हो जिससे सन्ताप।
चले गये हो आज व्योम से व्योम-विहारी होकर आप।
मेरे रोम-रोम में रमता किन्तु कलाधर-कला-कलाप।

(९)

मुझे मनाने को कहते थे "प्रिये! देख तू मेरी ओर।
मानिनि! क्यों तू मुझ द्विजपति से करती है व्यवहार कठोर।
सुधा-पयद होकर औरों का मैं हूँ तेरा मञ्जुल-मोर।
चन्द्र विश्व का होकर भी मैं तेरा तो हूँ चकित चकोर।

(१०)

सिन्धुजात-हिमकर होकर मैं और सुधाका आदि-निधान।
तेरा एक प्रेम का प्यासा मैं हूँ ज्वाला-तप्त महान।
मुझ औषधपति-रोग-नाश-हित तूही देगी औषध-दान।
शिव-महेश-पूजित को-मुझको-तू अपना पद-सेवक मान।"

---

* अगस्त्य ऋषि।

(११)

कहाँ गये ये वचन तुम्हारे प्राणनाथ ! कुछ करो बखान ?
विरह-बाण क्यों लगा रहे तुम ब्राह्मण होकर व्याध समान ?
क्यों अबला का गला घोटते अन्य-स्थान पर कर प्रस्थान ?
आओ कुमुदिनि-कान्त देखलो कान्त-कुमुदिनी का अवसान।

(१२)

है कलिका से कुसुम, कुसुम से किशलय होता कठिन महान।
किशलय से भी कठिन काष्ठ है, कठिन काष्ठ से है पाषाण।
लोह उपल से कठिन, लोह से वज्र कठिन होता द्युतिमान।
और वज्र से महा कठिन है हृदय तुम्हारा सुधा निधान।

(१३)

क्यों ऐसे कठोर होते हो निज वचनों को करके भङ्ग ?
बिना तुम्हारे बढ़ता मेरे अङ्ग-अङ्ग में काम अनंग।
हिमकर होकर मुझे जलाते, है यह निपट निराला ढंग।
और व्योम-वासी होकर तुम रहते सर में मेरे संग।

(१४)

छिटका कर निज चारु-चन्द्रिका करो प्राणपति मेरा त्राण।
आओ चंद्र ! बचाओ अबतो चन्द्रोदय से मेरे प्राण।
बिना तुम्हारे सार-हीन है यह संसार श्मशान-समान।
तुम ही मेरे प्राण, मान हो, तुम ही ज्ञान, ध्यान, विज्ञान।

वृक्ष-वैचित्र्य

(१)

कौन भला उपकार हमारा करता तरुवर,
अगर तुम्हारा जन्म नहीं होता इस भू पर ?
तुम ही जीवित रत्न, रत्नगर्भा* के सुन्दर।
वसुधा|| के वसु तुम्हीं दिखाई देते हित-कर॥

(२)

हमीं नहीं, पर कीट, भ्रमर भी गुणगण गाते,
क्योंकि तुम्हारा दिया हुआ अन्नोदक खाते॥
सह कर भार अपार फूल, फल दलसे लदकर।
छाया देते तुम्हीं प्राणिजन-काया-दुख-हर॥

---

* रत्नों को गर्भ में रखनेवाली पृथ्वी। ||धन को धारण करनेवाली धरणी के (वसु) धन।

(३)

शाखा-कर को हिला पथिक को कौन बुलाता ?
बिना तुम्हारे कौन खगों के दुःख भुलाता ?
पलने में जन कौन प्रेम से उन्हें झुलाता ?
उनको माता-सदृश देह पर कौन सुलाता ?

(४)

हैं फल-दल से लदी तुम्हारी ये शाख-वर—
*शाखामृग-मृगहेतु §कलित कानन-क्रीडा-घर ॥
जो तुम होते नहीं कहाँ था आँख मूँदना—
कपि-शिशुओं के लिए फाँदना और कूदना ॥

(५)

भारत का शिर भला तुम्हीं ने उच्च किया है।
उसके सुतऽ को सर्वप्रथम निज भेद दिया है॥
है, विचित्रता महा तुम्हारे तनु में पाती।
इस काया की नहीं समझ में माया आती॥

* वन के समान खेलने का घर। § ।शाखामृगवलीमुखाः इत्यऽमर०, वृक्ष की शाखाओं पर बानर उसी प्रकार क्रीडा करते हैं जिस प्रकार मृग वन में। इससे ये शाखामृग हैं। ऽजगदीशचन्द्र बोस।

(६)

आँख कान के विना देखते हो तुम सुनते।
विना शीश के, शीश दुःख से कैसे धुनते ?
हृदय विना सुख, दुःख किस तरह अनुभव करते ?
कैसे कर के विना वुला कर चिन्ता हरते ?

(७)

चरणों* से भी, कहो, कौन हैं खाते, पीते ?
पर, तुम खा, पी किस प्रकार पैरों से जीते ?
जाने कैसे वदन विना तुम वचन वोलते ?
कैसे वाणी विना हृदय के भाव खोलते ?

(८)

पादप ! रख कर पैर ‡अगम तुम क्यों कहलाते ?
कहा महीरुह,‖ अगम, §महीधर पर भी पाते।
महाकायता स्वीय—वीज में कैसे भरते ?
§काष्ठ कहा कर अग्नि किस तरह पैदा करते ?

*वृक्ष को पैरों से पीने वाला अर्थात् पादप कहते हैं। ‡ न चलने-वाला। ‖ज़मीन में उगनेवाला। §पर्वत। § यज्ञ में दो लकड़ियों से ही आग पैदा करते हैं।

(६)

धन्य, धन्य है तुम्हें, तुम्हारी इस माया को—
जड़-शाखा को, फूल-फलों को, दल-छाया को॥
है, केवल जगदीश* जानता भेद तुम्हारा।
धन्य, धन्य है उन्हें धन्य है भारत सारा॥

(१०)

जो तुम होते नहीं, कहाँ थे मन्दिर सुन्दर?
गिर जाते ये बिना तुम्हारे घर, गिरजाघर॥
क्षय हो नाव जहाज, पुलों के टुकड़े होते।
चर्खा चलता नहीं, रेलवे वाले रोते॥

(११)

कृष्ण-मुरारी हुए तुम्हीं से वंशी-धारी।
कहलाए श्रीराम धनुर्धारी-असुरारी॥
‖ नन्दन-वन-सौन्दर्य तुम्हीं से बढ़ता सारा।
बिना तुम्हारे कहाँ ठहरती § गङ्गा-धारा॥

* ईश्वर और जगदीशचन्द्र बोस— ‖नन्दनं वनम् इत्यमरः इन्द्र का बाग़। §ब्रह्मा के काष्ठ-कमण्डलु में गंगा का निवास था।

(१२)

नारद की भी भक्ति तुम्हीं से बनी अदीना।
वीणा-धारिणि-गिरा बजाती गुण गा, वीणा॥
देने वाले तुम्हीं *श्वास को आज सहारा।
नमस्कार तरुदेव ! तुम्हें सौ बार हमारा॥

(१३)

जो तुम होते नहीं सभी थे आज §दिगम्बर।
"मन्चेस्टर" होता न कभी इस तरह डिगम्बर॥
पड़ती नहीं कदापि महीमाता पर चद्दर।
नहीं पहनते आज कभी गान्धी जी खद्दर॥

(१४)

सच कहता हूँ, वृक्षदेव ! हे जन-उपकारी !
बढ़ा रहे हो आप हमारी शोभा सारी॥
बिना तुम्हारे कृष्ण कहाँ से पाते स्यन्दन।
जगवन्दन को कभी न मिलता तुलसी, चन्दन॥

(१५)

§इस नाटक का खेल देखती कैसे जनता ?
क्योंकि मञ्च तो बिना तुम्हारे कभी न बनता।
लीलामय के सदृश तुम्हारी भी है लीला।
पड़ जाता तुम बिना हमारा चर्खा ढीला॥

*आक्सीजन, प्राणवायु। § नग्न—नंगे, कपास के न होने से।
§संसार रूपी नाटक घर और भारतमें खादी-प्रचारक नाटक जो बिना चर्खे के नहीं खेला जा सकता।

(१६)

वड़े भाग्य से चरण हमें जिनका मिलना है।
जिसका करके ध्यान योगिजन-मन खिलता है॥
उस पद्धारी-मञ्जु-मुरारी-श्रेष्ठ-भाल पर—
जा चढ़ते हो तुम्हीं भक्त वन, देह पिसा कर॥

(१७)

धन्य तुम्हारा भाग्य, धन्य सुत-पत्र सुमन हैं।
करते लेकर जिन्हें विष्णु का सव पूजन है॥
जनक-वाटिका वीच किस तरह जाते रघुवर?
सीता-दर्शन हेतु वने मिष तुम्हीं पुष्पधर!

(१८)

सुमन विना श्रीकृष्ण किस तरह लीला करते?
किसकी माला वना कष्ट राधा का हरते?
देनेवाले पार जगत का जो कहलाते—
वे गङ्गा का पार* राम तुमसे ही पाते॥

(१९)

इससे हे तरु-देव! विनय मैं तुमसे करता।
उपकारी के विना नहीं दुख कोई हरता॥
भव-सागर के पार हेतु तुम महा-वज्र-सम—
वनना मेरे लिए †तरणि जगतारणि अनुपम॥

*वनोवास में नाव द्वारा भगवान ने गंगा पार की थी। †नाव।

(२०)

टूटे फूटे नहीं और जो डूबे जल में।
चल कर अपने आप पार दे मुझे विपल में॥
मैं भी तुमको शीघ्र खींच लूँगा फिर तट पर।
तुम हम दोनों पार इस तरह होंगे तरु-वर!

गिरि-गौरव

(१)

कौन धारण भूमि को करता भला—
भाल* बन कर भव्य-भारतवर्ष का ?
कौन है ‡नग-नाथ! नभ को नापता—
इस धरा को दान कर उत्कर्ष का ??

(२)

दिव्य-भीषण-नाग-बन्धन¶ में बँधे—
क्षीर-सागर में अलौकिक-नृत्य कर—
रत्न चौदह प्रगट तुमने थे किये
धन्य है, हे देव दानव-दुःख-हर!

---

*हिमालय। ‡पर्वत स्वामी। ¶बासुकि जो समुद्र-मथन में काम आया था।

(३)

इन्द्र से अरि का महा अपमान कर,
विष्णु से गोपाल को गौरव दिया।
*एक उँगली पर खड़े होकर भला—
आपने गोपाल-गण पालन किया॥

(४)

सत्य कहता हूँ तुम्हें गिरिदेव! मैं,
आप सा हितकर न इस संसार में।
हे महीधर! इस मही पर देख लो
कौन तुमसे है बड़ा आकार में?

(५)

दुःख-दायक इस बुढ़ापे में हमें—
कौन पकड़ाता, कहो, लकड़ी भला।
भूमि सड़ उठती शवों§ से भूमिधर!
द्विज¶ न होते सौख्य में उनको जला॥

(६)

घर उजड़ जाते, बिगड़ जाते सभी—
और चूल्हे भी कभी जलते नहीं।
काष्ठ जो करते नहीं उत्पन्न तुम—
तो न जीता शीत में कोई कहीं॥

*गोवर्द्धन पर्वत। §लाशों। ¶ब्राह्मणादि सब वर्ण।

(७)

जो न तुम होते यहाँ तो औषधें—
हो न सकती यज्ञ के हित भी *शमी।
वैद्यजी का भी दिवाला निकलता
और हो जाती हकीमी की कमी॥

(८)

तुम वनों को देह पर धारण किये—
क्या अनूठी हरित छवि देते सदा।
झेंपते हैं स्वर्ग के सब दृश्य भी—
देख कर अतुलित तुम्हारी सम्पदा॥

(९)

दृष्टि में आता तुम्हारे ही विना—
गर्मियों में और बेढव मामला।
गौर-गण के साथ अपने देश को—
लौट जाते लाट साहब‡ भी भला॥

---

* वृक्षविशेष जो—अपने में अग्नि रखता है। ‡शिमला मन्सूरी आदि स्थानों के अभाव से।

(१०)

ललित-ललना की सलोनी मूर्ति का—
चल न सकता मन्त्र फिर संसार पर।
क्योंकि वर-भूषण उसे मिलते नहीं—
और दूषण सदृश होते कनक-कर* ॥

(११)

सब तरसते आज पैसे के बिना—
तुम नहीं होते मही पर जो कहीं।
मुहर, गिन्नी का कहां था देखना—
एक अन्नी भी हमें मिलती नहीं ॥

(१२)

कारख़ाने और ये सारी कलें,
दृष्टिगत होतीं मिले भी ये कहाँ ?
लोह आदिक धातुएं इतनी अमित—
तुम नहीं उत्पन्न करते जो यहाँ ॥

(१३)

जान्हवी-सी श्रेष्ठ नदियों को भला—
कौन इस भू पर बहाता, भूमिधर !
और देता, सर्वदा, रहता हमें—
कौन औषध, काष्ठ, पत्थर धातु-वर ?

---

*सुनार, समाज में दूषण के समान, चाँदी-सोने के बिना अकर्मण्यता के कारण हो जाते ।

(१४)

आप का उपकार हम भूलें नहीं—
क्योंकि भारत आप से ही है हरा।
आपका ही अन्न, जल इस देह की—
सभी नस-नस और रग-रग में भरा॥

(१५)

शत्रु कोई भी हमें ललकारने—
आज तक आया न तुमको लाँघ कर।
नष्ट करने शस्य को आई नहीं—
वायु *ध्रुव से शीत में अति शीत-तर॥

(१६)

गर्मियों में आप का ही आँसरा—
ले रहे हम, और पीते शीत-जल।
और पावस‖ में पकड़ कर मेघ-गण—
आप ही वर्षा रहे वर्षा अमल॥

---

*उत्तरीय ध्रुव से (North pole) से शीतकाल में विनाशकारी शीतल वायु चलती है जो तिब्बत तक आकर हिमालय से रुक जाती है। ‖ वर्षाऋतु।

(१७)

भाग्य भारत का हमारा गिरिपते !—
एक तुम पर ही रहे निर्भर सदा।
क्या धरा है हा ! हमारे पास तो—
आप ही की है धरा* यह सम्पदा॥

(१८)

आपको पर्वत कहें या देवता—
आप तो साक्षात् हरि—अवतार हो।
आपने वैकुण्ठ‖ भारत को किया—
आप ही तो शम्भु-विधि-आधार हो॥

(१९)

हे §धराधर-नाथ ! करता हूँ यही—
एक तुम से, मैं, विनय कर जोड़ कर।
¶पार्वती को लो गुफा में तुम छिपा—
एक ही दिन के लिये हे शैलवर !

---

*पृथ्वी। ‖कैलाश-शिव-लोक, बर्मा-ब्रह्मलोक और भारत (वैकुण्ठ) विष्णु-लोक है। §पर्वतराज। ¶शिवजी एक पल भी पार्वती के बिना नहीं रहते हैं, अतः उसको ढूँढ़ने वे यहाँ अवश्य आवेंगे और तीसरा नेत्र खोल कर कामदेव के समान अन्यायियों को नष्ट कर देंगे।

(२०)

शम्भु जिससे ढूँढने आवें उन्हें—
क्रोध में भर और दिखला त्रास को।
खोल लोचन को करें स्मर* के सदृश—
शीघ्र अत्याचारियों के नाश को॥

* कामदेव।

सुखद-सौन्दर्य

(१)

मारण-मोहन-वशीकरण जो
कहलाते हैं मंत्र महान—
हे सौन्दर्य! भरी रहती है
तुझमें उनकी शक्ति प्रधान॥

(२)

एक बात है और अनूठी
तुझमें मिलती हे गुणधाम!
एकाकी रह कर भी करता
तू तीनों मंत्रों का काम॥

(३)

अद्वितीय तेरी मादकता
तुझ में ही बसती भरपूर।
दृश्य और द्रष्टा दोनों को
करता तू ही मद में चूर॥

(४)

हे मन-मोहन ! बन करके भी
कई गुणों का आदि-निधान—
तू कहलाता जगतीतल पर—
महा-अवगुणों की भी खान॥

(५)

वाणीहत ! जो तू न दिखाता—
वाणी-वपु पर निज व्यापार—
तो क्यों बूढ़ा ब्रह्मा करता—
कन्या पर भी अत्याचार ?

(६)

रमणी-मणि चपला-कमला को
अचला करने को अचिरात—
तेरे ही हित हरि हारे हैं—
झेल हृदय पर भृगु की लात॥

(७)

गोरी-गोरी उस गौरी को
नवा-नवा कर अपना शीश—
तेरे हित अर्धाङ्ग हो गए
कामवाम होकर भी ईश ॥

(८)

जो तू लेता नहीं, सुन्दरी—
गौतम-नारी को निज-अङ्क—
तो क्यों होता विश्व-विमोहन—
सुधासिन्धु, सकलङ्क, मयङ्क ॥

(९)

जनकनन्दिनी श्रीसीता पर
लख तेरा ही वपु ललाम—
जनक-वाटिका में ही विचलित
स्वयं होगए थे श्रीराम ॥

(१०)

विद्या-बुद्धि-निधान, वेदविद्,
शक्तिवान, अतुलित-बलवान—
ऐसा रावण तेरे कारण
स्वकर कर गया निज-अवसान ॥

(११)

औरों की क्या कथा, अलौकिक
योगीश्वर, ईश्वर बलधाम—
बने रहे थे गोपीवल्लभ
तेरे वश होकर श्रीश्याम ॥

(१२)

हे सौन्दर्य ! भयङ्कर होता
तेरा दृढ़तम-जाल विशाल।
जिसके बन्धन को न काटता—
संहारी भी काल कराल ॥

(१३)

रहता है तेरा सुखदायक
शुद्ध-सुधा-सम-मधुर-स्वभाव ।
आशीविष-विष-विषम-सदृश पर,
होता उसका कभी प्रभाव ॥

(१४)

कितने ही सतियों का तूने—
नष्ट किया है सत्य-सतीत्व।
कितने ही पतियों का तूने—
भ्रष्ट किया है पुष्ट-पतीत्व ॥

(१५)

हे घातक ! निज-घातकता में
तू ही है अपना उपमान।
चले गए तेरे ही द्वारा
श्रेष्ठ-"पद्मिनी*"-पावन-प्राण ॥

(१६)

घोर-घोर-घमसान हुए हैं—
तेरे हेतु कई संग्राम।
कटे मरे हैं तेरे बल से
भाई भाई होकर वाम ॥

(१७)

हे सौन्दर्य ! सुधा को तेरी
पीकर के नरनाग बलात—
वसुधा पर करते रहते हैं
अत्याचार और उत्पात ॥

---

* अलाउद्दीन खिलजी जैसे महानीच से अपने सतीत्व की रक्षा करने वाली उदयपुर की सीता-स्वरूपा महाराणी।

(१८)

नव-जीवन तुझसे पाता है
वह मानव जो मरणासन्न।
मरता है जो तुझ पर वह तो
सदा बना रहता आपन्न॥

(१९)

कलित-कोकिला-कान्त-कूक से—
कर कर के तू ही सहवास—
विरह-व्यथा-विधुरा-जीवन का
कर देता है पल में नाश॥

(२०)

नीरज भी तेरे ही द्वारा
अलि-आवलि का सुनकर गान—
मत्त बना, कर बन्द कोष में
कर देता उसका अवसान॥

(२१)

तू झूँठा है, दो दिन का है,
तुझ में नहीं धरा कुछ तत्व।
महा-मान वाले हो जाते
प्राणी पाकर तेरा सत्व।

(२२)

अज्ञानी ही वे कहलाते
लेकर जो तेरा पाखण्ड—
ठगते हैं भोले-भालों को
करके मन में महा-घमण्ड ॥

(२३)

बड़े वेधनेवाले होते
तीखे तीखे तेरे बाण।
उनको भी जो सह जाते हैं
हैं वेही सच्चे बलवान ॥

उस अनन्त के सम ही सन्तत
तू अनन्तनामा है धन्य।
अरे सुखद-सौन्दर्य! रूप तू
तू ही सुषमा-छवि-लावण्य ॥

—

कराल-काल

(१)

देवी-देव-अदेव-क्षयङ्कर,

जड-जङ्गम-मय-विश्व-लयङ्कर,

भीषणतम के लिए भयङ्कर,

महाजयी का भी विजयङ्कर,

तू ही कहलाता है जग में—

हे करालतम-कुत्सित-काल !

(२)

चपला जैसे चञ्चल-गामी,

कामी-क्रोधी-गुणी-अकामी,

धनदोपम-धन के भी स्वामी,

जेता, नेता नामी नामी,

तेरे आगे सब हारे हैं—

हे करालतम-कुत्सित-काल !

(३)

दानी-मानी-धनी दीनजन,
ज्ञानी-ध्यानी-बुद्धि-हीन-जन,
महाकाय या क्षीण-पीन-जन,
मोद मग्न या दुःख-लीन-जन,
सारे तुझसे भय खाते हैं—
हे करालतम-कुत्सित-काल

(४)

तू स-वलों को मार गिराता।
नहीं वृद्ध पर दया दिखाता॥
अवला का भी गला दवाता।
निर्वल शिशु को भी खा जाता॥
करुणाहीन नहीं है तुझसा—
हे करालतम-कुत्सित-काल !

(५)

कोकिल की वह भोली भोली—
महा रसीली मीठी वोली।
गुञ्जित-अलियों की भी टोली—
नव-नलिनों से निरी-ठठोली।
अधिक-समय तक तुझे न भाती—
हे करालतम-कुत्सित-काल !

(६)

कल-कञ्जों की मञ्जुल-माया।
फुल्ल-पद्मिनी उनकी जाया।
वट-पीपल की शीतल-छाया।
चन्दन-चारु-सुगन्धित-काया।
दो दिन ही निज छटा दिखातीं—
हे करालतम-कुत्सित-काल!

(७)

कानन-हिम से युक्त धराधर,
वापी-कूप-नदी—नद—सागर,
सरसीरुह-संयुक्त—सरोवर,
दुर्ग विदुर्गम, बड़े-बड़े घर
नहीं ठहरते तेरे सम्मुख—
हे करालतम-कुत्सित-काल!

(८)

तू बल से भरपूर बना है।
धीर-वीर-वर-शूर बना है।
क्यों तू ऐसा क्रूर बना है!
क्यों तू मद में चूर बना है?
तेरे से भी ईश बड़े हैं
हे करालतम-कुत्सित-काल!

कच्ची-कली

(१)

माली ! तू है महा-कठोर।
फूलों का है पक्का चोर।
करता है तू पातक घोर।
नहीं देखता मेरी ओर।
छोड़ छोड़, मत तोड़ मुझे तू—
मैं हूँ कच्ची-कली अभी॥

(२)

कहाँ गया है तेरा ज्ञान?
उत्तम-धर्म दया को जान।
प्राण-दान है श्रेष्ठ महान।
क्षयकारी होता अभिमान।
अन्ध ! गन्ध-मकरन्द नहीं है—
मैं हूँ कच्ची-कली अभी॥

(३)

मुझसे क्या भाण्डार भरेगा ?
निर्धनता भी तू न हरेगा।
क्या तू यम से नहीं डरेगा—
ध्यान पाप का नहीं धरेगा ?
अधिक कहूँ क्या तुझसे माली!
मैं हूँ कच्ची-कली अभी॥

(४)

सोने की यह नहीं डली है।
फिरती रहती गली गली है।
तू क्या हरता दुष्ट-छली ! है—
सब कुछ करता काल बली है।
मुझे नहीं कोई भी लेगा—
मैं हूँ कच्ची-कली अभी॥

(५)

सरघाएँ* उड़ती हैं भिन भिन।
झूम रहे हैं भौंरे छिन छिन।

* मधुमक्षिका।

चूम रहे हैं मुझको गिन गिन।
दुनिया में हैं सारे दो दिन।
किन्तु लगी रहने दे मुझको—
मैं हूँ कच्ची-कली अभी॥

(६)

आज नींद जो सुख की सोते—
कल वे ही खाते हैं गोते।
रोते हँसते, हँसते रोते।
सब दिन नहीं एक से होते।
क्या जानूं दुनियाँ की बातें—
मैं हूँ कच्ची-कली अभी॥

(७)

एक दिवस तुझको भी खपना।
लोहे के खम्भों से तपना।
जीवन है यह सारा सपना।
कोई नही यहाँ पर अपना।
अरे क्रूर! करुणा कर मुझ पर—
मैं हूँ कच्ची—कली अभी॥

(८)

परमेश्वर ! तू है वलशाली।
तू ने सवकी आफ़त टाली।
डोल रहा तू डाली-डाली।
पात-पात में तेरी लाली।
हे वनमाली ! मुझे वचा तू—
मैं हूँ कच्ची-कली अभी॥

मानवकुञ्ज

वर-वन्दना

(१)

दयामय ! देदो यह वरदान।

भारत की उन्नति होजावे, देश-राज का यह पद पावे,
इसका सुयश भूमि पर छावे, फिर से यह सुमार्ग पर आवे-
होवे यह धन-बल की खान।
दयामय ! देदो यह वरदान॥

(२)

सब लोकों का होकर प्यारा, अमर रहे यह देश हमारा,
द्वेषभाव मिट करके सारा, इसमें बहे प्रेम की धारा—
बन जावे यह ज्ञान-निधान।
दयामय ! देदो यह वरदान॥

मातृ-ममता

(१)

मेरे राम ! मेरे वत्स ! पीर को मिटाके मेरी,
वैरी को फिर से निज-वीरता जनादे तू।
तान, तान कान तक बड़े, बड़े तीक्ष्ण-बाण—
उनका वितान एक मुझ पै तनादे तू।
दानव-विनाश-हेतु ओरे दैत्याऽरि ! मेरे,
अपने इन भक्तों को भी वेग से मनादे तू।
आव, आव काम*-राम ! मेरे घन-श्याम-राम !
आकर निष्काम निज-मात को बनादे तू॥

* कामदेव के समान सुन्दर (अभिराम)।

(२)

मेरे कृष्ण ! मेरे वत्स ! देकर स्वातन्त्र्य मुझे—
सोते हुए सुतों को भी आकर जगादे तू।
देवकी के फंद काटे, मेरे क्यों न काटता है ?
ऐसी उदासीनता को अब तो ठगादे तू।
एक नहीं, बीसों कंस करते विध्वंस मेरा,
होकर निःशङ्क, *बङ्क इनको भगादे तू।
ओरे नँदलाल ! मेरे लाल ! हे कन्हैया ! आव,
मैया की, किनारे आज, नैया को लगादे तू॥

*टेढ़ा; व्यञ्जना से (ज़बरदस्त दुश्मन) बलवान वैरी।

पावन-परिचय

(१)

सरस्वती के ही सेवक हैं,
हम लक्ष्मी के दास नहीं।
कमला तो चपला होती है,
उसका कुछ विश्वास नहीं।

(२)

श्यामरंग में रँगे हुए हम—
काली कमलीवाले हैं।
देहमात्र से काले हैं, पर—
नहीं हृदय के काले हैं।

(३)

सब देशों के गुरु होकर हम—
आज शिष्य कहलाते हैं।
उन्नत होकर नत होते हैं,
अवनति-पथ पर जाते हैं।

(४)

एक सूत्र में बँधकर भी हम—
रखते ढंग निराले हैं।
एक भाव में रहकर भी हम—
पड़े फूट के पाले हैं।

(५)

जो विदेह* होकर देही हैं—
ऐसे हम ही योगी हैं।
हम विदेहजा§ तजनेवाले—
प्रजा-प्रेम के रोगी हैं।

---

* राजा जनक। § जगज्जननी श्रीजानकी का त्याग करनेवाले आदर्श प्रजाप्रेमी श्रीरामचन्द्र।

(६)

विश्वेश्वर होकर भी तो हम—
गोपालक लघु बालक हैं।
योगीश्वर-गोस्वामी* होकर—
गोपीप्रिय-गोपालक हैं।

(७)

जिसके बल से काँप रहे सब—
सुर-नरवीर-निशाचर हैं।
वारिधि को भी लाँघ गया जो,
ऐसे हम ही वानर हैं।

(८)

रमारमण-वाहन‡ बनता जो,
हम तो वही विहंगम हैं।
रमा-सुरक्षा करनेवाले—
हम ही गीध‖ मनोरम हैं।

---

* श्रीकृष्णचन्द्र। ‡ गरुड़। ‖ लक्ष्मीस्वरूपा श्रीसीता की र[क्षा]
करनेवाला गीधराज जटायु।

(६)

शीश चढ़ाते जिसे प्रेम से,
यदुनन्दन जगवन्दन हैं।
गन्धसार-शीतल-सुखदायक,
ऐसे हम ही चन्दन* हैं।

(१०)

भारतवासी हम कहलाते—
जो श्रमजीवी-स्वेदज§ हैं।
अविनाशी काशीवासी के
पद-नीरज की हम रज हैं।

*चन्दन विशेषकर भारत में ही होता है। §जरायुज ,अण्डज, उद्भिद् और स्वेदज—इन चार प्रकार की योनियों के श्रेष्ठतम प्राणी सबसे पहले भारत में ही हुए हैं—ऐसा विदेशी विद्वान् भी मानते हैं।

दशा-दर्शन

(ग़ज़ल)

(१)

निवासी आज भारत के कहो क्या काम करते है ?
न बिलकुल डूबते ही है न भवसागर से तरते हैं॥
कहीं हड़ताल करते हैं, कही स्वागत *"कमीशन" का
कहो, क्यों कान अपने ही करोंसे वे कतरते हैं॥

(२)

महा-भारत मचाने को करें वे कृष्ण से नफ़रत,
नवाते शीश पूजा कर, भला गोरे पै मरते हैं॥

(३)

कटा कर नाक भी, धारण किए हैं आज नकटाई,
सफ़ाचट मूँछ करके भी वही दम आज भरते हैं॥

---

* साईमन कमीशन जो भारत में १९२८ में आया था।

(४)

न जाने धर्म औरों का, न अपना ही समझते हैं,
चबीना छोड़ कर, बिस्कुट ख़ुशी से ख़ूब चरते हैं॥

(५)

न ख़ुद में अक्ल होती है, न मानें शास्त्र-वेदों की,
भला हनुमान कहलाकर बली बन्दर से डरते हैं॥

(६)

विदेशी ही हितैषी है, यही सब मन्त्र जपते हैं,
भलाई चाहने वाले भले भाई अखरते हैं॥

(७)

नहीं निज पूर्वजों की ये कभी भी बात मानेंगे,
उसी को सुन विदेशी से युगल लोचन उघरते हैं॥

(८)

नहीं है आत्म-बल कुछ भी, महा अपमान सहते हैं,
सम्हलते हैं नहीं, गिरते, दिनों दिन बस पछरते हैं॥

(९)

जगाओ, और ख़ुद जागो, नहीं सोने से अब मतलब,
अभी सोने से, सोने को लुटेरे आज हरते हैं॥

(१०)

उठो अब, फिर न मिलने हैं तुम्हें मज़दूर रोने को,
तुम्हारी देख यह हालत हमारे नेत्र झरते हैं॥

भव्य-भारत

(१)

दूर दूर के देशों को भी खाने को देता तू अन्न।
अपने को भूखा रख कर भी रखता है तू उन्हें प्रसन्न॥
ऐसा उपकारी न कहीं भी हमें दिखाई देता है।
वैरी की भी नौका को जो भव-सागर से खेता है॥

(२)

तुझ जैसा विद्वान, अनुभवी, कहीं नहीं ऐसा गुणवान।
बुद्धिमान तू अद्वितीय है और अलौकिक है छविमान॥
हे भारत! है गुरुवर तूही सब देशों का कहलाता।
मानव-कुल है बस तुझसे ही ब्रह्म-ज्ञान-शिक्षा पाता॥

(३)

तेरी शोभा देख, स्वर्ग भी अपने आप लजाता है।
भूपर ऐसा देश दूसरा कहीं न हमको पाता है॥
हिमगिरि जैसा शैल कहाँ है, गङ्गा जैसी नदी, पवित्र ?
कहाँ उर्वरा धरणी ऐसी अति-पावनतम और विचित्र ?

(४)

महिमा कहे कहाँ तक तेरी और कहाँ तक गुण गावें ?
तेरे यश के महा-सिन्धु का पार, बता, कैसे पावें ?
औरोंकी क्या, स्वयं विष्णुने लिए कई तुझ पर अवतार।
मान तुझेही सब से उत्तम पावनता-शोभा-आगार॥

(५)

ऐसा होने पर भी तुझको क्यों अवनत जन कहते हैं ?
सच है, वे अज्ञान-सिन्धु में कहने वाले बहते हैं॥
तेरा बाल न बांका होगा देशराज ! हे भारतवर्ष !
शस्त्र उठाकर मत बतलाना शिष्यों को अपना उत्कर्ष॥

(६)

होगा जयी अन्त में तू ही इसी अहिंसा-व्रत-द्वारा।
है वाणी से बड़ी मौन ही जिसके वश्य जगत सारा॥
प्रण में पक्का तुझे देख कर चकित हो रहा है संसार।
भक्षक तेरा क्या कर लेंगे, हैं रक्षक जब जगदाधार॥

भीषण-भावना

(१)

"कौन मुझे बूढ़ा कहता है, मैं तो हूँ बलवान जवान।
जो अज्ञानी नहीं मानता, वह आकर करले पहिचान।
जो असभ्य बतलाता मुझको, वही नहीं है सभ्य यथार्थ—
इससे ही वह झूंठ बोल कर पूरा करता है निज-स्वार्थ॥

(२)

"हो जाते, तब सारे खट्टे हाथ न आते जब अंगूर।
कहता है कुरूप वह सब को उड़ जाता है जिसका नूर।
है पाषाण-सदृश जब दोनों हीरा और पीत-पुखराज।
तो वह भी पत्थर है जिससे शोभित है अंग्रेजी *ताज़॥

भारतवर्ष कहता है, "और देश जब मुझ जैसे नहीं हो सकते हैं, तब वे मेरी बुराई करते हैं। हीरा और पुखराज में कोई अन्तर नहीं है तो उनमें और मुझमें भी नहीं है।" *कोहेनूर हीरा जिसको मैंने ही जन्म दिया है। संसार में ऐसा हीरा और दूसरा नहीं है। मेरे समान भी देश और नहीं हैं।

(३)

"पैदा हुए सामने मेरे और बढ़े भी हैं जो देश—
मेरे सम्मुख ही है जिनको धारण करना आया वेष—
ऐसों की—कल के बच्चों की-क्यों मानूं मैं मिथ्या बात?
उनमें मुझमें इतना अन्तर रखते हैं जितना दिन, रात॥

(४)

"निरे छोकरे हैं वे अब तक, अनुभव-हीन और अनजान।
क्या जानें वे मेरा गौरव, होकर के अज्ञान-निधान?
आत्मिक-उन्नति बिना और सब उन्नतियाँ हैं व्यर्थ महान—
उसे प्राप्त करली है मैंने निकला है जिससे *विज्ञान॥

(५)

"लेने को विश्राम, देह की, और थकावट करने दूर—
पड़ा हुआ था जब मैं, सुख से गहरी निद्रा में भर पूर—
तब आकर के जिसने मुझको, बांधा है बन्धन में ख़ूब—
वही ज्ञान आजाने पर, अब पछताता है मन में ख़ूब॥

(६)

"रक्षा-हित कर महा प्रतिज्ञा, धीरे, धीरे आकर पास—
सोते हुए सिंह को जो कपि कर लेता है अपना दास—
उसके इस विश्वासघात को अघाचार को कर स्वीकार।
‖विद्या-ज्ञानागार उसे ही धिक्कारेंगे बारम्बार॥

---

* साइन्स। ‖ अनुभवी, विद्वान्।

(७)

"जो कहते हैं मुझको अवनत वे न जानते उन्नति-अर्थ।
इससे ही अज्ञानी होकर करते हैं वे वक, वक व्यर्थ।
उन्नत होगा क्यों न कहो वह, सब का गुरु जो जगके बीच?
शिक्षित बन, गुरु-निन्दा करते वे ही शिष्य, महा जो नीच।

(८)

"वैसा ही वे फल पावेंगे किया उन्होंने जैसा काम।
वे बबूल के बोने वाले, खा सकते हैं कैसे आम—
अपनी करनी पार उतरनी, फिर क्यों चिन्ता करूं महान्।
नीम नहीं मीठा होता है, मधु-धारा का भी कर पान॥

(९)

"शिक्षा-पय को पीकर रहता, विषधर ही है सदा भुजङ्ग।
मोती चुग कर के भी कव्वा नहीं छोड़ता है निज-रङ्ग।
हो सकती सीधी न कभी भी बन्धन से कुत्ते की पूंछ।
और सदा ऊँची ही रहती बिना मूंछ वाले की मूंछ॥

(१०)

"ऐसा मन में मान कर लिया है, मैंने बस यही विचार—
यों समझना उन्हें व्यर्थ है, जो हैं महा नीचतागार।
बातों से कैसे मानेंगे, होकर वे लातों के भूत।
तभी शान्त हो सकते हैं वे आवेंगे जब यम के दूत॥

(११)

"गुरु होकर शिष्यों के सम्मुख नही उठाऊँगा हथियार—
परम-पिता-परमेश्वर की ही शीघ्र पड़ेगी उन पर मार।
विना दण्ड पाए न रहेगा, उनका भीषण-अत्याचार।
उनके हाथों से, अब पल में छिन जावेगा, सब अधिकार।

(१२)

"जिसका उदय यहाँ होता है, होगा उसका अस्त अवश्य।
सुख, दुख का जोड़ा रहता है, जिसके प्राणी-जीवन वश्य।
किन्तु मुझे परवाह नहीं है, "पुण्य-भूमि" है मेरा नाम।
काम-राम-श्रीराम-श्याम हैं, खेल रहे जिसमें *अविराम॥

(१३)

"जिनकी आँखें खुली हुई हैं, देख रहे वे उनका खेल।
उनकी आज्ञा पाकर ही वे ख़ुशी ख़ुशी से जाते जेल—
जो योगीश्वर कृष्णचन्द्र का कहलाता है जन्म स्थान।
जहाँ रात दिन, फिरता रहता, श्रेष्ठ-सुदर्शन-चक्र महान्॥

(१४)

"वही शीघ्र अब बाहर आकर, साफ़ करेगा अपना हाथ।
है वह मेरा सच्चा साथी, क्यों न आज भी देगा साथ?
सच कहता हूँ आज आगया है, अब ऐसा भीषण-काल—
अपने आप नष्ट होवेंगे, पड़कर जिसमें सब चाण्डाल॥"

* निरन्तर।

सिंह और शिकारी

(१)

अरे शिकारी ! अत्याचारी ! भारी पाप कमा कर तू,
अपना असली रूप छिपाने सज्जन-वेष बना कर तू,
कब तक प्रगट न हो सकता था मेरे सन्मुख आने पर—
क्योंकि पाप का घड़ा फूटता है पूरा भर जाने पर ॥

(२)

बहुत दिनों के पीछे मैंने है तुझको पहिचान लिया।
है तू वही, वही है मैंने पूरा-पूरा जान लिया।
गुजर गई थी तेरी मां जब तुझे छोड़ कर इस भू पर—
प्रिया-सिंहनी ने ही तुझको पाला था तब करुणा कर॥

(३)

उसने तुझको बड़ी युक्ति से अपना दूध पिलाया था—
और साथ में निज-शिशुओं के वन में तुझे खिलाया था।
पर वह भी मर गई, बात यह अब किससे पुछवाऊँ मैं?
किस प्रकार से तेरे सन्मुख सच्चा आज कहाऊँ मैं?

(४)

युवा हो गया अब तू पूरा, ज्ञान आ गया है तुझको—
और स्वमन में अपने बल का मान आ गया है तुझको।
घोर नींद में पड़ा देख कर तूने मुझको बाँध लिया—
और वचन देकर के पक्का ऐसा धोखा मुझे दिया॥

(५)

रे कृतघ्न! पापी! क्या तुझको लज्जा आज नहीं आती?
दुखी देख कर मुझे क्यों नहीं भर आती तेरी छाती?
धनी और मानी कर तुझको क्यों सुदीन कहलाऊँगा—
तुझे पालने का क्या अब मैं एक यही फल पाऊँगा?

(६)

मुझे किया पञ्जर-गत तूने बन्ध लगाकर बन्धन का—
और कर दिया नाश शीघ्र फिर मेरे इस सारे वन का।
लूट-लूट करके तू मुझको अपने घर को भरता है।
स्वयं सुखी होने तू मेरे सारे सुख को हरता है॥

(७)

महा-सिन्धु में कब तक नौका क़ाग़ज़ की वह सकती है!
कब तक यह धोखे की टट्टी पावक को सह सकती है!
एक न एक दिवस चालाकी बस पकड़ी ही जाती है-
झूंठे तिलक और छापों की छटा दृष्टि में आती है॥

(८)

मुझे बन्द करके तू जिसमें जाल विछाता नया-नया-
तेरा वह पोलीसी-पञ्जर है अब बिलकुल टूट गया।
आता हूँ मैं इसके बाहर, देख, सम्हल कर तू रहना।
तेरी हानि बहुत होने पर दोषी मत मुझको कहना॥

(९)

दुष्ट! इसलिये दौड़ यहाँ से घुसजा निज घर में जाकर
अपनी ख़ैर न मना सकेगा मुझे पास में तू पाकर।
बदना-बोरी उठा यहाँ से, दंड कमण्डल ले अपने-
चल दे तू, फिर देखा करना घर जाकर मेरे सपने॥

(१०)

छल से, अथवा कलके बलसे, जो लड़ता, है वह कच्चा-
सन्मुख आकर वार करे जो वही शिकारी है सच्चा।
तेरी जान बचाने में अब कहता हूँ कुछ और नहीं-
किन्तु जहाँ से आया है तू शीघ्र चलाजा आज वहीं॥

पञ्जर-बद्ध-पञ्चानन

(१)

दीन दिखा कर अपनी काया, गुप्त-वेष से वन में आया,
माया-जाल ख़ूब फैलाया तूने सिक्का यहाँ जमाया,
होकर मेरा शिष्य मुझे तू वतलाता अज्ञान—
समय का फेर वड़ा वलवान—
अरे दुष्ट ! तू क्यों करता है ऐसा शान-गुमान ?

(२)

वन्धन में है मुझको ज्कड़ा, वस धोखे से तूने पकडा,
फिर भी क्यों तू ऐसा अकडा ? जैसा होवे नीरस लकड़ा,
नीच-शिकारी कहला कर भी क्यों करता है गर्व महान ?
समय का फेर वड़ा वलवान—
अरे दुष्ट ! तू क्यों करता है ऐसा शान-गुमान ?

(३)

निर्बल बुड्ढा मुझको माना, सिंह नहीं मुझको पहचाना,
मान इसे अब मेरा खाना—तूने डाला मुझको दाना—
किन्तु मिटा दूँगा मैं तेरा कभी एक दिन नाम निशान—
समय का फेर बड़ा बलवान—
अरे दुष्ट! तू क्यों करता है ऐसा शान-गुमान?

(४)

दास-भाव से मन मोड़ूंगा, अब इस पञ्जर को फोड़ूंगा।
सोने की आदत छोड़ूंगा, हाथ पाँव तेरे तोड़ूंगा॥
क्या समझा है तूने मुझको मैं तो हूँ *मृगराज, निदान—
समय का फेर बड़ा बलवान—
अरे दुष्ट! तू क्यों करता है ऐसा शान-गुमान?

(५)

मुझे जानती तेरी जच्चा, तू क्या जाने होकर बच्चा,
कहना मेरा बिलकुल सच्चा, खाऊँगा मैं तुझको कच्चा।
क्योंकि आगयी ‡मति-देवि है करने को अब मेरा त्राण,
समय का फेर बड़ा बलवान—
अरे दुष्ट! तू क्यों करता है ऐसी शान-गुमान?

---

*सिंह, शेर ‡बुद्धि। समास के पृथक करने से, बुद्धि और महाकाली दोनों अर्थ भी हो सकते हैं।

पुनीत-प्रतिज्ञा

(ग़ज़ल)

(१)

न हम किसी से कभी डरेंगे, जो मन में आया वही करेंगे।
स्ववैरियों से न कुछ कहेंगे, स्वतन्त्र होकर ही हम रहेंगे॥
बहुत दिनों की कहा सुनी पर नहीं दिया ध्यान विपत्तियों ने,
कहो कहाँ तक कुकर्म उनके खड़े-खड़े हम भला सहेंगे॥

(२)

शिकार हमको समझ रहे हैं बड़े शिकारी बने हुए वे,
मगर उन्हीं का शिकार होगा, न डर दिखाने से हम डरेंगे॥

(३)

अधर्म का युद्ध करेंगे वे अब करों में लेकर के शस्त्र तीखे,
मगर सुदर्शन पै कर भरोसा निशस्त्र होकर ही हम लड़ेंगे॥

(४)

हा! छल से छीना है माल सारा, कमाल इस परभी बात है यह,
लुटे हुओं को भी लूट करके लुटेरे हम को ही वे कहेंगे॥

(५)

असभ्य बतला रहे हैं हमको हमारा खाकर के अन्न देखो,
यों उलटी गङ्गा बहा बहा कर वे ही उलटे स्वयं बहेंगे॥

(६)

यह नाव कागज़ की कितने दिनतक यों तैर सकती है छल-कपट से
चला रहे हैं जो बैठे उसको वे सारे क्यों अब नहीं मरेंगे॥

(७)

जो कूआ औरों के हेतु खोदें खुदी है उनके लिए भी खाई,
हमारा पीछा जो ताकते हैं पछाड़ खाकर वे ही पड़ेंगे॥

(८)

सदा किसी की बनी न रहती इसे भी देखो वे भूलते हैं,
रहेंगे आकर के भूमि पर वे गगन में जाकर के जो चढ़ेंगे॥

(९)

होनी होकर सदा रहेगी न इसमें चलता है वश किसी का,
सता रहे हैं जो आज हमको पड़े-पड़े वे कभी सड़ेंगे॥

(१०)

हज़ार उनकी मदद करेंगे, हज़ार उनको धनादि देंगे,
मगर धनुर्धर या वंशीधर ही हमारे सङ्कट सदा हरेंगे॥

(११)

हे दीनबन्धो ! सुदीन हैं हम मदद करो तुम हमारी आकर,
चाहे जो कुछ भले ही हो अब हमतो दम लेके दम भरेंगे॥

भारत की भावना

(१)

"क्यों आने दो, हे वसंत ! तुम मेरी देह सजाने को ?
मुझ बूढ़े को आकर सजते क्या तुम स्वयं लजाने को ?
शब्द पिकों* का सुना रहे हो मुझको हर्षित करने को।
पुष्प-सुगंध मधुर फैलाते मेरी चिन्ता हरने को॥

(२)

"यत्न तुम्हारा तब तक निष्फल, जब तक मेरे पुत्र दुखी।
चिन्तित देख सुतों को कैसे रह सकता है पिता सुखी ?
सुधा-समान दूध पा-पाकर जिनको मैंने बड़ा किया।
दुःखित देख उन्हीं को, कैसे होगा मेरा मुदित हिया॥

* कोकिल।

(३)

"माखन-मिश्री जो खाते थे मेवे, मधु-मिष्टान्न सभी।
उन्हें तुसों की रोटी भी हा! नहीं मिल रही सखे! अभी॥
जिनके दर्शन कर औरों का रहता था दुख पास नहीं।
उन्हें आज रोने को भी तो नहीं मिलें मज़दूर कहीं॥

(४)

"न्याय-नीति से जो करते थे भूमंडल का शासन भी।
उन्हें, उन्हीं के घर में भी अब मिलता है न सुखासन भी॥
दूर दासता को दीनों की करते थे जो दमभर में।
दासभाव की हथकड़ियाँ हैं देखो अब उनके कर में॥

(५)

*"निज-निगमागम-विद्या-बल से दिव‡ में भी जो जा चढ़ते।
परदेशों की भाषा को अब श्रेष्ठ जान कर वे पढ़ते॥
धर्म-धुरंधर कहला कर जो नहीं स्वधर्म कभी तजते।
आज दूसरे देशों के ही धर्म-कर्म को वे भजते॥

(६)

"क्या क्या कहूँ वसंत! तुम्हें मैं, कहने में लज्जा आती।
देख देख कर दशा सुतों की भर आती मेरी छाती।
कहे विना भी रहा न जाता, मैं द्विविधा में पड़ा हुआ।
इधर गिरूं तो खाई, भाई! उधर गिरूं तो बड़ा कुआ॥

---

* वेद और पुराण ‡ स्वर्ग।

(७)

"इन्हें बहुत समझाता हूँ मैं, सुनते एक न ये मेरी।
कहना इन्हें, बजाना है बस भैंसों के आगे भेरी।
तुम भी कुछ समझाओ इनको किन्तु इन तिलों तेल नहीं।
चिकने घट पर जल की बूँदें ठहरी हैं क्या कभी; कहीं॥"

(८)

"करुणगिरा भारत की सुनकर हुआ सशोक वसंत, महा।
अश्रु बहाते हुए, प्रेम से उसने उससे यही कहा-
"हे भाई! अपने पुत्रों से कहना मम संदेश यही।
अब न हाथ से जाने दो तुम अपनी लज्जा रही सही॥

(९)

"काम करो जो करो सोच कर कूट-नीति से भरा हुआ।
मन को कभी बनाओ मत तुम शत्रु-भीति* से डरा हुआ।
शुकलोचन†-नर, या वानर से मनुजों की न प्रतीति करो।
परदेशों की चीज़ों से मत अपने घर को कभी भरो॥

(१०)

"गोरे रँग के बगुले से तुम कव्वे को सच्चा समझो।
काला है वह बाहर, भीतर अतः उसे अच्छा समझो।
मूँछ ज़रा तो मुख पर रक्खो, इसको क्यों कटवाते हो।
भारत-पिता और माता को जब तुम जीवित पाते हो॥

---

* डर। † तोताचश्म आदमी।

(११)

"भला, कु-शासन जो करते हैं उन्हे *कुशासन भी मत दो।
दुःशासन-दुर्योधन सों को वैरी-आसन भी मत दो॥
अन्न और धन खींच लिया तो, दो न खींचने निज-मन को।
जो मन अपना, तो लेलेंगे फिर से अन्न और धन को॥११॥

(१२)

"गेह दूसरों का हो जावै, पर न देह को होने दो।
स्नेह और से करके भी मत देश-स्नेह को खोने दो॥
मान‡ हाथ औरों के है तो, ज्ञान हाथ अपने रक्खो।
वाण हाथ औरों के है तो, प्राण हाथ अपने रक्खो॥१२॥

(१३)

"दीन हुए तो होजाओ, पर हीन कभी भी मत होना।
तन मलीन हो, होने दो, पर मन मलीन को तो धोना॥
भारत की सन्तान कहा कर आपस में मत लड़ो कभी।
क्योंकि बड़े वन में होते हैं नहीं एक से वृक्ष सभी॥१३॥

(१४)

"निज-अधिकारों पर लड़कर भी बीज फूट का मत बोओ।
पास बड़ों के रहो आस कर, पर न दास बन कर रोओ॥
संपति में अहमिति को मारो, आपति में आपा रक्खो।
दोनों में ही परमेश्वर के नाम-अमर-फल को चक्खो॥

---

*कुस का आसन। ‡ इज्ज़त देना या बढ़ाना।

(१५)

"यही अन्त में मैं कहता हूँ सुनो सभी भारत-वासी।
एक-वस्तु-मय हो, क्यों लड़ते *काबा और भला काशी।
हे भारत ! मेरे वचनों को ये मानेंगे जो न अभी।
तो ये भला शीघ्र खोदेंगे अपना नाम-निशान सभी॥"

* मुसलमानों का तीर्थस्थान या मन्दिर

पावन-पूजन

(१)

कैसे दीप जलावें आज ?

माता ! तेरे सुभग-शीश पर नहीं दिखाई देता ताज़ ॥
द्वेष-फूट के अन्धकार का फैल रहा है भार अपार।
श्री की पूजा करें किस तरह प्रेम-भक्ति के बन आधार ?
विना परस्पर पहचाने ही-विना किये ही सोच-विचार-
भाई होकर भी हम लड़ते, हाथों में लेकर हथियार।
किसके पीछे किसके बल पर—सजें शूरता के अब साज ?

कैसे दीप जलावें आज ? ॥

(२)

लक्ष्मी तो चपला है माता ! करती रहती सदा विलास।
तुझे छोड़कर चली गई जो, कौन करे उसका विश्वास ?
उसकी पूजा करें किस तरह, फैलाती जो छद्म-प्रकाश,
दास बनाती है जो हमको, करती है जो ज्ञान-विनाश।
पूजेंगे हम तुझे, जमाने तेरे घर में तेरा राज—

इससे दीप जलावें आज ॥

भीषण-भर्त्सना

(१)

क्यों शत्रुओं के सामने हम शीश को नीचा करें ?
बनकर भला कायर, महा-भय-भीत होकर क्यों मरें ?
धन हाथ में उनके बहुत, तो मन हमारे हाथ है।
जो सैन्य उनके साथ तो श्रीपति हमारे साथ है॥

(२)

दश-मुख बने वे आज तो हम राम के अवतार हैं।
जो वीर हैं वे तो भला हम शक्ति-पारावार हैं।
जो सर्प वे होजायँगे तो हम गरुड़ बन जायँगे।
होंगे अगर वे अग्नि तो हम शीत-जल कहलायँगे॥

(३)

हम कह रहे उन से यही समझा-बुझाकर नीति से।
हम काँप सकते हैं नहीं उनकी निरर्थक भीति से।
हमने सहन सब कुछ किया, हर्षित किया उनका हिया,
अपमान का विष भी पिया, अति उच्च-पद उनको दिया।

(४)

तो भी हमारे मार्ग में वे आज काँटे बो रहे।
निःश्वास तो हम ले रहे, वे नींद सुख की सो रहे।
डूबे हुए हैं आज उनके चित्त केवल छद्म में।
आकर लगादी फूट की पावक हमारे सद्म में॥

(५)

पर अब नहीं चिन्ता हमें, हम जान हैं उनको गये।
सारे समझ में आगए षड्-यंत्र जो उनके नये।
वे धूर्त्त हैं, विश्वास देकर काटते हैं यों गला !!
अन्याय उनका देख कर यह हृदय भी जाता जला॥

(६)

अब क्या कहें, किस से कहें, हम कष्ट सह कर मौन हैं।
भगवान के अतिरिक्त अब दुख में सहायक कौन है।
मत छोड़ देना हे दयालो ! अब हमारे साथ को।
हैं आप ही दुख में पकड़ते दीन जन के हाथ को॥

असीम अंतर

(१)

सारे विश्व को ही जो बनाते शिष्य अपना थे,
प्रेम से लुटाते थे खज़ाने दिव्य-ज्ञान के।
काम-अभिराम-राम और घन-श्याम-श्याम—
वश में थे जिनकी सदैव शुचि आन के।
सच्ची कर्मशीलता से स्वर्ग में सदेह जाके—
पाते अमरत्व, गाते देव यश-गान के।
तारे आसमाँ के जो उतार लाते क्षण में थे,
वे ही गिनते हैं आज तारे आसमान के।

(२)

अटल-गँभीर-वर-वीर-रणधीर जो थे,
वे ही आज कायर-कपूत कहलाते हैं।
काल से भी ताल ठोंकते थे जो कभी, वे हाय,
गीदड़ों के शोर से भगे ही चले जाते हैं।
देते अन्न-वस्त्र जो थे विश्व को प्रसन्नता से,
वे ही दीन होके दिन रोकर बिताते हैं।
कोष जो कुबेर का लुटाते याचकों को, वे ही,
याचना में आज एक दमड़ी न पाते हैं।

(३)

होकर धीमान-गुणी, ज्ञानी और दानी-बली—
करते जो दाँत खट्टे बड़ी कठिनाई के।
भारती भी आरती उतारती थी बार बार—
गाती थी गीत, जिनकी लोहित-ललाई के।
*जीवन के बिन्दु सा जीवन नहीं था जिनका,
तार लगे रहते थे आनँद-बधाई के।
॥माई ने कान्ति पाई लाल जैसी जिनके हाथ—
माई के लाल वे ही अब न रहे पाई के॥

---

* जल। ॥ भारतमाता।

नेतृनिर्णय

(१)

होकर गुणज्ञ कभी करता नहीं जो गर्व,
वाणी से सदा ही सत्य-सरिता बहाता है।
प्रण को निभाता, नहीं पीछे जो हटाता पैर,
देश के लिये ही बाजी प्राणों को लगाता है।
दीन-दुखियों के लिए हाथ को बढ़ाता नित्य,
हाथ जो पुराने देश-द्रोही को दिखाता है।
लोक-परलोक सभी देता धन-धाम वार,
मानव-विजेता वही नेता कहलाता है।

(२)

भावना भरी है आत्मत्याग की जहाँ महान,
दासता की पीर को सदैव जो मिटाता है;

सोते हुए बन्धुओं को प्रेम से जगाता, और
हर्ष से सदा ही उपदेश जो सुनाता है।

कहता वही है जिसे करके दिखाता नित्य,
साधु-नीति को ही ध्येय अपना बनाता है।

आता है न जाता अमरत्व-पद पाता पूर्ण—
मानव-विजेता वही नेता कहलाता है।

मान्य महात्मा

(१)

जिसे अनाथ नाथ कहते हैं
याचक गिनते हैं *दानी ।
जिसे महेन्द्र मानते मानी
गुणी जानते है ज्ञानी ॥

(२)

जिसको सारे मित्र समझते
श्रीकेशव-सम-सुखकारी ।
जिसको वैरीजन बखानते
भीम-भीष्म-सम-बलधारी ॥

---

* रूपक ।

(३)

जो देता है महा-मान कर
ज्ञान-दान अज्ञानी को।
छुआछूत के भीम-भूत से
रहित बनाता प्राणी का॥

(४)

जो स्वदेश-हित-कर्मयोग का
योगी माना जाता है।
जो सत्याऽग्रह-राजरोग का
रोगी जाना जाता है॥

(५)

बड़ा कुटिल जो चोरराज है
चित्त सभी का हरने में।
जो रहता है महामूढ ही
मिथ्या-भाषण* करने में॥

(६)

जो आगार गुणों का होता,
है आधार आत्म बलका।
जो भाण्डार भूति का भी है
पारावार दया-जलका॥

---

* उल्लेख।

(७)

जो पावनतम-पुण्यराशि है
उपदेशों का स्रोत बड़ा।
प्रेम-क्षेम-नय का जो निधि है
क्षमा-अहिंसा-दुर्ग कड़ा॥

(८)

पारतन्त्र्य-पयनिधि-शोषण में
जो कुम्भज सा है कर्मी।
सत्यवीर जो धर्मराज सा
सत्य-धर्म का है धर्मी॥

(९)

जो *पातक-पादप-कानन-हित-
कानन-पावक हो जाता।
है विद्वेष-वन्हि-क्षय करने
घन बनना जिसको आता॥

(१०)

जो सुरीति-रचना करने में
चतुरानन-पद पाता है।
जो कुरीति का क्षय करने को
§पञ्चानन बन जाता है॥

---

* पाप-वृक्ष-वन। § पञ्चमुखी-महादेव।

(१५)

निर्भय-नम्र बना देता है
ध्यान जिसे परमात्मा का।
वही महात्मा कहलाता है
ज्ञान जिसे है आत्मा का॥

कवि-कीर्तन

(१)

सारा संसार यह असार हो उजाड़ होता,
रोता जीव-जंतु-वृंद होती न जो छवि तो।
धरा-*-धर और दैत्य धरा को नष्ट करते
हरते कौन क्लेशों को होते जो न पवि || तो।
कौन भला अंधकार-भार से न हार जाता?
पाता नहीं नाम कहीं होते जो न रवि तो।
चारों वेद, रामायण, भारत, पुराण सभी
कभी भी न होते यहाँ होते जो न कवि तो॥

(२)

बारबार वेदोंने भी कहा कवि ब्रह्म को ही
शंकर और ब्रह्मा भी कवि ही कहाते हैं।

---

* पर्वत। || इन्द्र ने वज्र से राक्षसों को और पर्वतों के परों को नष्ट किया था।

वेदव्यास, वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास—
कवि-वर कहा कर कैसा यश पाते हैं?
बली* बलवान को भी, धनी धनवान को भी
गुणी गुणवान को भी कवि ही बनाते हैं।
जहाँ पर न रवि की भी होती पहुँच, वहाँ—
कवि-रवि जाते और छवि बरसाते हैं।

(२)

ब्रह्मा‡ के मुखों में क्या है, क्या है शम्भु‖ ताण्डव में
विष्णु-वाणी-गीता का भी कविता आधार है।
वेद के ओंकार में भी इसका आकार मिले
नारद-मुनि-वीणा§ भी इससे साकार है।
जहाँ जहाँ जावें, पावें कविता को वहाँ वहाँ
मंत्र, जंत्र, तत्र, यंत्र, इसका ही सार है।
तार तार होवे सारे संसार-सितार-तार
तो भी कभी कविता का टूटता न तार है॥

* वज्र नहीं होता तो पर्वत उड़कर सबको दबा लेते। इन लोगों का वर्णन करके। ‡ चारों वेद कविता में हैं। ‖ शिव के डमरू में अ इ उ ण् ऋ लृ क् इत्यादि कविता जो सब की जड़ है, निकली थी। § नारद की वीणा विना बजाये भी कविता-बद्ध रागनियाँ गाती रहती हैं।

(४)

कमलों के कानन में करती है खेल यही
गंगा की तरंगों में बनती यह लोल है।
मंजु-महासागर मे, सागर के सलिलों में,
सलिलों की सीपों में मोती यह श्रमोल है॥
रमणो के केशों श्रौर धरणी के देशों में भी
सविता* सी कविता ही करती किलोल है।
कभी ज्वाला-जाल में तो कभी वाला-बाल§ में है,
कभी गोल गाल को यह लेती टटोल है॥

(५)

कविता ही कामिनी के कोमल कलेजे पर
पंचवाण‖-तीक्ष्ण-वाण शान से चलाती है।
नीरस को सरस, सरस को सुधा-समान,
मान को महान कर महिमा दर्साती है॥
लीलामय-लीला को ललित कर लुभाती है,
चुभाती है तीर कभी, कभी चित्त भाती है।
श्याम-श्रभिराम-राम-जन्म को बताती यही,
यही महाभारत के युद्ध को दिखाती है॥

* सूर्य समान व्यापक और तेजस्वी। § सुन्दरी स्त्री। ‖ पाँचवाणों वाला कामदेव।

(६)

हंसों को खिलाती मुक्का, पद्मों को पिलाती पाथ,
हिलाती तरंगें यही मानस के सर में।
स्वर्गलोक, भूमिलोक और सकल लोकों को,
लाके यह डाल देती कवियों के घर में॥
जल और थल में भी, अनिल* अनल§ में भी,
व्याप रही यही रोम-रोम-व्योम भर में।
गांधी के चर्खें में और कर्घे में वसी है यही,
यही है धुनी-चुनी खद्दर की चद्दर में॥

(७)

ऐसी कान्त-कविता के किंकर कहाते कवि,
जिनका विभव देख दुष्ट दुख पाते हैं।
सुधा से सरस-स्वादु-सूक्तिसार श्रेष्ठ में भी
कीच को वताते नीच दोष को दिखाते हैं।
खाते सदैव मुँहकी, पूछते न मानते हैं।
जानते नहीं हैं तो भी टाँग को अड़ाते हैं।
वेसुरे वे वोलते हैं ताल को सतोलते न,
ताल को ठकोरें कोरे गाल ही वजाते हैं॥

* हवा। § आग।

(८)

जानते नहीं हैं दुष्ट, शिष्ट के विचार श्रेष्ठ,
भीरु नहीं जानते हैं बलियों के घाव को।
जानते असभ्य कभी सभ्यशिष्टाचार को न,
जानते नपुंसक न वनिता-बनाव को।
जाने क्या अंध मनुज दृश्य का दिखाव भला?
वन्ध्या नहीं जानती है गर्भिणी के चाव को।
जानें क्या नीच*-महिष नीचता के कीच-बीच—
कोमल कमल से भी कवियों के भाव को?

(९)

धन-धाम-नाम-यश चाहे लुट जाय मेरा
काव्य का लुटेरा मेरा काव्य-धन लूटे §ना।
चाहे पाप-पुंज से ही भर देना पूरंपार
किंतु सिंधु बीच मेरी Sनाव टूटे फूटे ना।
चाहे गंगा घाट छूटे, करना गोविन्द! ऐसा—
देश-उपकार विना देह मेरी छूटे ना।
चाहे टूट जाय मेरा तुमसे भी नाता, किन्तु
भारत से, कविता से नाता कभी टूटे ना॥

*न, नो, ना का अर्थ नहीं है, § भैंसा कमल की सुगन्ध को नहीं जानता। Sकवि प्रार्थना करता है कि, हे गोविन्द! ऐसा ही होना चाहिये इत्यादि।

स्वस्थ शिशु

(१)

कौन हो ? शिशु-वर ! बताओ तुम हमें
विष्णु के अवतार हो, या रूप हो ?
स्वर्ग के शृङ्गार हो सुन्दर महा ?
भूमि के या भव्य-भावी-भूप हो ?

(२)

देख कर मन-मोहिनी इस मूर्ति को
देव, मुनि, मानव विमोहित हो रहे।
कमल-मुख पर देख कमलों को खिले–
कमल में हैं कमल मद को खो रहे ॥

(३)

बोलते हो क्यों नहीं? क्यों हँस पड़े?
कौन ऐसा मन्त्र जिसको गुन रहे?
आप माया-जाल में है फँस रहे?
या कि माया-जाल ही हैं बुन रहे?

(४)

फूलता तन में मनुज-मन मोद भर—
मान तुमको फूल तन, मन वारता।
फूल उड़ते देख तुमसे फूल भी—
आप ही उड़ता, बहुत मन मारता॥

(५)

मानियों को मात कर समझा रहे
आप हमको आज कितने चाव से।
बढ़ नहीं सकती, बहुत बढ़ कर कभी,
कान्त कविता भी तुम्हारे भाव से॥

(६)

क्योंकि इसको देख, भूखे सिंह को,
शान्त देखा है, भयङ्कर सर्प को।
किन्तु कविता-भाव से क्या मूढ़ का—
भाव बढ़ता है, घटा कर दर्प को॥

(७)

योगियों को भी फँसाते जाल में—
सीख तुम ऐसे अनूठे योग को,
किन्तु फिर भी मेटते हो क्यों नहीं—
आप निज आवागमन के रोग को ?

(८)

अर्थ इस मुसकान का हमसे छिपा—
आप किसकी मूढ़ता पर यों हँसे ?
कर रहे निज पर स्वयं उपहास क्या ?
या कि हम पर, व्यर्थ जो तुमसे फँसे ॥

(९)

नित्य रोने से अधिक सोते भला—
और सोने से अधिक हँसते रहो।
और हँसने से अधिक, जञ्जाल में—
आप अपने आप ही फँसते रहो ॥

(१०)

रुदन करना व्यर्थ अब निज भाग्य पर—
और सुख की नींद भी जगमें कहाँ ?
मोह-ममता देख हम में अधिकतर
ठीक केवल आपका हँसना यहाँ ॥

(११)

बात सारी जान क्यों अनजान तुम

दुःख में पड़, दुःख हित रचते चिता ?

पुत्र कहला कर बताओ किस तरह

तुम कहे जाते यहाँ मानव-पिता ?*

(१२)

छोड़ अपना देश, वैभव, वंश को—

राजरानी से स्वमन को मोड़ कर—

बादशाही पा गये बेमुल्क की

बालपन से आप नाता जोड कर ॥

(१३)

आप ख़ाली हाथ क्यों आए यहाँ ?

और आकर के यहाँ पर क्या लिया ?

देह कोमल आपकी, मन मृदुल है,

काम ऐसा कठिन फिर कैसे किया ?

(१४)

देखते हो वस्तु जो संसार में—

है असल में वस्तु वह कुछ भी नहीं।

मुग्ध होना चाहिये क्या इस तरह—

आप जैसे योगियों को हर कही ? ॥

* Child is the father of the man यह, एक अँगरेजी की कहावत है।

(१५)

खेलना, खाना तुम्हें है भा रहा—
दुःख पड़ते किन्तु हमको झेलने।
आप तो ख़ुद ही खिलौने बन रहे—
चाहते फिर क्यों खिलौने खेलने?

(१६)

खा रहे मिट्टी, तुम्हें लगते भला—
खेल मिट्टी के बहुत अच्छे सभी।
किन्तु यह मिट्टी मिला देगी तुम्हें,—
मोह-ममता छोड़, मिट्टी में कभी॥

(१७)

देखने आये जिसे वह तो भला,
देख लो,—है आप में ही बस रहा॥
भूल जाता सलिल क्यों उस स्रोत को-
उमड़ करके घुमड़, वह जिससे बहा॥

(१८)

मेघ-माला की तरह क्यों भूलते
नीर-निधि से अलग निज को मान कर?
अमल-गङ्गा-जल हुए तो क्या हुआ?
आप हिम से पृथक् हैं क्या बाल-वर!

(१९)

रूप का ही भेद बस संसार में
एक ही हैं आप, हम दो देह में।
है बड़ा, छोटा यहाँ कुछ भी नहीं
किन्तु माया-मोह है इस गेह में॥

(२०)

आप कस्तूरी-हरिण की ही तरह
गंध पाने फिर रहे हो क्यों यहाँ?
सु-मन हो करके भला मकरंद को—
सु-मन से तुम ढूँढते हो यों कहाँ?

विप्र–वंश

(१)

नर-जाति का यह शीश था, भूलोक का अवनीश था।
ये वचन विसवा बीस सव, यह ज्ञान का वारीश था॥
सव शास्त्र–आगम रचयिता, सविता-पिता-सम गन्य था।
अभिराम-श्रीयुत-राम का गुरु-वर बना यह धन्य था॥

(२)

संस्कारकर्त्ता वेद का, अज्ञानहर्त्ता भी यही।
भर्त्ता महा-आनन्द का, भव-सिंधु-तर्त्ता भी यही॥
पर-पीर में जो प्राण दे ऐसा महा-वरवीर था।
भगवान-शयनागार से भी सौगुना गम्भीर था॥

(३)

यह जगत्-पथ का था प्रदर्शक, शक न इस में मानिये।
खोलो ज़रा आँखें सभी, यह कौन था, पहचानिये॥
दे नेत्रयुग जो अन्ध को, ऐसा बड़ा दानी यही।
दे इन्द्र-पद को ठोकरें, ऐसा महा मानी यही॥

(४)

शरणागतों को, हों भले ही वे कुटिल-कामी महा-
यमराज की भी डाढ़ से, सुख से छुड़ा लेता अहा!
था काल का भी काल यह, त्रैलोक्य को देता जला।
निज-कोप-पावक में पड़ा जीवित स्वयं रह कर भला॥

(५)

इच्छुक बने रहते कृपा के भक्ति रखकर सर्वदा—
संसार-स्वामी काँपते थे शाप से इसके सदा।
महिमामयी-माया महा संयुक्त होने क्षेम से—
बस, सामने रहती खड़ी थी हाथ जोड़े प्रेम से॥

(६)

ऐसे बड़े इस विप्रकुल ने आज यह क्या कर लिया?
इस गर्व-गौरव गेह ने क्यों स्वाँग ऐसा भर लिया?
बेसुध पड़ा है नींद में, सुनता किसी की भी नहीं।
कुछ रोग है, या होगया इस पर भला जादू कहीं॥

(७)

हा ! क्या हुआ इस वंश को ऐसी नज़र किसकी लगी?
हा ! क्यों हुआ विडरूप यह, इसकी सुमति किसने ठगी?
हे बंधुओ ! सोचो, दशा क्या आज अपनी हो रही।
इस वंश में यह फूट देखो बीज क्या क्या बो रही॥

(८)

जिस काम को हमने उठाया चाव से, उत्कर्ष से।
हम क्यों न उसको पार पटकें मिल परस्पर हर्ष से।
धनहीन भी ऐसे नहीं, अतिदीन भी हम हैं नहीं।
सुख-सलिल-हीन न मीन है, तनु-दीन भी हम है नहीं॥

(९)

"पारीक*"-शिशु को क्यों नहीं धन-दूध दे पाला करें।
हम भी भला पारीक है, "पारीक"-दुख टाला करें।
देखो, सम्हल जावो ज़रा तो काम सारा ठीक हो।
हम क्यों न अपनाते भला "पारीक" को पारीक॥ हो॥

---

* एक मासिक पत्र का नाम। ॥ होकर।

वेदव्यास

(१)

वर-वेद का यह भेद सारा कौन सिखलाता हमें?
*कुरु-पुत्र-पांडव-युद्ध को भी कौन दिखलाता हमें?
इस सृष्टि के तत्वादि को भी कौन बतलाता हमें?
भव-सिंधु-पार अपार को भी कौन जतलाता हमें? ॥

(२)

शिक्षा-सुधा§ को प्रेम कर-कर कौन जन पाता हमें?
विज्ञान-जल से सींच कर, नर कौन सरसाता हमें?
फिर से सुजीवन-मुक्त कर-कर कौन लहलाता हमे?
हिम्मत बँधाता कौन, दुख में कौन बहलाता हमें? ॥

*महा-भारत §अमृत ।

(३)

माता-पिता की भाँति हमको कौन लेता गोद में?
कह कर कथाएँ कौन जन करता हमें यों मोद में?
संसार को स्थित कौन करता स्वर्ग के उत्कर्ष में?
ऋषि-राज-वेदव्यास जो होते न भारतवर्ष में?॥

(४)

हस्तामलक* इव देखते थे ये सदा संसार को।
थे जानते, पहचानते संसार के आधार को।
सब नाश और विकाश के भी तत्व इनके वश्य थे।
पृथ्वी, तथा आकाश के भी ज्ञात सर्व-रहस्य थे॥

(५)

ये श्रेष्ठ जीवन-युक्त थे ये और जीवन-मुक्त थे।
ये सर्व-भोग-विमुक्त थे, ये और भोग-विभुक्त‡ थे॥
करते सुजीवन-युक्त थे निर्जीव को ये सर्वदा॥
ये और जीवन-मुक्त करते जीव-धारी को सदा॥

(६)

वेदोक्त-ब्रह्मानन्द-नद के पीन ये पाठीन§ थे।
गुण-ज्ञान-गौरव-गेह थे, ये और गर्व-विहीन थे॥
विद्या-विधाता ये हुए, भव-भीति-त्राता ये हुए।
सब शास्त्र-ज्ञाता ये हुए कुल-जन्म-दाता ये हुए॥

* हथेली के आँवले की तरह। ‡ सब भोग भोगे हुए। § मछली।

(७)

ऐसे वड़े ऋषि-राज की संतान को भी देखिए।
उस मान को भी देखिए इस शान को भी देखिए॥
जो थे महान-मृगेंद्र-सम, वे आज भीत शृगाल हैं।
जो काल के भी काल थे, बेहाल वे इस काल हैं॥

(८)

गोदी भरे जो लाल थे, जो भूप-गण* के भाल थे।
जो दीन-निर्धन-पाल थे, अनमोल-ज्ञान-विशाल थे॥
वे काम के वश होगए, बेकाम के वे होगए।
वे वाम× के वश होगए बेनाम के वे होगए॥

(९)

जिनके चरण के चिह्न△ से श्री, वश्य हरि के होगई—
है, आज उनके शीश से भी देखिए श्री खोगई॥
जिनके परशु की अग्नि थी सब क्षत्रियों को जो गई—
है, आज उनकी वीरता वह सर्वथा ही सोगई॥

(१०)

जिनके करों से काल के भी फंद थे सब छूटते।
सुर-राज▮ के भी धन-सुयश को जो सदा थे लूटते॥
उनने पहनलीं आज, देखो दासता की बेड़ियाँ।
कर में पड़ी है हथकड़ी, वे खारहे हैं बेढ़ियाँ॥ ॥

---

* राजाओं से पूज्य। × स्त्री। △ भृगुजी। ▮ इन्द्र। ॥ खाद्य-पदार्थ।

(११)

जिनके 'अलौकिक नाम से खलबल मची संसार में।
हरि* की बनाईं, पैडियाँ जिनने भला हरिद्वार में॥
जो दूसरे पारीक को करते सफल भव-पार में।
अब पुत्र उनके छोड़ते "पारीक" को मझधार में॥

*हमारे पूर्वज हरिनारायण जी ने हरिद्वार में हरि की सीढियाँ बनाई थीं।

वशिष्ठ–विनय

(१)

मित्र* वरुण-वर-अंश, मत्स्य-कुम्भज-ऋषि-भ्राता,
ब्रह्मा-मानस-पुत्र, † धेनुधन, निर्धन-त्राता, ‡
बुध-कुल-कमल-दिनेश, बुद्धि-बल-विद्या-दाता,
पावन-ज्ञान-निधान और मम-जाति-विधाता,

---

* बृहद्देवता नामक वैदिक ग्रन्थ में वशिष्ठ के जन्म का वृत्तान्त ऐसे लिखा हुआ है । यज्ञस्थल में उर्वशी को देख कर मित्र और वरुण का रेतःस्खलित (वीर्यपात) होगया । उसे यज्ञीय कुम्भ में रखने से एक ही क्षण पश्चात् स्थल से वशिष्ठ, जल से मत्स्य और कुम्भ से अगस्त्य ऋषि का जन्म हुआ । अतः इनको मित्र और वरुण के अंश और मत्स्य और अगस्त्य के भाई (सहोदर) कहना यथार्थ है । † पुराणों में वशिष्ठ को ब्रह्मा का मानस-पुत्र बतलाया गया है और ऐसा ही महाचीनाचारक्रम तन्त्र में भी लिखा है । ‡ धेनु (गौ) रूपी एक प्रकार का धन ।

ऐसे श्रेष्ठ-वशिष्ठ के, रक्षक, गुरू रघुवंश के
गुण-गण गाता हूँ यहाँ विप्रवंश-अवतंस के

(२)

थे जो नृप-नीतिज्ञ अलौकिक-धर्म धुरन्धर,
भरी हुई थीं सभी शक्तियाँ जिनके अन्दर,
महा—कठिन "पुत्रेष्टि यज्ञ के करनेवाले,
श्रीदशरथ के शोक-दुःख को हरनेवाले,
निराकार को जो कभी अति-सुन्दर-साकार कर,
ले आए थे भूमि पर राम-रूप-आधार कर,

(३)

थे ये द्रष्टा* कई वेद-मन्त्रों× के उत्तम,
करता है यह सिद्ध सातवाँ मण्डल अनुपम,
कहता है द्विज-धर्म वचन ये अति-सुख-दाता—
"थे वशिष्ठ ही एक अलौकिक मेरे ज्ञाता,"
हाथ उठाकर नीति भी यही घोषणा कर रही—
"जानकार मेरे बड़े थे द्विज॥ होकर ऋषि यही"

* वशिष्ठ ही ऋग्वेद के सातवें मण्डल के द्रष्टा है । इसी मण्डल के १८ वें सूक्त में इनको सुदास राजा के पुरोहित भी लिखा है । × ब्राह्मण होकर भी राजनीति के पूर्ण पण्डित ।

(४)

सुन करके प्रस्थान राम का भीषण वनमें,
होकर के अत्यन्त—दुखी जब दशरथ मनमे,
चले गये थे स्वर्ग श्रेष्ठतम पद को पाकर,
और पुरी में शोक छागया था जब आकर,
ऐसे भीषण काल में करनेवाले काम के,
ये वशिष्ठ ही थे भला, रक्षक रघुकुल-नाम के,

(५)

काम—धेनु की सदा पालना जो करते थे।
उसके सारे विघ्न, शक्ति से जो हरते थे।
जिससे पैदा हुई नन्दिनी* वरदा—जाता।
जो कहलाती सदा देव-नर-वन्दित-माता।
जिसने भक्त दिलीप को दिया पुत्र-वरदान था।
रक्खा यों रघुवंश का नाम और अति मान था॥

(६)

वृक्षों॥ से भी नई सृष्टि को करनेवाले।
थे जो यम से नहीं कभी भी डरनेवाले।

---

*वशिष्ठ की कामधेनु की वर देनेवाली पुत्री (बछड़ी) नन्दिनी जिसका वर्णन कालीदासजी ने रघुवंश में किया है। ॥ विश्वामित्र ने सृष्टि उत्पन्न करने की नई रीति निकाली थी और नारियल (मनुष्य का मस्तक) को पैदा किया था।

जिनके तप को देख इन्द्र भी घबराता था।
उसका आसन और आपही डिग जाता था।
ऐसे विश्वामित्र को शीघ्र जिन्होंने शक्ति से—
श्रेष्ठ विप्र थाकर दिया और युक्त निज-भक्ति से॥

(७)

लेकर जब गज-बाजि, वीरवर, सेना सज्जित—
आये विश्वामित्र आपको करने लज्जित।
ब्रह्मदण्ड को उठा आपने कर से केवल—
हरा दिया था उन्हें हरण कर गर्व और बल।
सौ पुत्रों को एक ही जला दिया हुँकार§ से,
काम लिया हथियार से और न शस्त्र-प्रहार से॥

(८)

धन्य, धन्य ब्रह्मर्षि! आपकी युद्ध-वीरता,—
अद्भुत-अतुलित-शक्ति, दक्षता और धीरता।
अमर रहेगा नाम आपका सदा-सर्वदा,
क्यों कि मिली ऐसी न किसी को कीर्ति-सम्पदा।
अरुन्धती‖ को प्रेम से रखकर अपने पास में—
आप सुशोभित होरहे उत्तम दिक्-आकाश में॥

---

§ रामायण में लिखा है कि वशिष्ठ के हुँङ्कार से विश्वामित्र के सौ पुत्र दग्ध हुए थे। ‖ महाभारत में वशिष्ठ की प्रधान पत्नी का नाम अरुन्धती लिखा है।

(९)

जैसो है गुरुदेव ! आपकी महिमा-गरिमा—
है वैसी ही ठीक, बुद्धि की मेरी लघिमा*,
नहीं कभी गुण-गान आपका होगा पूरा।
क्षमा कीजिये मुझे काम है क्योंकि अधूरा॥
एक प्रार्थना और मैं करता हूँ कर जोड़कर।
सुनिये उसको ध्यान से सब कामों को छोड़कर॥

(१०)

आप हमारी क्यों न पूज्यवर ! सुध लेते हैं ?
क्यों न श्रेष्ठ-तम-ज्ञान आप हमको देते हैं ?
हमने क्या अपराध किया है ऐसा भीषण—
जिससे है दासत्व हमारा बढ़ता क्षण क्षण।
हे भगवन् ! इस बात का हमें नहीं आश्चर्य कम—
आप देखते आ रहे† गिरते जाते और हम॥

(११)

करते रहते आप हमारा हैं अवलोकन—
होता है उत्पन्न आपके फिर भी शोक न !

---

* अर्थात् आपकी महिमा जितनी बड़ी है मेरी बुद्धि भी उतनी ही छोटी है अतः मैं आपके सम्पूर्ण-गुण-गान में असमर्थ हूँ। † आकाश से।

तारे गिनते आज दीन बन कर हम सारे!
शोभा देते आप व्योम में होकर तारे!
देख रहे तुम दुर्दशा अपनी ही सन्तान की!
इससे होगी और क्या बात अधिक अज्ञान की?

(१२)

कैसा हूँ मैं मूढ़ लेख जो लिखता ऐसा!
कोई पूर्वज-हेतु नहीं लिखता है जैसा!
कहला कर सन्तान आपकी बहुत बुराई—
करता हूँ मैं, किन्तु इसी में भला भलाई,
लोक-लाज भय से प्रभो! अथवा मन में कोप कर,
जातिजनों को आप यों सुध लेवेंगे शीघ्रतर॥

(१३)

हीन जान कर हमें, आप जो छोड़ रहे हैं—
हम से निज सम्बन्ध और यों तोड़ रहे हैं—
तो हैं आप द्विजेश! कर रहे काम* अनुत्तम—
हो जावेंगे नष्ट शीघ्र ही जिससे सब हम
जब स्वजाति की आप ही करते यों अवहेलना—
पड़ता है तब ही हमें ऐसे पापड़ बेलना॥

* बुरा, घृणित।

(१४)

तजो भले ही आप हमारी रक्षा करना—
जन्मभूमि के कष्ट किन्तु मत छोड़ो हरना।
गरीयसी यह सदा स्वर्ग से मानी जाती—
सब लोकों से और महा-शोभा है पाती।
देखो इसकी दुर्दशा हा! कैसी है होगई!!
इसकी अनुपम कान्ति भी इसके तनु से खोगई॥

(१५)

इसके चारों ओर भयानक-आयुध धारी—
डटे हुए हैं शत्रु, शक्ति-वैभव-संहारी।
इनमें से कुछ छोड़ छोड़ कर घर का आसन—
आकर इस पर प्रभो! लग गए करने शासन।
दासभाव की हथकड़ी इसके कर में पड़ गई।
बेड़ी द्वेष-विधर्म की है पैरों पर चढ़ गई॥

(१६)

प्राणों की भी छूट गई है इसको आशा।
देख रहे हैं आप दूर से खड़े तमाशा।
तप से फुर्सत जो न आपको मिल सकती है—
अँगुली भी हित-हेतु नहीं जो हिल सकती है—

तो इसको ब्रह्मास्त्र ही देकर के जय दीजिए।
सुत के नाते आप यों माता का हित कीजिए॥

(१७)

नहीं चाहते आप आज जो यह भी करना—
दे सहायता-दान, मातृ-कष्टों को हरना—
तो हे भगवन्! आप यही अब काम कीजिए।
सीतापति को प्रभो! यही उपदेश दीजिए।
फिर से हे श्रीराम! तुम भारत में अवतार लो।
जन्मभूमि-अरि-नाश-हित हाथों में हथियार लो॥

(१८)

दिला दीजिए याद *उन्हें रामायण-वाणी।
जिससे बेड़ा पार हमारा होवे ज्ञानी!
✠काम-राम-श्रीराम बड़े हैं करुणा-सागर।
धीर-वीर-गम्भीर, राजनय में हैं नागर।
आवेंगे वे शीघ्र ही निज-गुरु का आदेश सुन—
लावेंगे को-दण्ड-सह तीखे-तीखे बाण चुन॥

(१९)

उनको अति-आश्चर्य यहाँ पर होगा आकर—
और बहुत ही खेद हाथ में शस्त्र उठाकर।

* श्रीरामायण में भगवान् ने ऋषियों के सम्मुख प्रतिज्ञा की है कि मैं पृथ्वी को असुर-हीन कर दूंगा। ✠ कामदेव-सम मनोहर।

वन में उनके कभी सहायक थे जो प्राणी—
वे ही लड़ने खड़े आज, होकर अज्ञानी
एक अनोखी बात पर दिखलाई देती यहाँ—
चली गई कलिकाल में पूँछ-मूँछ इनकी कहाँ !!

(२०)

आप जो हनुमान साथ में अति-बलधारी—
तो लेंगे वे कई बार इनकी बलिहारी।
वे रघुनाथ से यही कहेंगे चिन्तित होकर—
अपने मन में और कोप-पावक को जोकर—
"ऐसे दुष्टों को प्रभो ! नष्ट शीघ्र ही कीजिए।
है जो सब से कठिनतम इन्हें दण्ड वह दीजिए॥

(२१)

"इन जैसे विश्वास-घात के करनेवाले।
पुण्य-भूमि को लूट, पेट को भरनेवाले।
कहीं नहीं हैं नाथ ! मतलबी ऐसे प्राणी।
* मन से मिलती है न कभी भी जिन की वाणी।
आप मुझे आदेश दो, घोटूँ मैं इनका गला।
ईश्वर को भी आज जो देते हैं धोखा भला"॥

---

* मन में कुछ और बात और वचन में कुछ और। धोखेबाज़।

(२२)

हे वशिष्ठ ! ऋषिराज ! आप अब यह कीजिए
श्रीराघव को यहाँ शीघ्र ही भेज दीजिए।
वानरेश* भी प्रभो ! साथ में उनके आवें।
अरियों को, हो कुपित हाथ से मार गिरावें।
भारत का कल्याण यों होजावेगा शीघ्रतर।
जन्मभूमि जो आपकी याद कीजिए विप्र-वर!

* हनुमान।

वीर-वर्णन

(१)

वीरता को और कविता को मनुज,
सीखने से भी कहीं क्या सीखते ?
श्रेष्ठ-तरु के पात होते चीकने
पूत के पग पालने ही दीखते ॥

(२)

वीर-वर तो जन्म से ही सिद्ध हैं,
कौन उनको ताड़ना से ताड़ते ?
सिंह-शावक को गहन में देखलो,
करिवरों के कुम्भ पल में फाड़ते ॥

(३)

देखिये कर-कंज वालक भरत के,
और देखो वज्र-सम *हरि का हिया।
सिंह का मुख चीर रद को देखना,
क्या किसीने था उसे सिखला दिया?

(४)

देखिये वल-धाम उन वलराम को–
और वालक कृष्ण की वर-वीरता।
कंस का विध्वस जिसने था किया,
कौरवों की नष्ट की थी धीरता॥

(५)

वीर थे रणधीर थे उस स्थान पर,
वीरता से पूर्ण थे सब के हिये।
पर न सच्ची शूरता थी एक में,
राम ने ही चाप के टुकड़े किये॥

(६)

विकट-भट भी देख जिनके कोप को,
भीत होकर भागते थे नाम से।
बाल-लक्ष्मण ने किया व्यवहार क्या?
उन अलौकिक परशु-धारी राम से॥

* सिंह।

(७)

वीर लव के और कुश के नाम से,
कौन है अनभिज्ञ इस संसार मे।
धन्य वे, पाया जिन्होंने पार था,
वीरता-गंभीर-पारावार में॥

(८)

सूर्य को अति दीप्त-कंदुक मान कर,
कार्य अंजनि-पुत्र ने क्या था किया?
एक पलमें उड़ गए आकाश में,
लीलया ही था उसे मुख में लिया॥

(९)

आज जो होते सभी बालक-युवक,
वीर ऐसे, श्रेष्ठ--भारतवर्ष मे।
तो न दिन हम दासता के देखते-
और गिरते भी नहीं अपकर्ष मे॥

(१०)

देह जिसकी देश ही के अर्थ है,
गेह जिसका दीन के हित-दान में।
शीश जिसका ईश-सम्मुख नम्र है,
बीस बिसवा वह सुवीर जहान में॥

(११)

प्राप्त कर सम्मान, रण का ज्ञान भी,
स्वप्न में करता न जो अभिमान है।
वीर सच्चा है वही जो धीर है,
शक्ति की जो खान है, धीमान है॥

(१२)

मूक है जो बोलने में झूँठ के,
शास्त्र में पर सर्वथा वाचाल है।
चौर है जो चोरने में चित्त के,
सत होकर जो सदा अरि-काल है॥

(१३)

वीर-वर है बस वही, जो दे रहा,
हृदय में अन्यायियों के वाण है।
मातृ-भू-का त्राण करने के लिये,
जो निछावर कर रहा निज-प्राण है॥

क्षत्रिय-कुल

(१)

* विष्णु-बाहु-उत्पन्न कौन जग में कहलाता?
‡ बाहुज पावन-नाम कौन है भूपर पाता?
कौन भला ‖ आजानु-बाहु बनकर बल-धारी,—
} मानवाऽरि की महाबाहु का है संहारी? ‖

(२)

है, किसने दृढ़ किया + पाकशासन का शासन?
किसने शोभित किया सकल-धरणी-सिंहासन?

---

* वेद-शास्त्रों में लिखा है कि विष्णु भगवान के मस्तक से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, उदर से वैश्य और चरणों से शूद्र उत्पन्न हुए है। ‡ बाहु (भुजा) ज पैदा होनेवाला। ‖ घुटनोंतक लम्बी भुजाओं वाला। } नर-शत्रु नाशक। + इन्द्र। दुष्यन्त एवं दशरथ ने दैत्य-संहार कर इन्द्र के राज्य को दृढ़ किया है।

शरणागत के हेतु कौन है मरने *वाला?
सुर-नर-मुनि-जन-दुःख कौन है हरनेवाला?

(३)

कौन ‡श्वपच के हाथ बिका है एक धर्म-हित?
कौन यशस्वी हुआ ॥ पुत्र-वध-कठिन कर्म-हित?
करता कौन प्रनष्ट +भूमि का भार अतुल है?
करनेवाला भला एक बस क्षत्रिय-कुल है॥

(४)

जिसके मानव मनुज-जाति का पालन करते।
रक्षक बनते, और दीनजन-लालन करते।
धीर, वीर गम्भीर, भयंकर जो होते हैं।
शत्रु-मान-अभिमान शान से जो खोते हैं॥

(५)

जिनके बालक ×"सर्वदमन" बन और वीर-वर,
सिंहराज के रदन देखते वदन फाड़ कर।

---

*राजा शिवि की कथा देखिए। ‡कुत्तों को पकाकर खानेवाले चाण्डाल के यहाँ राजा हरिश्चन्द्र बिके थे। ॥ राजा मयूरध्वज। +क्षत्रिय कुल के अवतार रामादि। ×सर्वनाशी; दुष्यन्त और शकुन्तला का पुत्र भरत जिसने सात वर्ष की अवस्था में सिंह के दाँत देखे थे।

*रामाऽनुज-हनुमान-मान का चूर्ण बनाते—
श्यामकर्ण-हय-कर्ण पकड़ कर घर पर लाते ॥

(६)

‡ श्री-मद-हारिणि-श्रेष्ठ-प्रिया से मन को मोड़ा—
किसने अति दुर्भेद-व्यूह को पल में तोड़ा ?
क्षत्रिय-कुल में बाल बली ऐसे होते हैं—
जो होते ही बीज सुयश का बस बोते हैं—

(७)

वश में कर के महाकाल के निर्दय-मन को—
जीवन किसने दिया ॥ मृतक-जीवन-जीवन को ?
महाबली-अरि-नाश-कारिणी, गर्व-हारिणी—
सतियाँ कुल में हुईं समर में शस्त्र-धारिणी ॥

(८)

अकबर को भी कहा तुर्क ही अपने + मुख से।
प्रण को छोड़ा नहीं विमुख भी होकर सुख से।
ऐसों के ये पुत्र आज क्या काम कर रहे ?
लेते हैं निश्वास, श्वास भी और मर रहे ॥

---

* लव और कुश ‡ अभिमन्यु। ॥ मृतक पति सत्यवान को सावित्री ने जिन्दा किया था। + महाराणा प्रतापसिंह।

(वर्ण-वर्णन)

(१)

* दया-धर्म की—सभी गुणों की-महाखान जो,
विद्या-बुद्धि-निधान, अलौकिक शक्तिवान जो,
सब का प्रिय-गुरुराज, पढानेवाला सब को,
ब्रह्म शिखर पर और चढ़ाने वाला सब को,
ऐसे ब्राह्मण-वंश का झंडा गड़ता था §यहाँ—
पद-नख-पुजता था यहाँ, डंका बजता था यहाँ ॥

(२)

रण-विद्या-आचार्य. वीर्य-बलशाली, दानी,
विभव-धाम, निष्काम, महामानी, नय-ज्ञानी,
कर्म-धर्म-लवलीन, प्रजा-प्रेमी, प्रिय-शासक,
धीर, वीर, गम्भीर, विजेता, वैरी-नाशक—
थे, ऐसे क्षत्रिय यहाँ जो न काल-भय मानते।
पर-पीड़ा में और जो मर जाना थे जानते ॥

* लेखक के "नल-नरेश" महाकाव्य से उद्धृत। §निषध देश में।

(२१)

वित्तशास्त्र-सम्पन्न, अन्न-धन-वृद्धि-कार जो,
ज्ञानवान, गुणवान, और थे यशागार जो,
देश-देश, व्यापार, गणित के थे जो ज्ञाता,
भाग्य-विधाता, और दीनजनत्राता, दाता,
'ऐसे वैश्यों को यहाँ चलती थी वह लेखनी—
कर देती थी जो उन्हें, विज्ञानी, मानी, धनी ॥

(२२)

शिक्षित महा, सुशील, अदोषी, अति-सन्तोषी,
सदा अरोषी, किन्तु शत्रु के थे जो शोषी—
प्रभु-हितकारी, दक्ष, निरन्तर-आज्ञाकारी—
धर्माचारी, शान्त और थे जो बलधारी,
ऐसे शूद्रों का यहाँ प्रभुओं को अभिमान था।
क्योंकि सु-सेवा-धर्म का उनको पूरा ज्ञान था ॥

(२३)

निगमागम-आदेश, विप्र-वर थे बतलाते।
बढ़ा बाहुएं वीर, सुरक्षित उसे बनाते'।
करने उसको पूर्ण वैश्य सामग्री देते।
बाकी का सब काम शूद्र जन थे कर लेते।
यही नियम इस देश में पाला जाता था सदा।
बसते थे इससे यहाँ सिद्धि-शान्ति-सुख-सम्पदा ॥

(२४)

थे, अपना मस्तिष्क लड़ाते सुख से 'शर्म्मा'।
दिखलाते थे हाथ पुराने बल से 'वर्म्मा'।
करते थे सब 'गुप्त' पेट के बल से कर्षित।
हो पैरों पर खड़े 'दास' थे मन में हर्षित।
एक धीर थे धर्म में, एक वीर थे वर्म में,
एक विज्ञ थे मर्म में, एक दक्ष थे कर्म में॥

शक्ति-सञ्चार

(१)

'शक्ति' में अनुरक्ति,—सच्चो भक्ति ही—
गुणगणों का एक जग में सार है।
शक्ति—हीनों को न कोई पूछता,
शक्ति ही संसार का आधार है॥

(२)

"ब्रह्म उसमें है नहीं," यों बोलते—
क्या नरों को है सुना हमने कहीं?
किन्तु कहते हैं यही सब भीरु से
"देख तुझ में शक्ति तो है ही नहीं"

(३)

आज किसकी चाह भारतवर्ष में !
धान्य, धन, नर-श्रेष्ठ भी मिलते अभी।
पर नहीं है शक्ति उनमें आज ,कुछ—
एक है इस बात की ही बस कमी॥

(४)

नर-वरों की शक्ति की तो क्या कथा—
नारियों में भी यहाँ अति-शक्ति थी।
पुरुष को ही प्रेम केवल था नहीं,
'शक्ति' में स्त्री की महा-अनुरक्ति थी॥

(५)

ब्रह्म-विद्या-शक्ति जो थी विप्र में—
देखिए मिलती नहीं अब वह यहाँ।
बाहु-बल की शक्ति थी रजपूत में
आज वह भी है भला उसमें कहाँ !

(६)

वैश्य में व्यापार की जो शक्ति थी,
आह ! अब काफूर वह भी होगई।
शुद्ध-सेवा-शक्ति थी जो शूद्र में
आज केवा काट* वह भी सोगई॥

*केवा काटना = कन्नी काटना, रफू चक्कर हो जाना।

(७)

'शक्ति' का यह ह्रास अपना नाश अब—
शीघ्र करदेगा सहित उपहास के।
क्योंकि हमने कर लिया स्वीकार है—
दास बनना दास के भी दास के॥

(८)

एकता इस शब्द का मिलता पता—
आज केवल पुस्तकों में—कोष में।
हम कभी व्यवहार में लाते नहीं—
पढ़ उसे रहते सदा संतोष में॥

(९)

हम छिपाते हाथ यौवन के नये
भीत होकर शत्रुओं को थामने।
किन्तु दिखलाते पुराने हाथ हम
दीन—दुर्बल—पत्नियों के सामने॥

(१०)

बात तो बढ़ कर बनाते आज हम,
किन्तु करते काम हैं कुछ भी नहीं।
इस तरह की भीरुता से देखिए
क्या किसीने सिद्धि पाई है कहीं?

(११)

ताव मूँछों के लगाना व्यर्थ है,
'शक्ति' का संचार तनु में कीजिए।
ताव का ही भाव जो भरना पड़े
चाव से तब ताव मन में दीजिए॥

(१२)

आँख की लाली डराती अब नहीं।
रक्त की लाली दिखाओ लाल बन।
भूत लातों के न बातों से डरें।
शत्रु-घातों को मिटाओ काल बन॥

(१३)

बात करने से बनेगी बात ही
काम करने से करोगे काम को।
काम ही प्यारा जगत में है भला
कौन प्यारा कह रहा है चाम को॥

(१४)

'शक्ति' का संचार सब मिल कीजिए,
'शक्ति' का ही शस्त्र कर में लीजिए।
'शक्ति' अरि- की पेट भर-भर पीजिए,
'शक्ति' अपनी मत किसीको- दीजिए॥

पावन-प्रोत्साहन

(१)

उठो, उठो, अब चला गया है समय तुम्हारे सोने का।
हे वीरो ! यह शुभ-मुहूर्त्त है स्वयश-बीज के बोने का।
जो कुछ करना है कर डालो, फिर न सु-अवसर आने का।
यही दिवस है जय पाने का या रण में मर जाने का॥

(२)

भद्र-अवज्ञा-सहित, शत्रु से शान्त-भाव से करके युद्ध—
अग्नि-परीक्षा में तुम उतरो शुद्ध-सुवर्ण-समान-विशुद्ध।
ज्योतिषियोंको मत दिखलाओ, जय-स्वीकृतिको पाने, हाथ—
परको ही, पर, दिखलाओ तुम अपने आज पुराने हाथ॥

(३)

डटे रहो, मुख से न कहो कुछ सह कर अरिके वार अपार।
सब हाथयारों से तीखा है एक मौन का ही हथियार।
कवच अहिंसा का धारण कर, लो दृढ़ता की ढाल विशाल।
इसी तरह तुम विजयी होगे और उपाय न है इस काल॥

(४)

मनमें* माया है न, सदन मे माया का भी वास नहीं।
काया में बल‡ नहीं तुम्हारे और न‡ बल का ज़ोर कहीं।
फिर भी यह विश्वास करो तुम, जहाँ धर्म है विजय वहीं।
है स्वतन्त्रता-स्वर्ग यहीं पर, और दासता-नरक यहीं॥

(५)

उठो इस लिये, अब आलस में एक विपल भी मत खोओ।
करो फूट की, नष्ट, दाह को, प्रेम-अग्नि को तुम जोओ।
निज-सहायता करने पर ही ईश सहायक होता है,
सेना-रचना के पीछे वह सेना-नायक होता है॥

* तुम्हारे चित्त में कपट नहीं है और न घर में ही माया (धन है) ‡ ताक़त और सेना।

(६)

जो उदास होकर बैठे हैं आज हाथ पर रख कर हाथ—
नहीं कभी भी उन्नत होंगे देंगे वे दुर्गति का साथ।
आलसियों का काम यहाँ क्या, उद्योगी का है संसार।
सार यही है इस असार मे रखना अपना सुदृढ़-विचार॥

(७)

पाता है जो सूर्य उदय को वही अस्त भी होता है।
और अस्त होकर ही अपनी नित्य अस्तता खोता है॥
इसी तरह गिरनेवाला भी उद्यम से उन्नत होगा।
अवनति-उन्नति इन दोनों का भोग सभी ने है भोगा॥

(८)

"हम अवनत हैं," यह विचार ही उन्नति-पथ को रोकेगा।
"हम भी कुछ हैं," यों विचारना सबको उन्नत कर देगा।
फल की आशा छोड़ चाहिये दृढ़ता से सुकर्म करना।
मरने से तुम क्यों घबराते, एक दिवस सब को मरना॥

(९)

जो जीता अपने हित, उसके जीने से मरना अच्छा।
औरों के हित में मरना ही है जगमें जीना सच्चा।
कुछ करके दिखला देना ही मानव-जीवन का फल है।
पैदा होकर मर जाने में क्या वैभव है, क्या बल है?

(१०)

सोच-विचार आज जब तुमने काम कर दिया है आरम्भ—
तो उसको सम्पूर्ण करो अब भेद-भाव का तज कर दम्भ।
सभी विघ्न-बाधाएं सहकर, रक्खो यह विचार *अविराम—
चाहे प्राण निकल जाएं पर छोड़ेंगे न अधूरा काम॥

* निरन्तर।

* वीर-विरद

(१)

कुपन्थ में न जो गिरे, सुपन्थ से न जो हटे।
स्वदेशलाभहेतु जो विना कहे बढ़े, कटे।
महान् मोह लोभ को विचार शत्रु जो तजे।
विपत्ति और सौख्य बीच राम नाम जो भजे।
सदैव मातृभूमि के अपार दुःख जो हरे।
वही सुवीर है कि जो न विघ्न से कभी डरे॥

(२)

कबन्ध को स्वशीशका सहर्ष दान देत जो।
दिया हुआ स्वहाथ से कभी न फेर लेत जो॥

* यह कविता सन् १९२२ की है।

न अन्धहेतु नेत्रद्वन्द्व-दान के लिए नटे।
स्वधर्म त्राणहेतु जो न प्राण के लिए नटे।
जहान नार आप भी महान सिन्धु को तरे।
वही सुवीर है कि जो न विघ्न से कभी डरे॥

(३)

विलीन होय स्वार्थ में न कष्ट देत दीन को।
न सत्य बात बीच भीत होत देख पीन को।
स्ववंश-नीति को कभी परार्थ से न छोड़ता।
स्वमुष्टि का प्रहार से विपत्त-शीश तोड़ता।
सदा सुपात्र गेह को स्ववित्त से भरा करे।
वही सुवीर है कि जो न विघ्न से कभी डरे॥

(४)

परोपकार को सदा स्वकर्म आप मानता।
पराऽबला समूह को प्रणम्य वन्द्य जानता।
सुधीर कर्म है यही न धर्म वंश का तजे।
रहे कुटुम्ब नग्न तो न देह स्वीय को सजे।
स्वदोष-रोष दम्भ से रहे मनुष्य जो परे।
वही सुवीर है कि जो न विघ्न से कभी डरे॥

(५)

न हेल-मेल-तेल के सुगन्ध की कमी करे।
कभी न पाप श्रो परम्परान्ध की तमी करे।

न देश-वेश-वक्त्रकेश कान्ति को विनाशता।
सुराग-रंग-ढग और देश का न भासता।
स्वदेश-काम-काज से उसे कभी नही सरे।
वही सुवीर है कि जो न विघ्न से कभी डरे॥

(६)

सदा सुदीन-मीन हेतु हो प्रविष्ट नीर जो।
दया महान सिन्धु हो गभीर और धीर हो॥
विपत्ति-शत्रु-चौर के लिये सुतीक्ष्ण तीर हो।
प्रताप-नाशकारकी अकाल मृत्यु पीर हो॥
स्वप्राण लेय हाथ जो स्वदेश के लिये मरे।
वही सुवीर है कि जो न विघ्न से कभी डरे॥

अनाथों की अर्ज ।

(१)

सुनो महाराण-धीर वीर! हेरघुवर! विनय हमारी को।
हम अनाथ-गण पर दिखला दो करुणा अकथ तुम्हारी को॥
छोड़ आपको, कहो आपही, कहैं विनय करके किससे।
वही मोड़ लेता है मुख को, कहैं विनय करके जिससे

(२)

महाजनों की, धनवानों की, यही दशा जो हम कहते।
उनके लिये राम के घर से छै *कीले निर्मित रहते।

---

*काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य, ये छै प्रकार के लोहे के कीले मदान्ध धनियों के कर्ण, नेत्र और मुख में ईश्वर के घर से ही ठुके रहते हैं। जो विचार-शील और दानी वित्तवान् पुरुष हैं उनके लिये ये कीले नहीं होते हैं। १९२२ की कृति।

दो कीले कानो में है, वे इससे सुने न दोनों की।
विनयश्रवण फिर करें कहाँ से; धन-जल-विन हम मीनों की ॥

(३)

ठुके हुए रहते दो कीले उनके नयनों बीच सदा।
इससे वे न देखने पाते अतुल हमारा दुःख कदा।
अगर देखलें, सुनले तो वे कह न सके कुछ हो सुख में।
क्योंकि वहाँ भी ठुके हुए है, दो कीले उनके मुख में॥

(४)

दुखी पुरुष को मधुर वचन ही लाख रुपे सा होता है।
लाख रुपे जब मिलजावें तो दुखी पुरुष भी सोता है।
यद्पि अनाथ सदा से हम हैं तदपि सनाथ बने रहते ।
धनी दयालु-परीक्षा हित ही हमें अनाथ सभी कहते ॥

(५)

सर्व-शक्ति-शाली-जगदीश्वर कर सकता था धनी सभी।
तुम, हम, सबको कर सकता था ऐसे, जैसे भूप अभी।
पर उसने यह सोचा, कैसे नर, को मैं पर-जोखूंगा।
सबको कर इकसार, कष्ट से कैसे उनको रोकूंगा॥

(६)

और खरे-खोटे का *परिचय ।कैसे फिर मैं पाऊँगा ।
"सर्व-शक्ति-शाली" पुरुषों से कैसे फिर कहलाऊँगा ।
इससे यहाँ बनाये निर्धन, धनी सनाथ, अनाथ महा ।
पुण्य-शील, पापी, ऋषि मुनि भी और दुष्ट जन, सत्य कहा ॥

(७)

धनी बनाये, धन देने को, निर्धन धन के लेने को ।
रचे सनाथ, दीन-रक्षा-हित हमको धन पट देने को ॥
जो होकर धनवान न हरता, हम अनाथजन की व्याधी ।
वह धनवान राम के घर का है अपराधी, अपराधी ॥

(८)

उसको कभी भोगनी होगी दुखद ताड़ना यम की भी ।
भला ख़ैर है कहाँ, ईश के अपराधी के दम की भी ॥
जो आशीष अनाथों की नित लेता है उनके मुख से ।
न्हाते बाँका बाल न होता उसका, वह रहता सुख से ॥

(९)

पर, धनवान कभी न सोचते, इन बातों को तो मन से ।
व्यर्थ-ख़र्च में रुपे लुटाते, बुरे कर्म करते धन से ॥
जो अनाथ को धन देते तो वह बढ़ता, न कभी घटता ।
वह अनाथ निज मन से जुग-जुग नाम उन्हीं का शुभ रटता ॥

---

*पहचान

(१०)

सदा तुम्हारे आयु विभव को वृद्धि-हेतु हरि को भजता।
और तुम्हारे दिये हुए हो वस्त्रों से तनु को सजता॥
स्मरण रहे यह भी धनवानो! हम अनाथ वलशाली हैं।
अधिक शक्ति रखते हम तुम से, क्योंकि शीश, वनमाली है§॥

(११)

"आह" हमारी लोह-दुर्ग‡ को भी कर देती भस्म अहो।
फिर पुरुषों को क्यों न करैगी, ज़रा सोच कर, तुम्हीं कहो॥
"वाह" हमारी रंकों को भी भूप समान वना देती।
फिर धनियों को क्यों न वनावे, क्यों न दुःख-दल हर लेती॥

(१२)

जो अनाथ-दल को विललाते हुए छोड़ देता, जग में।
अपने आप वहुत से कंटक रुप जाते उसके मग में॥
वह न कभी दुखिया वनता है, जो अनाथ-रक्षा करता।
तन, मन, धन से "दाह" हमारी, जो तज स्वार्थ सदा हरता॥

(१३)

हम अनाथ हैं हम अनाथ हैं हम यह ही कहते रहते।
हम हैं "गाय" तुम्हारी, तुमसे अधिक और अब क्या कहते॥
हे धनवानो! दया करो तुम, महा दुःख हम सहते हैं।
हमें वचाओ अन्न-वित्त से यही वात हम कहते हैं॥

---

§ भगवान। ‡ लोहे का किला।

हिम्मत न हारिए

(१)

उलटे समुद्र-धारा, पलटे संसार सारा,
सहारा न होवै तोभी आह न निकारिए।
डंडों से शरीर कूटैं, लंपट लुटेरे लूटैं,
टूटैं नभ-तारे सारे तो भी धैर्य धारिए॥
पृथ्वी भी धसक जावे, शैलराज शीश आवे,
धावे सिंह-सर्प तोभी चित्त न बिगारिए।
काल के कराल-गाल, गिरके जंजाल-जाल,
भाल को विदारिए न हिम्मत को हारिए॥

(२)

टूटा पतवार आई नौका मझधार जभी,
बूड़ा कर्णधार तो भी दूसरों को तारिए।

हाथ हथियार नही साथ में न साथी कहीं,
तोभी दिल दुश्मन का दहला के फारिए॥
विघ्नों पर विघ्न आवें, सखा सब छोड़ जावें,
ढावें दुर्ग-गेह तो भी देह को उबारिए।
तान-तान कान तक छोड़ें बाण वैरी तो भी,
धीरज सदा धारिए हिम्मत न हारिए॥

(३)

धन-वन*-हीन-मीन होकर मलीन-दीन,
तीन लाख हेतु कभी हाथ न पसारिए।
आशा† दश वाच मिले केवल निराशा सदा,
तो भी कहीं आशा को न चित्त से विसारिए।
दरिद्रता-दावाऽनल, दुःख-दर्द दाह लगो,
सगो नहीं काया तो भी मन को न मारिए॥
वार-शार हों हज़ार तेज तलवार ' वार,
तो भी एक वार आप हिम्मत न हारिए॥

---

* जलः जीवनं भुवनं वनम्, इत्यमरः। †दिशाः आशाश्च हरितश्च ताः इत्यमरः।

चारु चेतावनी

(ग़ज़ल)

वना कर दुर्दशा अपनी बुरे हम काम करते हैं।
हमारे देश को, देखो, हमीं बदनाम करते हैं।

(१)

सदा बातें बनाते हैं समुन्नत देश करने को।
"कभी हम पैर उद्यम के अखाड़े में न धरते हैं" ॥

(२)

अरे अब भाइयो ! जागो, जगाओ और मित्रों को।
तुम्हारी कांति को, देखो लुटेरे आज हरते हैं॥

(३)

पढ़ाए पाठ थे जिनको कभी तुमने कृपा करके।
तुम्हारे कान अब दोनों भला वे ही कतरते हैं

(३)

कहीं पिता को पुत्र जलाता, कहीं पुत्र को पिता उदास।
कही सास को बहू रोरही, कही बहू को रोती सास॥
कहो कुटुम्ब ख़ूब फैला है, कहीं नहीं है नाम-निशान।
कही-कहीं पर रक्षक रहते, कहीं-कहीं पर मिले न त्राण॥

(४)

कही लड़ रहे भाई-भाई, कहीं हो रहा प्रेमालाप।
कहीं भला वरदान मिल रहे, कहीं दिए जाते हैं शाप।
कहीं किसी का गला घोटता, कहीं किसी को करे स्वतंत्र।
कहीं कुरान-बाइबिल पढ़ने, कहीं वेद के बोलें मंत्र॥

(५)

यहाँ वृक्ष का नाम नहीं है, वहाँ मिलें फल-फूल अपार।
यहाँ नग्न रहकर फिरते हैं, वहाँ करें सोलह श्रृंगार।
कहीं दुःख की दाह लगरही, कहीं वर्षता है आनन्द।
कहीं, हथकड़ी-बेड़ी पड़ती, कही सुखी फिरते स्वच्छन्द॥

(६)

कहूँ कहाँ तक क्या सुलझावें ? कैसा गुथा हुआ है जाल!
सब का काल काल को कहते, कहीं काल का भी है काल!
इसका भेद भेद ही है बस, नहीं जाननेवाला एक।
एक एक है एक वही, वह कहीं एक है कही अनेक।

(७)

यह तेरी है, यह मेरी है, यह यवनों की दुष्ट * समाज।
इसी फेर में पड़े हुए हैं जान-बूझकर भी हम आज।
तेरा-मेरा यहाँ न कुछ भी फिर क्यों है ऐसा कुविचार?
क्या फिर द्वेष परस्पर करते, क्यों न करें आपस में प्यार?

(८)

क्या लेना-देना है हमको, फिर क्यों हम लेते निश्वास?
कुछ भी दूर नहीं है हमसे, और नहीं है कुछ भी पास।
ख़ाली हाथ सभी आए हैं, जाएँगे सब ख़ाली हाथ।
नहीं साथ कोई आया है, और न कुछ भी जावे साथ॥

(९)

फिर क्या है कर्तव्य हमारा, क्यों हम हुए यहाँ उत्पन्न?
क्या केवल जल-पवन-पान-हित और सदा खाने को अन्न?
नहीं-नहीं यह बात नहीं है, यहाँ और ही है निज-धर्म।
कर्म दूसरा ही कुछ अपना, स्पष्ट जानिए उसका मर्म॥

(१०)

हिल-मिल करके सबसे रहना, सुवचन कहना मधुर महान।
मन न किसी का मैला करना, हरना नहीं किसी का मान।
परमेश्वर में श्रद्धा रखना, चखना उसका नाम-रसाल।
खूब सोहना शशि-सम, पर को पर, न मोहना फैला जाल।

* यह शब्द पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग भी है।

(११)

करते रहना कर्म निरंतर, जिससे अपना हो उद्धार।
भरते रहना भाव परस्पर, जिससे हों निज-शुद्ध-विचार।
हरते रहना चित्त-चपलता, उसमें* होने को साकार।
तरते रहना भव-सागर को, बस उसका पाने को पार॥

* परब्रह्म में।

स्वातंत्र्य-सुख

(१)

दुःखदाई है सदा परतंत्रता—
सिद्ध करते बात हैं यह चर-अचर।
नाम का ही क्यों न बंधन हो भला—
किन्तु होता अंत में वह कष्टकर॥

(२)

घोर-गर्जन व्योम में करते सदा—
पवन-शासन-बद्ध होकर मेघगण।
वृष्टि तो करते नहीं हैं, किन्तु वे—
डालते हैं अश्रुकण परतंत्र, बन॥

(३)

यत्न करता है, महा स्वातंत्र्य से—
सिंधु भी संबंध अपना जोड़ने।
तुंगतम-कल्लोल-माला-सैन्य को—
भेजता है वह तटों को तोड़ने॥

(४)

सब ग्रहों को देखिए आकाश में,
बंधनों से, वे, ग्रहों के घिर रहे।
सौर्यमंडल से निकलने के लिए—
श्रेष्ठ अवसर ढूँढ़ते वे फिर रहे॥

(५)

कर बढ़ाकर, मित्र लोकों को बना—
मित्र होना चाहता बंधन-रहित।
भूमि भी तो नाम की अचला बनी—
घूमती है रातदिन स्वातंत्र्य-हित॥

(६)

योगियों को, जो महा निष्काम हैं,
कामना है एक बंधन-मुक्तता।
स्वर्ग-सीमाबद्ध होकर स्वर्ग-पति—
चाहता है पूर्णता से युक्तता॥

(७)

और की तो क्या कहूँ, शिशु भी भला—
है न माता-गर्भ में रहता अचल !
सत्वयुत-स्वातंत्र्य पाने के लिए—
कौन होता है नहीं मन में विकल ?

(८)

इष्ट होती है किसी को भी नहीं—
दासता, परतंत्रता या दीनता।
उड़ रहे हैं वायु में परमाणु भी—
प्राप्त करने पूर्ण—बंधन-हीनता॥

*अनन्त का आदेश

(१)

ध्यान को कभी आप न दुनिया में फाँस रक्खो
चखो राम-नाम-रस, छोड़ो अभिमान को।
मान को बढ़ावो, गावो प्रीति-रीति नीकी, जोकी
ममता मिटावो, और पावो निर्वान को।
वान को स्वदेश की न छोड़ो, न मोडो मन को,
विद्या से अविद्या से न जोड़ो इस जान को।
जान को अजान को भी जान, जान अपनी सा,
देश--दुःख दर्दों में दो मर्दो! प्राण, ध्यान को॥

---

*सिंहावलोकन। यह कविता सन् १९२४ की रचना है।

(२)

धार की कृपाण लिए करो वार वैरी पर,
पर के समान जानो, संपत ससार की।
म्यार की स्ववृत्ति करो वृत्ति--वित्त--हीन हुए,
कुए में न गिरो छोड गंगा हरिद्वार की।
द्वार की न करो बंद श्रृङ्खला को दीन देख,
मेख रोपो रेख पर झूँठे व्यवहार की।
हार की न चिन्ता करो, अपने आहार की न
तात! दिन-रात बात कीजिये सुधार की॥

(३)

धारिए महान् धैर्य्य युद्ध बीच जीत लिये,
दिये हुये धाम को भी हिये से विसारिये।
सारिये लगाम शीघ्र हाथों से भाग्य--हय की,
मन-हस्ती-मस्ती को भी फुर्ती से विडारिये।
डारिये न धूल और आँखों में भूल करके,
मूल-मर्म दाव सदा सुख से विहारिये।
हारिये न हिम्मत को, किस्मत को न जाने दो,
छोड निज नाम कुछ स्वर्ग में सिधारिये॥

(४)

मात की स्वतात की ही कीजिये गुलामी एक,
शंका बदनामी की हो, भले ही स्वपात की।
पातकी न बनो आप हाँ में हाँ मिला सहर्ष,
धूम धाम में न फँसो लौकिक बरात की।
रात को प्रभात बता, हत्या में न गाल भरो,
करो नौकरी न कभी गात-जल-जात की।
जात की जमात का भी खुसेवा का मेवा चाख,
लाख करो खाख से भी भारत-जमात का॥

(५)

दाम के भी दाम लेके लूटो मत क्षीण दीन,
यहाँ काम के न हो तो वहाँ भी निकाम के।
काम के न हो कुरंग अंग पै न पोतो रंग,
भीतर रँगो रंग को श्याम-घनश्याम के।
शाम के न सुबह के, घर के न घाट के ही,
रहोगे न लिये बिना नाम अभिराम के।
राम के यहाँ तो ज्ञान-वृत्त पर टके बिना,
के टके उठेंगे इस टके की छिदाम के॥

(६)

माइए न मनमें देख औरों का वित्त मान
जी को नहीं ईर्षा और तृष्णा से तपाइये।
पाइये न दंभ—दारू औरों को फँसाइये न,
अपने को उठाइये, निज को जगाइये।
गाइये मलार नहीं प्रेमानल सुलगाने,
दीपक से दीपक की लोय को जलाइये।
लाइये न लाली कभी लाली पर नेत्र देख,
ईश-लीला लाली में ही लाल हो समाइये॥

(७)

ताइए न जी को कभी मृत्यु-भीति भीत हुए
मरना स्वीकार कर मरे को जिलाइये।
लाइये न गर्व सर्व संपत को देख निज,
सुख-दुख में समता मन को सिखाइये।
खाइये न बासी, वन-वासी हो भले ही रहो,
ताज़ी कर भुजाओं से ताज़ी पै सिधाइये।
धाइए न आप कभी मञ्जु मृगतृष्णा बीच
राम श्याम-नाम में रात-दिन बिताइये॥

फँद या फाँसी

(१)

पापियों को दण्ड देने फाँसियाँ,
शास्त्र कहते, है नरक में कष्ट—कर।
दोषियों के हेतु है पाताल में
फाँसियाँ रखते कई बलि-भूप-वर॥

(२)

नीच-हत्यारे यहाँ बच भी गए—
फाँसियों से जो, न गिरन शोक में।
तो फँसाने को उन्हें तैयार है
फाँसियों के फंद उस परलोक में॥

(३)

इसलिये अपराध करके दंड से—
चाहिये वचना न इस संसार में।
क्योंकि उससे छुप सके कुछ भी नहीं
जो खड़ा संसार के आधार में॥

(४)

चुप रहेगी जीभ जो हथियार की—
घोट कर के निरपराधी का गला।
तो कहेंगी क्यों न बूँदें रक्त की—
सृष्टि के निर्माण-कर्ता को भला॥

(५)

मनुज-सम्मुख दोष को या देह को—
है छुपा सकता पुरुष, कर घात को।
किन्तु उससे क्या छुपावेगा भला—
जो हृदय की जानता है बात को॥

(६)

डाल सकते धूल सबकी आँख में
धूर्त्त, बचने के लिये, छुप गेह में।
किन्तु उसको कौन धोखा दे सके
प्रकट होकर छुप रहा जो देह में॥

(७)

नोच बन, क्यों मनुज फाँसो से डरें ?
त्राण करने यत्न करने क्यों बड़ा ?
बच गए जो वे यहाँ, तो क्या हुआ—
न्यायकारी तो वहाँ पर है खड़ा ॥

(८)

चीज़ है फाँसी बुरी बिल्कुल नहीं
किन्तु फँसना है बुरा संसार में।
मत फँसो, पर शीघ्र फाँसी से बंधो—
गमन-हित आदर्श—न्यायागार में ॥

(९)

सत्य पर जा लटकते, या दुष्ट बन,
लाभ फाँसी से हुआ दोनों तरह।
सत्य वाले स्वर्ग पाने को गए—
दुष्ट जाते सुधरने अति—दुःख सह ॥

(१०)

देश-हित में जो मनुज फाँसी टँगे
धन्य उनको कह रहा संसार है।
है न वह फाँसी कभी उनके लिये
विश्व-विजयी-वीर का गल-हार है ॥

श्रीकृष्ण और सुदामा

(१)

श्रीकृष्ण—भूल गया किस तरह आज तू मार्ग सुदामा
चली गई है कहाँ कांति तेरी अभिरामा * ?
जैसे हो पहचान नहीं तू क्यों है ऐसे !
कैसे तू हो रहा मित्र ! है ऐसे-वैसे ?
तू-मैं दोनों साथ जब पढ़ते थे बन कर निडर ?
उन दिवसों की बात तू भूल गया क्या मित्रवर ?

(२)

सुदामा—भूला हूँ मैं नहीं, तुम्हीं मुझको भूले हो।
सुख-पलने के बीच क्योंकि तुम अब भूले हो ?

---

* सुन्दर।

तुम राजा हो बड़े और मैं रंक-दीन हूँ।
तुम तो हो बलवान और मैं शक्ति-हीन हूँ?
राजाओं के नेत्र जब चढ़ जाते आकाश में।
मुझ जैसे नर-कीट तब दृष्टि न आते पास में॥

(३)

तुम भी मेरे साथ रहे जब मैं था सुख में।
पर मुझको अब नहीं पूछता कोई दुख में?
तुमको क्या परवाह क्योंकि तुम हो नर-नायक*
सुध लेते जो आप भला था मैं किस लायक।
आना तो अति दूर था, मुझे बुलाया भी नहीं।
पूछा था क्या मित्र वह मरता-जीता है कहीं॥

(४)

मुख देखे की प्रीति सभी को होती जग में।
भरना है अति कठिन प्रेम का सब रग-रग में।
राजा का विश्वास बुरा है करना प्यारे।
पछताते सब होय भूप के बहुत दुलारे॥
क्या तुम हो क्या चीज़ मैं, कहाँ भोज तेली कहाँ।
निभ सकती है मित्रता आपस में कैसे यहाँ?

---

* मनुष्यों का स्वामी अर्थात् राजा।

(५)

श्रीकृष्ण—भूँठ, सुदामा भूँठ इस तरह तेरा कहना।
भूलूँगा मैं नहीं साथ मैं तेरे रहना।
मैंने तुझ को मित्र कहा तू मित्र रहेगा।
असली मानव बात कभी नक़ली न कहेगा।
सुख पाते हैं सर्वदा जिनके सेवक भी सभी।
उन भूपों के मित्र क्या पा सकते हैं दुख कभी?

(६)

औरों के धन और वचन से वश में होकर,
फँस जाता जो भूप जाल में, मति को खोकर,
है वह राजा नहीं, ध्यान से सुनो मित्र-वर!
हो जाता जो मुग्ध दासके *देह-गेह पर।
परख हृदय की जो करै, जो मानव को जानले।
वही भूप है, हंस, को बक को जो पहचान ले।

(७)

उसके पुर में भरे हुये हैं बहु–नर–नारी।
नहीं एक सी कभी प्रजा होती हैं सारी।
जो हैं ‡ बेर-समान कठिन हैं वे अंदर से।
मेवा रखते वही नारियल जो बाहर से।

---

* घर। राजा को हृदय की परख करना चाहिये। ‡ जो मीठे बोलते हैं वे अन्दर से बेर के समान कठोर होते हैं।

जो जन का मन देखना, नहीं वचन-तनको कभी।
सच्चा राजा जगत में उसको ही कहते सभी।

(८)

जिसके मन में क्षमा, प्रेमका नाम नहीं है।
जो देता कुछ नहीं, दया का धाम नहीं है।
हाथी के से दाँत वचन जिनके मन-माने।
खाने के हैं और दूसरे हैं दिखलाने।
ऐसा नृप राजा नहीं, करे और कुछ हो कहे।
जिसको "हाँ" में "ना" सदा, "ना" में "हाँ" छुप कर रहे।

(९)

सुदामा—बोलीं विनवा सत्य आपका ऐसा कहना।
पर मुझ को क्यों दुःख-सिन्धु में पड़ता बहना?
दीनबन्धु हो आप, दीन मुझसा न कहीं पर।
मेरे सिर पर और आपका कोमल-कर-वर।
फिर भी मेरी यह दशा, मैं अनाथ कहला रहा।
आप त्रिलोकानाथ बन, कष्ट रहे मुझ को सहा॥

(१०)

समझेंगे फिर आप कौन से दिन ये बातें?
बालकपन की क्योंकि कटगईं अवतो रातें।
नई जवानी आज आगई बहुत दिवानी।
जिस में अपना ज्ञान छोड़ देते हैं ज्ञानी।

धन-वैभव-अज्ञान से हे मोहन ! यौवन *मिला।
ऐसे सुखमय-समय में मुझसा निर्धन-जन मिला॥

(११)

'विद्या मेरे नहीं, ग्राम है, धाम नहीं है।
'तन भी सुन्दर नहीं विभव का नाम नहीं है।
'मेरी ऐसी दशा, कान्ति है मुख पर कैसी!
'जैसी है पोशाक, देह भी दुर्बल वैसी!
'मुझे ख़ुशामद भी भला आता है करना नहीं।
' दीन-वचन बहु बोलना और मुझे भाता नहीं॥

(१२)

मोर ‡ मुकुट से आप बने मन—मोहन, मोहन !
मान लीजिए मान, सत्य कहता है-सोहन !
दो कमलों को देख तुम्हारे वदन—कमल पर,—
डूब गये हैं जलज, द्वेष से, जल में, जल कर !
कृष्ण चन्द्र ! अब देखकर, पूर्णचन्द्र को भूमिपर,—
घटता-बढ़ता चन्द्र है, कहला करके शीत × कर॥

---

* दीनों पर दया करना, शरणागत को अपनाना इत्यादि बातें।
॥ इस समय तो सुन्दर वस्तुओं की चाह थी। ‡ अबतक सुदामा के स्वाथ था अब वह श्रीकृष्ण की माया से उनका असली रूप हृदय में देख रहा है। × सुन्दरता का गर्व दूर होने से अब ठण्डा पड़ गया।

(१३)

तुमसा सुन्दर और सलोना कहीं न जगमें।
कूट-कूटकर कान्ति भरी है सब रग-रग में।
मति में आप गणेश, दक्ष हो राजनीति में।
कुल-मर्यादा-विज्ञ* चतुर हो लोक-रीति में।
सब कुछ हो पर आप हो मेरे हित कुछ भी नहीं।
विनय सुनो, दोषी तुम्हें मैं कह सकता क्या नहीं?

(१४)

सभी तरह के पुरुष नगर में भरे पड़े हैं।
कई धनी बलवान् तुम्हारे द्वार खड़े हैं।
लाखों मुझसे मनुज मिलेंगे आज यहाँ पर।
और एक से, एक अधिक हैं जहाँ-तहाँ पर।
बल-विद्या में अधिक तो मनुज मिलेंगे हर कहीं,
किन्तु प्रेम में, एक भी है मुझ से बढ़कर नहीं॥

(१५)

मलिन-वेष को देख हृदय में दुःख न मानो।
मत देखो तन आप, एक मन को पहिचानो।
जिसपर सुन्दर चित्र आपका खींच लिया है।
चित्रकार में बड़ा काम क्या कठिन किया है।

* जाननेवाले।

छिपा हृदय में आपको सुखी आज मैं हो रहा।
तुम गिरिधारी, * किन्तु मैं गिरि-धारी-मद खो रहा॥

(१६)

कैसी है यह भक्ति-शक्ति है मेरे तन में?
गिरिधारी गिरि साथ छिपे हैं मेरे मन में।
मम-दरिद्रता गई, नई अब प्रभुता आई।
अष्ट सिद्धि-पति-कान्ति हृदय में मेरे छाई।
चाह न अब कुछ भी मुझे इस झूठे संसार में।
हाथ पकड़ कर अब मुझे मत तजना मंझधार में।

(१७)

श्रीकृष्ण—मेरा असली रूप किस तरह तूने जाना।
किस प्रकार से मित्र! मुझे तूने पहचाना।
जान गया मैं तुझे और मनको भी तेरे।
तू भी है अब अष्ट भव्य-भक्तों में मेरे।
तेरा सच्चा स्नेह है, पावन पक्का प्रेम है।
तू गुण-गरिमा-॥गेह है, और गंधयुत-हेम× है॥

---

* तुमने एक छोटा सा पर्वत उठाया था इसी का गर्व था; पर आज मैं आपके भार को हृदय पर धारण करता हूँ। मैं अधिक बलवान् हूँ जिसने आपको भी उठा लिया। ॥ गुण और बड़प्पन का घर ×सोना (सुवर्ण)

(१८)

मेरा वैभव देख, प्रेम जो मुझसे करता।
मुझे चाहता नहीं, स्व-यश के हित जो मरता।
स्वार्थ-नाव जो भक्ति-भाव-सर बीच बहाता
पाकर भी वह मुझे भक्त-वर नहीं कहाता।
जो मुझको मेरे लिए चाह रहा, मन जानता।
मेरे असली रूप को एक वही पहचानता॥

(१९)

प्राणों से भी अधिक, भक्त है मुझको प्यारा।
मेरा दाहिना हाथ वही है और सहारा।
स्वार्थ छोड़कर मुझे चाहता है जो मनसे।
करता मैं भी प्रेम सर्वदा ऐसे जनसे।
मैं भूखा हूँ भक्ति का, प्रेमीजन का दास हूँ।
जो मेरा बन जायगा, मैं भी उसके पास हूँ॥

(२०)

ध्यान-ज्ञान का गर्व मनुज जो करने रहते।
दिखलाने के लिये प्रम-सागर में बहते।
ऐसे तुझको मनुज मिलेंगे बहुत जगत में।
जिन्हें *धूर्त्त-पद-मात्र मिलेगा मेरे मत में।
अच्छा मन, मनमें सदा जिनके सच्चा प्रेम हो।
वह बच्चा भी भक्त है जिसे न कच्चा प्रेम हो॥

* केवल चालाक।

(२१)

रोते-सोते और जागते, खाते-पीते।
जलत-चलते और मचलने, मरते-जीते।
सुखमें-दुखमें, महा विपदमें और विभव में।
तनमें-मनमें, और वचन में गायन-रव में।
मैं ही मैं जिसके सदा, मैं-मैं* है जिसके नहीं।
मैं-मैं ही उसको करूं, उसे न ॥ मैं, तू फिर कहीं।

(२२)

जब तक मैं-मैं साथ भरा था तेरे मनमें।
तब तक तू-तू रहा भला तू मेरे मनमें।
मैं को तूने तजा मुझे कर भक्ति-प्रेम-ज़िन।
मैंने भी फिर त्याग दिया तू-तू तेरे हिन।
मैं ही मैं अब हूँ यहाँ, मैं-तू बिलकुल खो गया।
या मैं यों तुझको कहूँ तू अब तू ही होगया॥

(२३)

सुदामा—धन्य धन्य है तुम्हे, तुम्हारे इस प्रभाव को।
पार लगादी आज आपने जीर्ण-नांव को।
हटा दिया है चपल—चित्त से मोह-अँधेरा।
और मिटा ही दिया सर्वथा तेरा मेरा।

---

* अहंकार। ॥ जन्म-मरण का मिट जाना।

इन बातों के मैं लिए नजर करूँ क्या आपको ?
ऐसे करना क्या प्रभो ! है न बढ़ाना पाप को ?

(२४)

जो कुछ है, हैं आप, करूँ क्या अब मैं स्वामी ?
मुझे जानते सभी महा मैं निर्धन नामी।
तो भी यह उपहार हार कर भेट करूँगा।
इन्हीं कणों से *प्रिया-दुःख को दूर करूँगा।
ऐसा सुन, श्रीकृष्ण फिर मंद-मंद उपहास कर।
खाने तण्डुल-कण लगे दीन-सुदामा-दुःख-हर

(२५)

देख रही थी भला रुक्मिणी खड़ी वहाँ पर।
व्याकुल हो, चल पड़ी, पास जा, हाथ बढ़ाकर—
पकड़ ‖ तीसरी बार लिया निज-पति का कर-वर।
और कहा "ये ‡ नाथ! बनेंगे अधिक, सौख्य-हर"।
देखो कृष्ण-उदारता, कृष्ण-प्रिया की विकलता।
कृष्ण §-सखी-आश्चर्यता, कृष्ण-सखा की सबलता ‖

---

*मेरी पत्नी अर्थात् आपकी भाभी जिसने इन चावलोंको आपको भेंट करने दिया है। ‖ दो बार चावल खाना अर्थात् दोनों लोकों का वैभव देना; इसमे रुक्मिणीजी ने भगवान् को चावल की मुट्ठी नहीं खाने दी। ‡इनका अधिक खा जाना दुःखदायक है अर्थात् आप और हम फिर कहाँ बसेंगे। §रुक्मिणी व कृष्ण की सखियाँ जो वहाँ खड़ी थीं।

गुरु और गुणी शिष्य

(१)

नहीं एक को एक सुहाता युद्ध हो रहा है घमसान।
रोग तथा *दुर्भिक्ष बस रहे, जीवों को है दुःख महान।
दाएं-बाएं स्त्री-पुरुषों के अङ्ग फडकते फडक-फड़क।
फूलें-फलें वृक्ष अनमय में कलियाँ खिलतीं तडक-तड़क।
मूसलधार वर्षती वर्षा गिरें बिजलियाँ कड़क-कड़क।
कहो शिष्य! क्या कारण इनका? इश्वर-कोप-हेतु गुरुदेव!

(२)

कर पर कर रख कर बैठा है मन मैला कर हलवाई।
वनियाँ होकर बहुत उनमना गिनता है पैसे-पाई।

---

*अकाल।

घोड़े सूअर फिरैं खेत में नहीं हटाता उन्हें किसान।
बर का कंठ विभूषित होकर शोभा देता नहीं महान।
छोड़-छोड़ छोटे स्टेशन को गाड़ा चलती, तेज-निधान।
कहो शिष्य! क्या कारण इनका? माल* नहीं है हे गुरुदेव!

(३)

मोटा-ताज़ा मानव है पर जय पाता वह नहीं कहीं।
गोल-गोल सुन्दर मोती है तो भी उसकी क़दर नहीं।
नदी-सरोवर कः ला कर वे करते हैं न पिपासा-नाश।
बड़े कूप पर जाकर मन में तृषित और भी हुआ उदास।
खेत-बीज-बैलों को तज कर कृषक बना दासों का दास।
कहो शिष्य! क्या कारण इनका? पानी नहीं सुनो गुरुदेव!

(४)

पति-पत्नी सुख से बसते हैं दीन दशा में भी रह कर।
प्रेमी और प्रियतमा मिलते लाखों कष्टों को सहकर।
विना तपस्या के, विद्या के जन हरि-दर्शन पाजाता।
बन्द कमल में हो, मर जाता भ्रमर काष्ठ।-छिद्, मदमाता।
महाकठिन विद्या को नर-वर अल्प-परिश्रम से पाता।
कहो शिष्य! क्या कारण इनका? सच्चा स्नेह सुनो गुरुदेव!

* माला और मालगाड़ी इत्यादि अर्थ समझना चाहिए। । काष्ठ में भी छेद करनेवाला।

(५)

गिनता है छुप कर कोने में कृपण शीघ्रता से निज वित्त।
सब उलूक मन मोद-भरे हैं, हर्ष-भरे कुमुदों के चित्त।
अमल-कमल* में कमल होरहे कलिकाओं के भला समान।
श्रवणश्रवण करते न अभी हैं अलि-कल-कुल ‖ का कलकल-गान ×
नवमी का है चन्द्र तदपि वह छवि देता नभ बीच महान।
कहो शिष्य ! क्या कारण इनका ? अर्धरात्रि है हे गुरुदेव !

(६)

रवि-संमुख देखे तृण ताड़ें, भू पर खोंचें यों ही रेख।
विद्या की कुछ शिक्षा पाकर, भूलें उसे, न लिखकर लेख।
गङ्गा-तट पर बसें दिनों तक तरुण तृषा से पीड़ित बन।
उसे कूप मे डाल रहे, जो श्रेष्ठ खानि से आया धन।
जगत–वासना रखने को ही बन कर साधु जा रहे वनें।
कहो शिष्य ! क्या कारण इनका ? महा मूर्खता है गुरुदेव !

(७)

सीता-त्याग-दोष रघुवर मे, हरि में शस्त्र ग्रहणता + का।
कस्तूरी में कालेपन का, वन में महा-गहनता का।
"किनका सुन" ? ये वचन बनाते आशुतोष¶ को दोष-निधान।
नीरज में विधु-वैर, जलधि में खारेपन का दोष महान।

---

* जल। ‖ सुन्दर। × गूंजना। + भीष्म के सम्मुख महाभारत में श्रीकृष्ण का शस्त्र उठाना। ¶ महादेव।

उनमें भी कुछ अवगुण मिलते जो हैं सकल गुणों की खान।
कहो शिष्य ! क्या कारण इनका ? विधि का यही नियम गुरुदेव !

(८)

सदा ऊँघता ही रहता है करता कुछ भी काम नहीं।
जिसके नेता, हमने देखे मीर मारते नहीं कहीं।
नहीं चार ही धर्म, हर जगह धर्म हज़ारों जहाँ मिलें।
जिनके पीछे हृदय-भूमि पर सदा फूट के फूल खिलें।
जिनके कारण, शीश नरों के बूट चोट से नहीं हिलें।
कहो शिष्य ! क्या कारण इनका ? भारत बुड्ढा है गुरुदेव !

(९)

स्वीय सभा को तोड़ें-मोड़ें उन्नति से अपने मुख को।
भाई-भाई लड़ें, करें ऋण रखने को अपने सुख को।
पढ़े-लिखे अनुभवी सभी हैं तो भी उनमें रहती फूट।
द्विज होकर जो शिर पर रखते इंग्रेजों का बायाँ बूट।
घर बेचें जीमन-हित, पर के बिना बुलाए पड़ते टूट।
कहो शिष्य ! क्या कारण इन का ? ये पारोक सुनो गुरुदेव !

(१०)

हैं कटिबद्ध, किन्तु वे कुछ कार्य नहीं करने पाते।
देते हैं व्याख्यान, किसी का दुःख नहीं हरने पाते।

कहने में वे निगमाऽगम* की सभी बात कह सकते हैं।
कहाँ जाति की, वे अपना भी मानहानि सह सकते हैं॥
बड़ा काम करना चाहें तो जेल बीच रह सकते हैं।
कहो शिष्य ! क्या कारण इनका ? भारत—जनता-निर्बलता

(११)

विधवाओं को पर-घर रखते काम सभी कुछ करने को।
धर्म—निषिद्ध विवाह बताते उनके दुख को हरने को॥
तोड़ जाति—जन से नाते को, सबलों ॥ से उसको जोड़ें।
वेश्या के भी भाई बनते, भाई से मन को मोड़ें॥
वस्तु विदेशी सदा काम की, देशी को पल में छोड़ें।
कहो शिष्य ! क्या कारण इनका ? स्वार्थ-परायणता, गुरुदेव !

(१२)

टूंटी का जल पीते रहते, किन्तु अछूतों से वे दूर।
नहीं रेल में, किन्तु जीमते ऊंठ-भूंठ पर वे भरपूर॥
हाड़,¶ मांस की ऊन शुद्ध है, रूई से घबराते हैं।
टिंचर§ नहीं लगाते, तो भी कस्तूरी वे खाते हैं

---

* वेद पुराण। ॥ बलवानों से। ¶ मृतक पशु की चर्मसे निकली हुई ऊन तो सदा शुद्ध है, परन्तु वृक्ष से उत्पन्न हुई रूई और उसके वस्त्र अपवित्र हैं। § मृग के अधोभाग से निकली हुई कस्तूरी खाने में धर्म नहीं बिगड़ता; परन्तु शरीर के बाहरी भाग पर टिंचर लगाने से वह वह जाता है।

शीश नवाने गोगें को, कर काले से न मिलाते हैं।
- कहो शिष्य ! क्या कारण इनका ? धर्म सनातन है गुरुदेव !

(१३)

दूध, भात, वन, वैद्य सभी हैं, तो भी स्त्री के क्षय का रोग
सदा उदास, दुखी वह रहती, सुख गृहस्थ के सारे भोग ॥
देख, रही केवल चित्रों में सिंह, श्रृगाल, समुद्र अपार।
अतुलित-धन, अगणित-जन, जीवन लगते उसको भीषण-भार ॥
ऐसे निर्बल-शिशु जनती है जिनके तनु में कई विकार।
कहो शिष्य ! क्या कारण इनका ? परदे में रहना गुरुदेव !

(१४)

जो कुछ काम मनुज वह करता होता उसमें सफल नहीं।
विद्या—बुद्धि—युक्त होने पर, पूछ न उसकी होय कहीं ॥
परहित-साधन करे, तदपि हैं वैरी उसके कई महान।
धन आता है उठ जाता है, मनुज उसे कहते अज्ञान ॥
हो अपंग वह खाट काटता, मर जाता, यश-रहित, *निदान।
कहो शिष्य ! क्या कारण इनका ? पूर्व-जन्म का पातक-भार ॥

(१५)

मानव मन में मुग्ध हो रहे, चित्र-लिखे से हैं थल-चर।
हैं निस्तब्ध-भाव में नभ-चर, वृक्ष, लता, जल में जल-चर ॥

---

* अन्त में

पतित-पावनी-गंगा का भी जल ऊँचा चढ़ आया है।
तुंग तरंगों ने सागर की निश्चलता को पाया है॥
अति-आनन्द-सरोवर डूबा सब जीवों की काया है।
कहो शिष्य ! क्या कारण इनका ? मुरलीधर की मुरली-ध्वनि॥

(१६)

किया याचकों को भी उसने नहीं कभी लाखों का दान।
वह न वीर था, जीता उसने नहीं कभी संग्राम महान॥
सदियों पीछे आज ले रहे मानव उसका नाम ललाम।
वह प्रसिद्ध है, नहीं पंक भी है उसका स्मारक अभिराम॥
उसमें थे कुछ अवगुण तो भी, जग में उसका चलता नाम।
कहो शिष्य ! क्या कारण इनका ? श्रेष्ठ पुस्तकें लिखना है॥

पावन—प्रल्हाद

(१)

*कोटिक-काम-अभिराम-श्याम हैं, करुणा-वरुणालय ॥ जो राम—
पावनता पाने को रटते गंगा शिव भी जिन का नाम—
जनक-सुता-मुख-कमल-भ्रमर-वर जो सदैव कहलाते हैं—
वे भी, देखो, बाल-भक्ति के जाल बीच गिर जाते है ॥

(२)

भक्ति, शक्ति से भी है बढ़ कर; प्रेमी जिस का जान रहस्य—
कर सकता है ईश्वर को भी कठपुतली सा वश्य अवश्य।
ऐसा कोई काम नहीं है जो न भक्ति से पूरा हो।
काम अधूरा तभी रहे, जब मन में प्रेम अधूरा हो॥

---

* सुन्दर कामदेव के समान सलौने। ॥ दया के सागर।

(३)

धन्य-धन्य प्रह्लाद तुम्हें हैं, नाम तुम्हारा करके याद—
किस मानव के मन-मानस* में पैदा हो न पद्म ‖—प्रह्लाद।
तुमने "स्वर्ण ‡-नेत्र" का भी तो नेत्र-युग्म था खोल दिया।
राम-नाम रट करके अपना नाम आपने अमर किया॥

(४)

तुम पहले पक्के निशिचर थे, बने हुए थे नास्तिक-राज।
पर पीछे क्यों स्वयं सजाए तुमने ऐसे सुन्दर साज?
जिनको देख "जानकी§-जीवन मन से मोहित होते थे।
और बहुत से योगीजन भी योग-गर्व को खोते थे॥

(५)

हमें बताओ कौन धन्य है? तुम हो, या कि तुम्हारा ज्ञान।
या है शिक्षा देनेवाली, या कि धन्य है उसका ध्यान।
धन्य, या कि, बिल्ली के बच्चे, अथवा हाव कुम्हारी का—
ये न धन्य, पर नाम धन्य उस धनुधारी-असुरारी का॥

(६)

गिरि-वर पर से गिरने पर भी नहीं तुम्हारे आई चोट।
नहीं किया अनुभव जलने का पावक पर भी तुम ने लोट।

---

* मानस सरोवर। ‖ कमल-रूपी महा आनन्द। ‡ हिरणाकुस (सोने के सी आँख वाला) हिरण्याक्ष। § श्रीराम।

विषधर का विष भी तो तुमको; मृतक नहीं करने पाया।
असुरों का माया-छल भी तो प्राण नहीं हरने पाया॥

(७)

मदमाते वारण* को तुमने किया किस तरह वारण-दान?
कैसे हुआ देखकर तुमको मृग-समान मृगराज महान?
शस्त्र, लोभ, भय इनका कुछ भी नहीं आप पर असर पड़ा।
इन सबका कारण है, केवल हरि का नाम-प्रभाव बड़ा॥

(८)

राम-नाम के अतुलित बल को कलियुग के अज्ञानी-लोग—
कैसे समझें, लगा हुआ है उनके क्योंकि भोग का रोग।
किस्सा और कहानी लगती रामायण की जिन्हें कथा।
पढ़ना-लिखना दूर, जिसे है सुनने में भी जिन्हें व्यथा॥

(९)

श्री †धारण करता है तब ही "श्रीधारण" से जन का भाल—
जब उस पर हो हरी भरी बन भरी भक्ति की बेल विशाल।
माला को घिसने से ईश्वर तभी मुक्ति-माला ‡ देगा—
"माला § दे" यह कहना जब जन तज माला-वाला देगा॥

---

* हाथी, रोक † श्री (शोभा)—श्रीधारण-तिलक। ‡ मोक्ष लक्ष्मी या शोभा § लक्ष्मी का दीजिए।

(१०)

विना प्रेम-पीयूष* निरर्थक चरणाऽमृत का पावन पान—
"तुलसी" ‡ सा मन विना किए है तुलसी-चन्दन व्यर्थ महान।
कलियुग में जन राम नाम का कैसा ढोंग मचाते हैं—
भक्त कहाने, वे अपने को क्या-क्या नाच नचाते हैं॥

(११)

असली भक्तों का भी होता अब इनके कारण अपमान।
दुष्ट-संग से चली गई है माला और तिलक की शान।
नास्तिक अच्छे ढोंगी से, जो क्या-क्या जाल विछाते हैं।
सभी पोपलीला-धारी§ हैं, जो यों स्वाँग वनाते हैं॥

(१२)

पहले तुम प्रह्लाद नहीं थे ढोंग-कपट की करते बात।
लगन लगी रहती थी तुमको रामनाम की बस दिन-रात।
माला, तिलक, गौमुखी इनसे क्यों न काम तुम लेते थे?
राम-कृष्ण को एक मान, क्यों रामनाम तुम लेते थे?

(१३)

खंभ फाड़ नर-सिंह-रूप में प्रगटे विष्णु तुम्हारे अर्थ।
हिरण्याक्ष का नाश कराया थे कितने तुम भक्त समर्थ।

* अमृत ‡ तुलसीदासजी। § मुख में राम बगल में छुरी—रोम के अंदर रहनेवाले पोप की तरह बाहर भीतर-अलग-अलग।

हो सकता है बली बाल भी, यह तुमने कर दिखलाया।
बालक-भक्ति-मंत्र भी तुमने सकल-जगत को सिखलाया॥

(१४)

भक्तराज, गुणगेह, दयानिधि तुम को कहता है संसार।
इससे मेरी एक विनय को आप कीजिए अब स्वीकार।
इस भारत की दशा बुरी है, हो तुम इसको जान रहे।
इसे ठीक करना स्वधर्म है, ऐसा भी तुम मान रहे—

(१५)

ईर्ष्या-द्वेष-अग्नि से इसको शीघ्र जलाने आज यहाँ—
एक नहीं, पर कई खड़े हैं हिरण्याक्ष-गण जहाँ-तहाँ—
इससे आप सिखादो इसको वह अस्त्र-विद्या, बलवान!
जिससे होयँ तुम्हारे जैसे इसके अमर-सुयश-तनु-प्राण॥

रामायण के रचयिता

(१)

कौन देता जन्म इस साहित्य को ?
नद बहाता कौन काव्यानन्द का ?
मानता जिसको सभी संसार है—
लघु-सहोदर पूर्ण-ब्रह्मानन्द का ।

(२)

सृष्टि आती दृष्टिमें कुछ और ही—
आदि-कवि वाल्मीकि जो होते नहीं ।
प्राकृतिक-सौन्दर्य में वाचालता—
बीज को जो वे भला बोते नहीं ॥

(३)

लेखिये अद्भुत महत्ता-सत्यता—
सन्तजन-उपदेश-बलकी, भक्तिकी ।
और महिमा देखिये, फिर रामके—
ठीक उलटे नामकी भी शक्तिकी ॥

(४)

व्याधसे वाल्मीकिने ब्रह्मर्षि बन—
रम्य-रामायण-सुधाकी वृष्टि की—
मानवोंके चित्तमें जिसने महा—
शान्तिकी, आनन्दकी है सृष्टि की ॥

(५)

पापियोंका और कुटिलोंका कभी—
रोग आवागमनका मिटता नहीं ।
कर कृपा, कलिकालमें आते न तो—
भक्त 'तुलसी' रूपमें वे जो कहीं ॥

(६)

देववाणी-सम बनाता कौन जन—
मातृभाषा-नागरी को. यत्न से ?
जो न होते प्रगट 'हुलसी'-खानसे—
दिव्य, 'तुलसीदास' जैसे, रत्न से ॥

(७)

कान्त-कविता-कामिनीके कान्त है,
जो सभी साहित्यके मर्मज्ञ हैं।
विज्ञ हैं परिपूर्ण जो नृपनीतिके—
और जो वेदज्ञ हैं, धर्मज्ञ हैं॥

(८)

चाम के वे है न भूखे दाम के,
भक्त हैं वे कामसुर के वाम के।
राम के शुभ नाम के भी और वे—
है वड़े भूखे, न भूखे नाम के॥

(९)

भक्त-कवि-कुल-कमल-रवि होकर भला—
वे सुधाकर के सदृश है शान्तिकर।
धन्य-वसुधा पर सुधा-सर को सदा—
वे वहाते है, महा-भव-भ्रान्तिहर॥

(१०)

श्रेष्ठ-रामायण-सदृश संसारमें—
राजपथकी है न कोई दर्शिनी।
ज्ञानकी, हरि-भक्तिकी, शुभ-कर्मकी—
दूसरी ऐसी न कोई वर्षिणी

(११)

नीतिका यह दिव्य-आदि निधान है
गेह है यह ईश-गुण-गण-गीतिका।
स्रोत त्रेता-रीतिका भी है यही—
और है यह काल भवकी भीतिका॥

(१२)

मानता संसार यह सारा इसे—
सत्यता-शुचिता-महत्तागार है।
श्रेष्ठतम-उपदेश-शिक्षाका इसे—
और वह कहता महा-भाण्डार है॥

(१३)

चारु-चिन्तामणि यही कलिकाल में,
कर-निवासी कल्पतरु यह अन्य है।
धर्म का भी शास्त्र है पहला यही—
सब पुराणोंका यही मूर्धन्य है॥

(१४)

प्रेमसे जो नित्य इसका पाठ कर—
मानता उपदेश भी है सर्वथा—
आपही मिट जायगी उसकी महा—
दुःखदा-आवागमन-जाता व्यथा॥

(१५)

भक्त-कुल-रूपी कुमुद-विधुकी यही—
चाँदनी की है अनोखी सम्पदा—
जो खिलाकर मञ्जु-मानस-कमल को—
जानती घटना न, पर बढ़ना सदा ॥

(१६)

काल-वैरी को महा-कलिकाल में—
जाल में यह डालने का दाव है।
और यह संसाररूपी सिन्धु के—
पार पाने को अनश्वर-नाव है ॥

(१७)

हार है यह पण्डितोंके कण्ठका,
सर्व-लौकिक-धर्मका यह सार है।
कष्ट-पातक नष्ट करने हेतु यह—
एक, मानवमात्रका, हथियार है ॥

(१८)

जो पुरातन-पुरुष ही साक्षात् हैं—
श्रेष्ठ मर्यादापुरुषके रूपमें—
है उन्हींका चारु-जीवनचरित यह—
सुगमतम-सोपान-सम भवकूपमें ॥

(१९)

देहधारी-मुक्ति है जङ्गम यही—
जानकीपति-भक्तिकी यह मूर्त्ति है।
शक्ति है मनमोहिनी यह काव्यकी—
और 'तुलसी' की अलौकिक-स्फूर्त्ति है॥

(२०)

धन्य है कविराज! तुमको धन्य है,
और कविता भी तुम्हारी धन्य है।
'द्रोण' हो तुम, शिष्य मैं हूँ 'एकलव्य'—
काव्यगुरु मेरा न कोई अन्य है॥

गीता-गरिमा

(१)

कृष्ण ! हे गोविन्द ! रहकर लिप्त भी—
भोगियों के उस भयंकर-भोग में—
किस तरह फिर आप रहते हैं जमे—
योगियों के भी अलौकिक योग में ॥

(२)

आपकी महिमामयी माया महा—
मनुज—मन को मोह में भी डालती—
और गीताऽमृत पिलाती फिर उसे,
[illegible] को किस तरह है पालती ?

(३)

देख तुमसे रचित, *वसुधापर, ‡सुधा—
स्वर्ग का §पीयूष भी लज्जित हुआ।
क्योंकि उससे मुक्ति पा सकता नही—
है, ¶अमर-गण अमरता-मज्जित हुआ॥

(४)

पातकों के भार से लदकर भला—
भूल जाती पापियों को तारना—
जो तुम्हारे इस सुधा के पान की—
चित्त में रखती न गंगा धारणा॥

(५)

दिव्य-गीताऽमृत-महा-माधुर्य सी—
माधुरी संसार में है क्या कहीं?
क्योंकि इसके स्वाद से मीठापना—
खूब पीने से कभी जाता नहीं॥

(६)

मिष्टता के साथ इसमें मद भरा—
जो जगत के है नशों का नाश-कर।
एक सा ही जो चढ़ा रहता सदा—
कण्ठ से नीचे उतर कर शीश पर॥

*, पृथ्वी। ‡, §, अमृत। ¶ देवता अमृत से अमर तो हो सकते हैं परन्तु मोक्ष के अधिकारी नहीं कहला सकते।

(७)

जो मनुज इसका, निराला, प्रेम से—
एक भी पी जायगा प्याला भला—
शीघ्र उसके भाग्य का काला मिटे
आँख का हट जायगा जाला भला ॥

(८)

कौन *पाता हा ! हमें हरि के बिना—
दिव्य-गीता-ज्ञान-रूपी-नीर को ।
कौन निधनञ्जय-सदृश § करता भला—
प्रभु बिना रण में ॥ धनञ्जय-वीर को ॥

(९)

× सकल-निगमाऽगम हुए कल-कमल जो
तो मधुर-मकरन्द गीता-ज्ञान है ।
योगियों का वृन्द अर्जुन-भृंग-सम
कर रहा जो नित्य इसका पान है ॥

---

*, पिलाता । § ॥ निधर्न (मृत्यु) जय (जीतनेवाले) महादेव । श्रीकृष्ण ने गीता ज्ञान देकर अर्जुन को शिव-समान कर दिया था । × शास्त्र, वेद और पुराण ।

(१०)

देह-धारी जो कहें वेदान्त को—
तो भला गीता उसी का प्राण× है।
सीप के सम वह अभी बन जाय तो—
मञ्जु मोती यह महा द्युतिमान है॥

(११)

चारु-चिन्तामणि, महामणि विष्णु की—
सामने कुछ भी न गीता-रत्न के।
क्योंकि यह भगवान् से निर्मित हुआ—
और वे हैं फल विधाता-यत्न के॥

(१२)

नीति का भी, रीति का भी, भक्ति का—
शक्ति का भरपूर है भाण्डार यह।
ज्ञान वा विज्ञान, धर्माऽधर्म का—
और कर्माऽकर्म का आधार यह॥

(१३)

शास्त्र-'दर्शन'-शीशमणि गीता सदा
और अति-आनन्द-पारावार है।
मुक्ति-पंथ के ज्ञानहित भगवान् का—
भक्त को भेजा हुआ यह *तार है॥

* गीता वेदान्त का भी सूक्ष्म सार होने पर तार के समान है, क्योंकि जल्दी पहुँचना, संक्षेप में सारी बातें आ जाना तार के गुण हैं।

(१४)

सत्य जो संसार का साहित्य है

दिव्य गीता बस उसी का भाव है।

और यह अद्भुत, अनश्वर, अहित-हर

भीतिकर-भव-सिन्धु-तारिणि-नाव है॥

(१५)

लोक में ऐसी नहीं है दूसरी—

औषधी-आवागमन के रोग की।

पाप-*'मधु'-काली कराली है यही—

और है ताली यही बस योग की॥

(१६)

मुक्ति-मन्दिर को सरल-सोपान है

और है भव-कूप की जंजीर यह।

आधियोंकी--व्याधियों की वह्नि को—

नष्ट करने जाह्नवी का नीर यह॥

(१७)

दुग्धदा है, धेनुएँ सब उपनिषद्

ज्ञान-रूपी दुग्ध उनका सार है।

और गीता-सार का भी सार बन—

हो गयी नवनीत ‖-पारावार है॥

* राक्षस विशेष। ‖ मक्खन (माखन, लूना घी, समुद्र)।

(१८)

इस तरह के मधुर-*माखन-सिन्धुको-
एक पल में ही हज़म जब कर लिया—
तो सभोने सोचकर श्रीकृष्ण का—
नाम माखन-चौर तब से रख दिया॥

(१९)

कौन करुणा-सिन्धु है श्रीकृष्ण सा—
दीन को जो दान कर दे ‖मान का।
दूसरा दानी न उनसा है कहीं—
यों लुटा दे जो खज़ाना ज्ञान का॥

(२०)

हे प्रभो! यह प्रार्थना है, आप अब—
जन्म-भू पर शीघ्र ही आ जाइये।
चूर करके शत्रुओं का चक्र से—
श्रेष्ठ-गीताऽमृत हमें §पा जाइये॥

---

* गौरूपी उपनिषदों का ज्ञानरूपी दूध, उसका सार (माखन) गीता अर्थात् समस्त ज्ञान-सिन्धु को पी जानेवाले—हज़म कर जानेवाले-श्रीकृष्ण का नाम 'माखन-चोर' रखना सर्वथा योग्य है। ‖ तपसे मिलनेवाले योगियों के सम्मान को श्रीकृष्ण गीता-द्वारा शीघ्र ही प्रदान कर देते हैं। § पिला जाइये।

अतिरथी अभिमन्यु

(१)

अपनी माता और प्रिया से विदा माँग अभिमन्यु सुवीर-
बोला स्वीय सारथी से फिर गिरा अगर्व महा गंभीर।
"हे प्रिय ! सूत-सिंह ! रथ-रक्षक ! स्यंदनको कर कांति-निधान-
सजधज अश्वों को जोताओ करने को रण में प्रस्थान" ॥

(२)

"जो आज्ञा" कह चला सारथी मनमें करता हुआ विचार—
किस प्रकार से जय पावेंगे मेरे ये स्वामी सुकुमार॥
कहाँ सुकोमल तनु है इनका, कहाँ भीष्म से भीषण वीर।
किन्तु रहेगी होनी होकर, क्यों फिर करूं हृदय में पीर?

(३)

ऐसा सोच यान को लाकर खड़ा कर दिया द्वार-समीप।
जिसे देख तैय्यार, आगया *पावन—पाण्डव-वंश–प्रदीप।
निकट निहार नाथ को, बोला हाथ जोड़ कर सूत सुजान—
"प्रभो! आपको उचित नहीं है करना ऐसा युद्ध महान॥"

(४)

सुन कर उसने कहा "सारथी! तू न जानता क्षत्रिय—कर्म।
धर्म-युद्ध से कभी न डरना क्षत्रिय का यह पहला धर्म।
द्रोण–रचित-दुर्भेद्य–भयानक—चक्रव्यूह देख तू आज।
जहाँ खड़ी है कौरव-सेना और सुसज्जित-शत्रु-समाज॥

(५)

"अल्प-वयस्क जान कर मुझको युद्ध-कला-अनभिज्ञ न मान—
और अकेला हूँ मैं रण में, इसका भी मत कर कुछ ध्यान,
किन्तु याद कर लव—कुश—बल को जो थे भला निरे सुकुमार।
देकर हार॥ जिन्होंने अरिको, सुयश लिया लेकर जय-हार

(६)

"सदा सिंह–शावक करता है निर्भय हो करि-कुम्भ-विदीर्ण।
बाल-गरुड़ भी शेषनाग-का क्षय कर सकता करके शीर्ण।
†दुग्ध-वदन-श्रीकृष्ण-श्याम ने किया पूतना का संहार।
बाल-दाशरथि ने असुरों को मार, उतारा था भू-भार॥

—* अभिमन्यु ॥ पराजय। † दुधमुँहा-शिशु।

(७)

"फिर क्यों तू कायर बनता है, चला यान को रण की ओर।
जहाँ रक्त की नदी बहाकर युद्ध करूंगा मैं घनघोर—
अरि-शोणित से बुझा-बुझा कर मेरी बाण-तृषा को आज—
चक्रव्यूह तोड़ डालूंगा, रक्खेंगे हरि अपनी लाज॥"

(८)

यों कह कर बैठा वह रथ में, जो था सुषमा-पारावार।
नील-कंठ का मद लजाते जिसके थे जवयुत *हय चार।
रज के धूमयोनियों‖ से जो शीघ्र बनाकर दिन की रात—
स्यंदन को शब्दायित करके करने लगे हवा से बात॥

(९)

युद्ध—भूमिके निकट पहुँच कर खड़ा रह गया रथ द्युतिमान।
खूब निहार व्यूह की शोभा मुदित हुआ सौभद्र सुजान।
फिर संधाना बाण धनुष पर और शत्रुओं को ललकार—
तान कान तक प्रत्यञ्चा को, छोड़ा उसे सैन्य मझधार॥

(१०)

बाण एक था, पर लेता था कई शत्रुओं के वह प्राण।
जिसके लगा हृदय में उसका नहीं कहीं भी था फिर त्राण।
हाहाकार मचा सेना में कायर गए भीति से भाग।
लोह-बाण क्या था वह मानो लोहा§ बाण-अरि-हित था आग॥

* वेग वाले ‖ बादल। § लोभाण।

(११)

हलचल मची देख सेना में कहा जयद्रथ ने सत्रास—
"अरे कौन यह बनने आया काल-कराल-गाल का ग्रास!
किसके हैं दो शीश, सामने कौन हमारे आया आज!
किसकी मृत्यु नाचती सिर पर किसे बुलाता है यमराज!"

(१२)

इसको सुन अर्जुन-सुत बोला "मेरा परिचय सुनो यथार्थ।
द्रुपद-सुता का वरने वाले महारथी जो पांडव पार्थ—
वे हैं मेरे पिता, चिता जो चुन सकते थे तेरे हेतु।
जो तू नहीं भागता डर कर रंग-भूमि* से हे कुल-केतु!"

(१३)

कहा जयद्रथ ने फिर हँस कर "तुमको अहा! गया मैं जान।
सुन तेरा इतिहास, अंत में जिसके है इतिहास महान।
कुलटा-सम जो स्वकुल छोड़ कर भागी था अर्जुन के पास—
उसी अभद्रा महा सुभद्रा का है तू सौभद्र विकास॥"

(१४)

निज माता की झूठी निन्दा नहीं सुन सका वह गुण-गेह।
हुई लाल अभि-मन्यु† वेग से लाल-सदृश अभिमन्यु-सुदेह।
"अरे नराधम! यह ले तेरा काल आ रहा है विकराल!"
ऐसा कह कर बाण चलाया जो था एक भयंकर व्याल।

* द्रौपदी के स्वयंवर से। † क्रोध।

(१५)

करिकर-सम-अरिकर को उसने डसा धार डाढ़ों से युक्त—
और गरल-मूर्छा से उसको शीघ्र किया चैतन्य-विमुक्त—
मूर्च्छित देख जयद्रथ को फिर सैन्य होगई विकल महान।
पार्थ-पुत्र ने किया इस समय चक्रव्यूह बीच प्रस्थान॥

(१६)

इंद्रोपम अभिमन्यु वीरवर करने लगा बाण-वर-वृष्टि।
बड़े-बड़े शस्त्रास्त्र-घनों से युद्ध-भूमि पर की तम-सृष्टि।
करुण-गिरा अरि-जन की ने फिर किया घनाघन-गर्जन घोर—
और भूमि पर लगा सींचने लोहित-लोहित जल सब ओर।

(१७)

अरि के भयद भले भालों का करके भग्न भला भरपूर—
चन्द्रानन-परिहास-हास कर, छुरियों का कर चकनाचूर—
चारु चंचला चमकाता था, युद्ध-भूमि-के बीच विशाल—
वह निज कर से शर-वर द्वारा, गज-मुक्ता ओलों को डाल॥

(१८)

पांडव-केको आनंदित थे, कौरव-आक, हर्ष-दल-हीन।
स्वाति-बिन्दु-सम-रक्त-पान कर थे वायस-चातक अति पीन—
रण में होने लगी दृष्टि-गत पांडु-कुमार-रचित-प्रलयान्त।
अरि को लगा दिखाई देने सभी कहीं नैराश्य नितान्त॥

* बरसने वाले बादल † लाल रक्त रूपी जल ‡ तलवारें

(१९)

क़िन्तु प्रबल-भावी के संमुख नहीं किसी की गलती दाल।
विपल-मात्र में कर देती है, वह नरेश को भी कंगाल।
लगा एक अभिमन्यु-सूत के उर में दुःशासन का बाण।
जिससे कूँच कर गए उसके स्वर्ग-लोक को पावन-प्राण॥

(२०)

दुर्योधन ने गदा फेंककर किया हयों को मरणासन्न।
रथ को तोड़ कर दिया पल में अरि को एकाकी, आपन्न।
विरथ हुआ अभिमन्यु वेग से करने लगा अपार प्रहार।
किये कर्ण ने शर से उसके चारु-चाप के टुकड़े चार॥

(२१)

द्रोण-बाण से खंड हो गिरा पृथ्वी पर अभिमन्यु-कृपाण।
बचे-खुचे जो और अस्त्र थे उनका भी फिर हुआ न त्राण।
उसने विष्णु-चक्र-सम अपने चक्र-यान का लेकर चक्र—
किया प्रहार, किन्तु अब उससे हुआ विधाता था अति-वक्र।

(२२)

होकर वह निःशस्त्र बोलने लगा वचन इस तरह गँभीर—
"शस्त्र-रहित पर वार कर रहे नीचो! तुम कहलाकर वीर॥
देकर शस्त्र हाथ में मेरे युद्ध करो फिर तुम घमसान।
एक-एक तुम आकर लड़लो अथवा लेकर सैन्य महान॥

(२३)

"हे हत्यारो! सातों मिलकर मुझ पर तुम करते हो वार।
मैं हूँ ख़ाली हाथ और तुम रखते हो सारे हथियार॥
महारथी हो, क्षत्रिय-सुत हो, किन्तु होगए अब तुम नीच।
लज्जा को भी लज्जा आती आज अधर्म-युद्ध के बीच॥

(२४)

"कृपाचार्य! हे अश्वत्थामा! सुनो-सुनो हे शकुनि! अनार्य!
हे दुश्शासन! कर्ण! सुयोधन! हे अभिनन्दनीय आचार्य!
डूब मरो तुम सब कूएँ में, पर न करो तुम ऐसा काम।
क्षत्रिय-कुल को किया कलंकित किया कलंकित अपना नाम॥

(२५)

"अब न चाहते नेत्र देखना जो तुम करते महा अनीति।
तुम तुल गए मारने पर हो, और मृत्यु से मुझे न भीति।
किन्तु दुःख है बस यह मुझको, सुन निर्लज्ज-भीरु-समुदाय!
आज कायरों के हाथों से मैं मारा जाता हूँ हाय!!"

(२६)

यों कह कर वह गिरा भूमि पर कृष्ण! कृष्ण! रटता तत्काल।
एक ज्योति फिर मिली चन्द्र में, निकली उसका तोड़ कपाल—
और सदा के लिए सोगया श्रेष्ठ अतिरथी पार्थकुमार।
सात महारथियों के हाथों हुआ निहत वह बेहथियार॥

(२७)

उसके अरि-जन भी विमुग्ध थे उसको देख अलौकिक-शक्ति।
करते थे वे मुक्तकंठ से बहुत प्रशंसा सहअनुरक्ति॥
हे सौभद्र ! हुआ है ऊँचा तुझसे ही भारत का भाल।
सदा बसैगी सब लोकों में तेरी सुन्दर कीर्ति विशाल॥

(२८)

धन्य-धन्य अभिमन्यु ! धन्य तू भारत-मही धन्य है धन्य।
वीर और रणधीर हुआ है नहीं कहीं तुझ जैसा अन्य॥
तू ज्वलन्त था रत्न हमारा, और पाण्डुकुल-कमल-दिनेश।
बल में था तू परशुराम-सम, मति में था द्वैमातु-गणेश॥

(२९)

अश्रु बहाता सदा रहेगा, भारत तेरे लिए सशोक।
हम हो नहीं, रो रहे तुझको बिलख-बिलख कर सारे लोक॥
क्षत्रिय-कुल से उमड़ रही है अश्रु-नदी तेरे ही अर्थ
हृदय थामना भूल रहे हम चिन्ता करके हाय ! त्वदर्थ॥

(३०)

हम दुखियाओं को अब तुझसे यही विनय है वारंवार—
इस बूढ़े भारत में आकर होजा तू फिर से साकार॥
किन्तु जन्म ले-ले, घर-घर में करना अपने कई स्वरूप।
काट दासता की हथकड़ियाँ, भारत के बन जाना भूप॥

वीर-वर

(१)

वैरी पर बार-बार वार कहो कैसे होते—
रोते दीन पड़े-पड़े कष्ट-कारागार में ?
अबलाएं बाल-बाल बचतीं बला से कैसे,
होती नहीं कभी कमी भीषण-भुभार में ?
वीरता—ललाम—नाम केवल सुनाई देता,
भीरुता का भाव भरता सारे व्यापार* में ?
वीर जो न होते, नर सार‖ को बजाते नहीं,
सार§ को न पाते कहीं सुन्दर संसार में ॥

* काममें। ‖ लोहा। § सारांश, सारभाग। यहाँ यमकालङ्कार है।

(२)

लाता कौन धरा को, धारण भी करता कौन—
होता वराह का न शेष का अवतार जो ?
असुरों की असुरता सारा संहार करती—
आते नहीं धनुर्धारी राम हो साकार जो।
कुरु-वंश-कंश का विध्वंस नहीं होता कभी—
होते बलराम—श्याम नहीं बलागार* जो।
मानवता-मूल-बीज ब्रह्मा भला बोते कहाँ ?
वीर नहीं होते यहाँ वीरता-आधार जो॥

(३)

दुखी को दिलासा देता कौन दुःख-दाह मिटा—
होते जो न धीर-वीर दीन-मीन-नीर तो ?
पौरुष का नाम नहीं नाम को भी पाता कहीं—
पाते नर-हीर जो न सुन्दर-शरीर तो ?
कर्म-धर्म-धुरंधर बतलाओ कौन होता—
धरा भी धसक जाती होते न जो धीर तो ?
क्षीर-सिन्धु-मन्थन में हाथ को बढ़ाता कौन—
बाहँ को चढ़ाता कौन होते जो न वीर तो ?

* बल के घर।

(४)

बनता असम्भव भी सम्भव कहाँ से भला,
होता सफल कौन महा-कठिन-काम में ?
अपनी हथेली पर सरसों जमाता कौन,
ऐसा यश पाता कौन, देहधारी-नाम में ?
रुष्ट को पिटाता कौन, दुष्ट को लिटाता कौन,
कष्ट को मिटाता कौन देश-ग्राम-ग्राम में ?
वीर जो न आते यहाँ धीर जो न पाते यहाँ—
धन्य, धन्य ध्वनि लेता कौन धरा-धाम में ?

भारत* से भारत

(१)

"कुन्ती-नन्दन-कर्ण ! कर्ण कहते हैं सारे—
"कर्ण" सदृश दानी न कर्णगत हुए हमारे।
भवमोचन-|| सम-श्रेष्ठ आप सम कष्ट-विमोचन-
लोचन-गोचर हुआ नहीं कहते ये लोचन॥

(२)

"ऐसा सहृदय और दीन जन-हृदय विज्ञ-वर—
हुआ न, कहता हृदय हृदय वालों का मन-भर।
सुनो महात्मा ! दानवीर ! रणधीर ! हमारे—
आत्मा कहती वही कह रहे जो ये सारे॥

---

* दानवीर कर्ण और भारतवर्ष। भारत देश विप्र रूप धारण करके अपने पुत्र दानवीर कर्ण के पास स्वर्ग में जाकर उससे (प्रातःकाल जिस समय वह स्वर्ण-दान कर रहा है,) स्वतंत्रता की भिक्षा माँगता है, ये छन्द मानों उसके कहे हुए वचन हैं। || संसार को छुड़ाने वाले विष्णु भगवान।

(३)

"यादव-कुलको, या कि भोजको धन्य कहें हम,
दुर्वासा* को कहें या कि कुन्ती को उत्तम,
अधिरथ ॥ -राधा-कीर्ति याकि रवि-+सुयस बढ़ावें,
धन्यवाद का पात्र कहो किसको बतलावें ?

(४)

"हे ! क्षत्रिय-कुल-तिलक ! ध्यान में यह आता है—
धन्यवाद बस नाम आपका ही पाता है।
क्योंकि हुए ये सभी यशस्वी तुमको पाकर।
बढ़े नहीं हैं आप कभी इनके कहला कर॥

(५)

" उदाहरण है नहीं दृष्टि में ऐसा आता—
सुत को देकर जन्म रही हो कन्या माता।
जो तुम होते नहीं कीर्ति को कैसे पाती ?
कुन्ती कन्या×—मध्य नहीं धन्या कहलाती॥

---

* इसी कुल में भोजराज कुन्ती के पिता का जन्म हुआ है। जिन्होंने कुन्ती को कई मन्त्र बतलाए थे जिनके कारण वह पुत्रवती हो सकी थी। + कर्ण के पालन-पोषण करनेवाले पिता-माता है। × कर्ण के असली जनक सूर्यदेव। अहल्या, द्रौपदी, तारा, कुन्ती और मदोदरी ये पाँचों कन्याओं के नाम हैं।

(६)

"यम-यमुना* से कीर्त्ति सूर्य की बढ़ी न इतनी—
वह उन्नति के शिखर चढ़ी है तुमसे जितनी।
अधिरथ-राधा-नाम शून्य में निजको खाता—
पालन-पोषण जो न आपका उनसे होता॥

(७)

"दुर्योधन का नाम मन्द हो जाता सत्वर—
तुम जैसा जो उसे न मिलता कहीं धनुर्धर।
पाण्डव-भय लय हुआ आप ही उसके मन का—
सहज दिखाई दिया जीतना उसको रण का॥

(८)

"द्रोण, धनञ्जय, †भीष्म और वर ‖ वीर-परशु धर—
है इनमें से नहीं एक भी तुम से बढ़ कर"।
"पार्थ! अधिक है बली-कुण्डली यह दुखदायी"—
"कहते थे यों कृष्ण-कुण्डली-+शय्याशायी॥

---

* सूर्य-भगवान के पुत्र और पुत्री का नाम। †अर्जुन। ‖ परशुराम। युद्ध में अर्जुन को श्रीकृष्ण ये वचन कहते थे कि "यह कुण्डलोंवाला कर्ण अत्यन्त दुःखदाता है, + सर्प।

(९)

*"पद्मापति-त्रैलोक्यनाथ थे भला जहाँ पर—
"पद्मा"- ‖ पति ! तुम डटे रहे रण बीच वहाँ पर।
अर्जुन का संमान-ज्ञान तुम रहे घटा कर—
अर्जुन-निर्मित-युद्ध यान को गजों हटा कर॥

(१०)

"करते थे ‡"वृषकेतु"-जनक ! तुम रणमें उत्तम—
वह्नि-बाण-वर-वृष्टि उग्र-वृषकेतु + नयन-सम।
पाली तुमने सदा प्रतिज्ञा हे बलशाली !
बनमाली§ भी विज्ञ और हैं ▮मरीचिमाली॥

(११)

"आप जब श्रीकृष्ण जनार्दन §विप्र-वेष-धर—
माँगी भिक्षा¶ एक आपसे जब विचित्र-तर—
काट-काट कर मांस पुत्र का उन्हें खिलाया—
धन्य-धन्य है कर्ण ! तुम्हारी काया-माया॥

---

* लक्ष्मीनाथ। ‖ कर्ण की स्त्री का नाम। ‡ अर्जुन नामक वृक्ष की मजबूत लकड़ी से बना हुआ। + कर्ण के पुत्र का नाम। § बैल की ध्वजावाले शिव के सामान। ▮ श्रीकृष्ण। § किरणों की माला वाले सूर्यदेव। ¶ इसकी कथा महाभारत में है। श्रीकृष्ण ने कर्ण से, उसकी दानवीरता की परीक्षा लेने, पुत्रका मांस मांगा था।

(१२)

"हुए प्रकट जब सूर्य स्वप्न में भला तुम्हारे –
दिये तुम्हें उपदेश और जब प्यारे-प्यारे—
तब भी तुमने वचन कहे थे उन को ऐसे—
कोई दानी कह न सका है अब तक जैसे" ॥

(१३)

*"हे ! मेरे प्रिय-पिता ! आपकी आज्ञा अनुपम—
अभी मानली जाय, लाभ हो मुझको उत्तम,
पर मैं कुण्डल-कवच-हेतु क्या प्रण को तोड़ूं ?
प्राण-दान से भी न कभी मैं मुख को मोड़ूं" ॥

(१४)

"प्रभो ! मालिनी‖-नाथ ! आर्त्त-निर्धन-जन प्यारे !
सूतपुत्र ! राधेय ! पृथा+-युग-लोचन-तारे !
अङ्गराज ! चम्पेश ! महा-वैष्णव-मख-कर्त्ता !
हे दिग्विजयी-वीर ! धीर ! हे वैरी-हर्त्ता !

---

* सूर्य ने कर्ण को स्वप्न में यह सलाह दी थी कि तू कुण्डलों और कवच का दान किसी को भी मत देना किन्तु उसने इसको अस्वीकार किया और कहा कि "यदि कोई उनको माँग ही लेगा तो मैं इन्कार नहीं कर सकता।" ‖कर्ण से विजत-नगरी का नाम। +कुन्ती। ये और आगे भी कई कर्ण के नाम आते हैं। भारत ने नामों के मिष से ही कर्ण को उसका संक्षिप्त जीवन चरित्र सुनाया है।

(१५)

"सुनो कर्ण ! वसुषेण ! सूर्यसुत ! हे सुखकारी !
क्या न कर सके आप आज पहचान हमारी ?
इतने दिन की बात याद रह सकती कब तक—
इससे तुम पहचान सके हो हमें न अब तक ॥

(१६)

"भारत का क्या नाम आपने सुना कभी है ?
या कि कर्ण ! यह हुआ कर्णगत अभी-अभी है ?
भारत हूँ मैं वही विप्र-तनु-धारी-भारत—
ग़ारत जो हो रहा और जो मन में आरत ॥

(१७)

"चामीकर* की चाह चित्त में नहीं हमारे।
चपला ‖ का चाञ्चल्य क्योंकि जन जानें सारे।
सोना लेकर हाय पुरुष का दुख से सोना—
सो ना+ दो अब मुझे, किन्तु दो सुख से सोना ॥

---

* सोना, सुवर्ण। ‖ लक्ष्मी चञ्चला होती है इस का दान मैं आप से नहीं चाहता। मैं तो यह चाहता हूँ कि आप मुझे स्वतन्त्र करके सुख की नींद में सुला दीजिये। + वह मत दो।

(१८)

"आप स्वर्ण का थाल इसलिये हटा लीजिये,
पर स्वतंत्रता-दान आप अब मुझे दीजिये।
देखो मेरी दशा, कशा* के घाव देह पर—
हाथों में हथकड़ी, पगों मे बेड़ी दृढ़-तर॥

(१९)

"आया वैरी-वृन्द बुढापा मेरे छाया—
काया में बल नही, नही है घर में माया।
इससे मेरे लाल! लाड़ले! आवो आवो।
वृद्ध-पिता को कर स्वतन्त्र सब दुःख मिटावो।"

(२०)

भारत‡ ने जो भाव यहाँ पर व्यक्ति किए हैं।
भारत+ ने भी उन्हें वचन दे मान लिए है।
देखें अब, कब कर्ण दिखाते दान-वीरता?
कब होते हैं प्रकट बताने बाण-वीरता?

---

* हन्टर या कोड़ा। ‡ भारतवर्ष। + दानवीर कर्ण जिन्होने भारत में फिर से जन्म लेने का उसे वचन दे दिया है।

शिवा-शम्भु

(१)

महाराष्ट्र का मान कौन जन कहलाता है ?
दुश्मन का दिल कौन शान से दहलाता है ?
किसने अपना शौर्य धैर्य से दिखलाया है ?
किसने जय का मन्त्र भीरु को सिखलाया है ?
कौन महा-गंभीर है, शूरवीर-रणधीर है ?
कौन शत्रु-उर-तीर है, नर-रत्नों में हीर है ?

(२)

थी मुग़लों की देह काँपती किसके आगे ?
थे उनके वर-वीर सामने किसके भागे ?
पराधीनता-विघ्न कौन था हरनेवाला ?
गो-ब्राह्मण-सम्मान कौन था करनेवाला ?
किसने रक्खी लाज थी हिन्दी-हिन्दू-धर्मको ?
किसने की पहचान थी राजनीति के मर्म की ?

(३)

इन प्रश्नों का यही एक हो सकता उत्तर—
"शिवाशम्भु" या वीर-"शिवाजी" धर्मधुरन्धर।
भूतकाल का हाल जानते थे जो पूरा—
वर्त्तमान का मान बढ़ा जिन से न अधूरा।
और भविष्यत-कालके शुभ-दिन लखने के लिए—
जो जन्मे थे हिन्द को हिन्दू रखने के लिए॥

(४)

जो ऐसा तव वीर नहीं होता भारत में—
मिल जाता यह स्वयं कभी का बस ग़ारत में।
हरिद्वार का द्वार वंद हो जाता पल मे,
कावा* का पाषाण जन्मता काशी-जल में।
यह चोटी रहती नहीं छोटी सी भी शीश पर—
दाढ़ी ही दाढ़ी यहाँ लहरें लेती लटक कर॥

(५)

धन्य, शिवाजी! धन्य आपकी देश भक्ति को,
ज्ञान-ध्यान को, बल-वैभव को और शक्ति को।
रहते ऐसे वीर आज जो पुण्यभूमि पर—
तो होती यह दीन-हीन क्यों दासी बन कर।

---

* मुसलमानों का तीर्थ। यहाँ पर एक पत्थर है उसका सभी मुसलमान चुम्बन करते हैं।

इसकी ऐसी दुर्दशा होने पाती क्यों भला?
और न आकर घोटते यों, वैरी इस का गला॥

(६)

देख तुम्हारी शक्ति, अचलता प्रण में, वन में—
शूर! शाह-सुत २! डरा शाह-सुत अपने मनमें।
होकर के भी भला अन्त में बादशाह वह—
करता रहा सदैव तुम्हारी चाह-दाह वह।
देख अलौकिक आपकी शूरवीरता-सम्पदा—
आह! आह! कर शत्रु भी वाह! वाह! करते सदा॥

(७)

अपनी मा का दूध कभी तुमने न लजाया—
और न पीछे पैर युद्ध से कभी हटाया।
था वर्षों तक खूब शत्रु को नाच नचाया।
उस पर अपनी धाक जमा फिर ज़ोर जमाया।
मान बढ़ा जयसिंह का नीचा दिखला शाहको
जेल छोड़ किस मेल से ली थी घर की राह को

---

१ शाहजी शिवाजी के पिता का नाम था। आगे शाहसुत का अर्थ शाहजहाँ के पुत्र औरङ्गज़ेब से है। २ तत्कालीन जयपुर के महाराजा जयसिंहजी का कहना मान कर ही शिवाजी ने औरङ्गजेब से भेंट की थी और वे उसके दुर्व्यवहार के कारण लड्डुओं की टोकरी में (जिसका वे नित्य दान करते थे) छिप कर जेल से बाहर भागे थे।

(८)

वीर तुम्हारा महा पराक्रम गराय-धन्य था।
तुम जैसा रणधीर उस समय नहीं अन्य था।
वन अरि-हित-सन्ताप ताप तप-तेज तुम्हारा-
यहाँ वहता रहा सदा जय-गङ्गा-धारा* ।
पाकर जिसका कल-कमल‡, महाराष्ट्र रूपी कमल
पल-पल फिर बढ़ने लगा होकरके अविकल अमल

(९)

पीर‖-पुजारी-हेतु तुम्हारा तीर पीर वन—
वीर! वही फिर हीन-दीनजन-मीन नीर वन—
रचता था अरि-नारि-नेत्रजल-जलनिधि दुस्तर—
और मित्रगण-हेतु सेतु दुख-सागर ऊपर।
वार-वार तलवार के देख तुम्हारे वार को—
हार-हार कर अरि तुम्हें पहनाते जय-हारको॥

(१०)

शरणागत को सदा अंक में तुम लेते थे।
वैरी का पाखंड खंड तुम कर देते थे।
भारत के हित प्राण आपके थे न्योछावर।
पर-हित मे रत सदा आपकी थी काया-त्वर।
स्वार्थ आपका एक बस देश-दीन उपकार था!
हिन्दू, हिन्दू-धर्म से कैसा तुमको प्यार था!

---

* जय-गंगा की जल-धारा के कारण। ‡ जल और कमल। ‖ मुसलमान।

(११)

हो अब इससे प्रकट आप फिर जन्मभूमि पर।
फूंको फिरसे वीर-मंत्र वह अपना सुख-कर।
सच्चे ही अब यहाँ दुखी हैं अच्छे मानव।
कच्चे खाते उन्हें आज ये बच्चे दानव।
जब से आँखें फेरलीं हम से तुमने वीर-वर!
फेर दिनों का पड़ गया तबसे ही हे शत्रुहर!

(१२)

आवो, निज उद्दंड-चंड-भुजदंड बढ़ावो।
अरि-घमंड को खंड करो पाखंड मिटावो।
जमा अखंड "स्वराज्य" करके खंड-खंड कर—
दो दुष्टों को दंड आप बन स्वयं दंडधर*।
शिवाशम्भुदृढ़नेमना,"शिवाशम्भु"!आवो यहाँ।
माता का दुख मेटने ऐसा अवसर फिर कहाँ?

* राजा

प्रेम-पन्थ

(१)

चाहे तू अड़ा ही रह, पर्दे में पड़ा ही रह,
हम तो वस तुझे ही देखेंगे दिखायँगे।
चाहे तू मोड़ मन वन या सदन में वस
हम तो कभी भी तुझे छोड़ नही जायँगे।
चाहे तू बुला, अथवा भुला भ्रम बीच हमें
हम तो किसी न किसी विधि तुझे पायँगे।
चाहे तू मान या न मान हमें अपने, किन्तु—
हम तो सदा-सर्वदा तेरे ही कहायँगे॥

(२)

दर्शन विना दिए ही चलाजा तू भला आज
तेरे चित्र से ही हम मन वहलायँगे।
मुख को भी मोड़ ले तू, मत ले प्रणामको भी
तेरी पीठ को ही हम गर्दन झुकायँगे।

धाम को छिपा कर तू बता मत नाम को भी
तेरे ग्राम में ही हम आके बस जायँगे।
अपनी शरण में भी मत ले तू हमें, हम—
तेरी चरण-रज ही मस्तक चढ़ायँगे॥

(३)

जिससे तुझे जान लें सर्वदा पहचान लें—
ज्ञानों में श्रेष्ठ हम कहते उस ज्ञान को।
जिससे प्रबोध तेरा होवे अवरोध* बिना—
ध्यानों में श्रेष्ठ हम कहते उस ध्यान को।
तेरे ही गुणोंकी खान, है जो स्वर-ताल-युक्त
गानों में श्रेष्ठ हम कहते उस गान को।
तेरी ही यादमें जो तडफके निकल जावे—
प्राणों में श्रेष्ठ हम कहते उस प्राण को॥

(४)

वही है श्रवण वाला जिसके श्रवण सदा—
सुनते हैं कथाओं में तेरे यश-मान को।
वही है नयन वाला जिसके नयन सदा—
देखते हैं नित्य तुझ रूप के निधान को।

* किसी भी प्रकार की अडचन या रोकटोक।

वही है वदन वाला जिसका वदन सदा—
गाता है प्रेम-सहित तेरे गुण-गान को।
वही है हृदय वाला जिसका हृदय सदा—
देता है सहर्ष स्थान तेरे तीक्ष्ण* वाण-को॥

(५)

पाने को पार हम तड़फते रहेंगे सदा—
जल में डूब जाने पै हाथ को बढ़ाना तू।
आने को पास तेरे भटकते रहेंगे हम—
हमारे विनाश पीछे मार्ग को बताना तू।
करने पीयूष-पान+ खड़े ही रहेंगे कान—
चेतना के गए पीछे वाणी को सुनाना तू।
दर्शन के लिए तेरे खुले ही रहेंगे नेत्र—
हमारे मरण पीछे आके देख जाना तू॥

(६)

कभी तो निहारते ही तेरी जल-केलि, हम—
सरयू या यमुना के होते तट महान जो।
कभी तो सुनते तेरे बोल अनमोल, हम—
सुन्दर-शुक होते या सारिका सुजान जो।

---

* यहाँ रावण और बालि का संकेत किया गया है जो वैरी होकर भी भक्त थे। + वचनाऽमृत का पान।

कभी तो स्पर्श करते पाते मकरन्द, हम—
तेरे पद-कमलों के होते पद-त्राण[1] जो।
कभी तो आते काम, बनते यशधाम, हम—
तेरे पान-पीक-हेतु होते पीकदान जो।

(७)

तेरी बात सुनने को अठारह पुराणों को—
सारे शास्त्र, वेदों को भी हम छोड़ आयँगे।
तेरी छवि देखने को स्वर्ग के आनन्द को भी—
सुधा के समुद्र को भी हम छिटकायँगे।
तेरे मिलन-सुखको, प्यारोंसे बहुत प्यारे—
हमारे इन प्राणों से प्यारा बतलायँगे।
तेरे पास रहनेको, क्रीत-दास[2] बनने को—
त्रिलोकी के राज को भी हम ठुकरायँगे।

(८)

महा-भव-सागर का तैरना न आता हमें —
टूटी-फूटी नाव को पार अब लगादे तू।
नहीं जो लगावे तो डूबने के पहले हमें—
एक बार दूर से ही दिखादे तू।

१ खड़ाऊँ या जूते। २ मोल लिये हुए सेवक, गुलाम

ऊब गये जीने से हैं तेरे वियोग में हम—
आकर विष-प्याला ही प्रेम से पिलादे तू।
ऐसों की बात भी जो सुनना नहीं चाहता तो—
उनका आना-जाना ही जगसे छुड़ादे तू।

प्रताप-प्रशस्ति

(१)

क्षत्रिय-कुल-कमल के होके कमल बन्धु
कौन कीर्ति कमल से उसे सरसा गये !
मुग़लों की शान को, गुमान अभिमान को भी
कौन स्वप्राण-प्रण मे झूठा दरसा गये !
वैरियों की बाहुओं को, बार-बार, बाँध-फाँद
कौन वर-वीरता-वारिद बरषा गये !
"हिन्दूपति-पातशाह" होकर, ले वाह-वाह !
कौन अरि-आह ! आह ! पाके हरषा गये ॥१॥

(२)

रह जाते हक्के-बक्के मदमाते वीर-वैरी
छूट जाते छक्के देख जिनकी सुवीरता।
जिनके महान राजनीति-रीति-ज्ञान आगे—
लगती थी न्यून क्षीर-सागर गम्भीरता।

जिनका उद्दण्ड-भुजदण्ड देख दौड़ जाती—
सखा-सैन्य-भीरुता और वैरी-सुधीरता।
जिनके धर्म-वर्म आगे कभी न चली भला
तीरों की तीरता भी और पीरों की पीरता॥

(३)

गिरि-गुहा-गर्तों से गोविन्द-गुण-गान गाते—
आते जो विपद दुर्ग दुर्गम ढहाते हैं।
वैरी-जाया-जात-जल जलनिधि में और जो,
यवन-तन-शोणित-नदी में नहाते हैं।
"उदय" के पुत्र जो "अमर" के अमर पिता
"अजवाँदे" जीवन के जीवन कहाते हैं।
ऐसे महाराणा श्री "प्रताप" के प्रताप आगे
तपन के भी ताप-तेज आँसू बसाते हैं॥

(४)

धार है रखती तेज राणा-तलवार सदा
भुजादण्ड-युग्म-चण्ड शक्ति-पारावार है।
वार है न खाली गया बिना रक्त लाली लिये
दिये बिना और जिन्हें सुयश अपार है।
पार है न जिनके मस्तक की अनम्रता का
झुकी पाग भी न कभी उच्चता-साकार है

कार है न कहीं खिंची जिनके पराक्रम पै
जिनका शरीर,मन, वीरता-आधार है ॥

(५)

महाशक्ति, देश-भक्ति, राज-भक्ति, आत्म-त्याग,
स्वाभिमान, स्वावलम्बन, शुचिता, स्वाधीनता ।
साहस, पराक्रम भी, युद्ध-बुद्धि, शुद्धबल,
शूरता, रणधीरता, वीरता, अदीनता ।
श्रेष्ठता, महानता, आत्मोयता, चरित्रता भी,
सत्यता, दृढ़ता और क्षात्र-धर्म लीनता ।
इतने गुणों से की थी गुण-गेह ब्रह्माजी ने
पंच-भूत छोड़ महाराणा-तन-पीनता ॥

(६)

फोड़ना न आता जिन्हें अपनी प्रजा का भाग्य,
आता था परन्तु जिन्हें शत्रु-शीश फोड़ना ।
तोड़ना न आता जिन्हें श्रेष्ठ कुल-कान कभी
आता था परन्तु पर के कान फोड़ तोड़ना ।
छोड़ना न आता जिन्हें प्रण को किन्तु आता था
कुञ्जर-वर-कुम्भ पै "चेतक" का छोड़ना ।
मोड़ना न आता जिन्हें मन का संग्राम से तो
आता था किन्तु मन का मानिनी से मोड़ना ॥

(७)

वाह ! वाप्पा वंशधर ! मञ्जुल-मेवाड़-नाथ !
हाथ की हथेली पै रख के आप प्रान को।
काले-काले रङ्ग के भुजङ्ग-भील कील-कील
खोल-खोल करते थे मुग़लों के मान को।
शत्रुओं की जान पर देश हित खेल-खेल
जीव-जान जानते न आप जीव-जान को।
छोड़ा खान-पान को, किन्तु वलवान ! तुमने—
वान को न छोड़ी, नहीं छोड़ा धनुबान को॥

(८)

सीसोदिया-वंश-सूर्य ! भारत में शीघ्र आके,
हमको स्वाधीनता की कुञ्जी वतलाइये।
जन्म-भूमि जननी से होके बहुत बड़ी—
हा ! यों बिलखती है इसको अपनाइये।
दासता के दुःख-दर्द, दाह को मिटाओ आओ,
पाओ प्रण-पूर्ण और शत्रु-तेज ताइये।
आइये "प्रताप" आप धाइये स्वराज-काज
आज लाज रखने के साज सजा जाइये॥

माया-मर्दन

(१)

देवनाथ, जलनाथ, अग्नि, -को और काल को—
करना पडा प्रणष्ट शीघ्र फिर कपट-जाल को।
अपना-अपना रूप कर लिया सबने धारण—
सती-शिरोमणि, और अधीरा भैमी-कारण॥

(२)

जिसने फिर पहचान लिया चारों देवों को।
देख-देख कर स्पष्ट, शास्त्र-वर्णित-चिन्हों को।
थे, वे सब अस्वेद, स्तब्ध थे लोचन उनके।
थे मल-धूलि-विहीन, वदन अघ-मोचन उनके॥

---

*लेखक के "नल-नरेश" महाकाव्य से उद्धृत।

(३)

मालाएँ अम्लान, देव-तरु के पुष्पों की—
कहती थीं छवि-वृद्धि कान्त उनके कण्ठों की।
छाया-धरणी स्पर्श-हीन हो वे बैठे थे।
नहीं वायु से दिव्य-वस्त्र उनके उड़ते थे॥

(४)

उनके बाईं ओर भव्य-आसन पर भूपर—
दिखलाई फिर दिए वहाँ उसको नल, नृप-वर।
थी, कुमलाई हुई कण्ठ में उनके माला।
पड़ता था प्रतिबिम्ब भूमि पर और निराला॥

(५)

स्वेद-कणों का जाल झलकता हुआ निरन्तर—
होता था यों ज्ञात भाल पर महा मनोहर।
मानों थे द्युतिमान सुधा-धर-अर्ध-भाग पर—
हेल-मेल से खेल-खेलकर सुधा-बिन्दु-वर॥

(६)

स्वर्ण-पट्ट-सम-कान्ति-युक्त-गंगा-तट ऊपर—
राजहंस-अवतंस सुप्त थे अथवा, सुन्दर।
या पय-सागर-अर्ध-भाग पर थे अति उज्ज्वल—
सुरपति के गजराज भाल के वर-मुक्ताफल॥

(७)

निमिष-युक्त थे नेत्र नील-नीरज-वर-मद-हर ।
मृग-किशोर थे देख जिन्हें होते चंचल-तर।
नलिन-नयन बन मदन रदन था स्वयं दबाता—
जिन्हें देख कर शोक-सदन-समवदन बनाता ॥

(८)

थे विचित्र वे; किन्तु नहीं था उनमें अंजन।
तो भी अंजन-युक्त-नेत्र-मद करते गंजन ।
उड़ते थे नभ ओर देख कर जिनको खञ्जन ।
और निरञ्जन-नयन-सदृश थे वे मन-रंजन ॥

(९)

पुष्प-मुकुट से गिरी हुई रज सौरभ-वर्धन—
थी विभूति के सदृश, पुरन्दर-गर्व-विमर्दन—
गंध-मुग्ध-अलि-वृन्द-पंक्तियाँ महा मनोहर—
भव्य-भुजग सम ज्ञात हो रही थी वनधूसर—

(१०)

चन्दन-रेखा भृकुटि-मध्य, विधु सम अनुपम थी—
शोणित-मलयज-बिन्दु भाल लोचन के सम थी—
ऐसे नल-त्रिपुरारि-उमाकर-कमल-ग्रहण-हित—
थे, मानों सुर-वृन्द बराती सहित वहाँ स्थित ॥

(११)

नल के पावन-वस्त्र पवन से कम्पमान थे ।
तनु पर उड़कर इधर-उधर यों छवि-निधान थे ।
मानो देख समीप उमा को क्रोधित होकर—
बहा रही हो तुंग-तरंगें गंगा शिव पर ॥

(१२)

या विरहाऽनल-शान्ति-हेतु तनु-कान्ति-सुधा-सर—
दमयन्ती से उमड़ रहा था तप्त-स्वपति पर ।
पट-कम्पन-मिष बना प्रेममय हो खिलाता था—
अथवा नल से अनिल बाँह भर भर मिलता था ॥

(१३)

बहुत दिनों की विरह-व्यथा को मानों हरने,
भैमी का सौन्दर्य देखकर ईर्ष्या करने,
अपने से भी अधिक रसवती मान उसे वह,
कान्ति-वसुमती और अलौकिक जान उसे वह,

(१४)

करके नल-पद-स्पर्श भूमि यह बता रही थी—
"हूँ मैं तेरी सौत" बात यह जता रही थी ।
अथवा अपना प्रेम उसे वह दिखा रही थी;
या सन्तत-स्त्री-धर्म-कर्म को सिखा रही थी ॥

(१५)

नल के गल में हार श्वेत-मणि-गण का, सुन्दर—
होता था यों ज्ञात भीमजा को अति सुख-कर—
मानों सप्त-महर्षि मधुर-पीयूष-पान-हित—
वदन-सुधाकर-निकट हुए आकर हैं शोभित ॥

(१६)

था नल का सुउदार-हृदय-रूपी-रत्नाकर—
करता था उत्पन्न रत्न बहु-मूल्य, मनोहर।
अथवा चौदह-लोक-कीर्त्ति होकर एकत्रित—
मणियों का वर-वेष किए थी उर पर राजित ॥

(१७)

या पावन-पति-प्रेम, प्रिया-दमयन्ती के प्रति—
उनकी महा-पवित्र-चित्त की शुद्धि और गति—
स्थान-न्यूनता देख रत्न-गण का मिष लेकर,
झलक रही थी ख़ूब हृदय से आकर बाहर ॥

(१८)

ऐसी शोभा देख स्वपति की भीम-कुमारी—
वर माला के साथ, उसे थी जो अति प्यारी—
आगे बढ़ी सहर्ष प्रतिज्ञा पूरी करने—
नल को पहना उसे कष्ट को अपने हरने ॥

(१९)

उस पर लिया जमाव जमा लज्जा ने आकर—
और बढ़ा संकोच साथ में हाथ बढ़ाकर।
था कुछ-कुछ भय उसे देख कर पास सुरों को।
किन्तु हर्ष ने हरा दिया था इन तीनो को॥

(२०)

आकर नल के पास समादर सहित, भक्ति से—
उसने अपने हाथ उठाकर स्वानुरक्ति से—
उनके गल में महा मनोहर जयमाला को—
पहनादी, दशचार-लोक-शोभा-शाला को॥

(२१)

वरण हुआ पति देख नारियों और नरोंने—
"साधु-साधु" यों कहा प्रेम से देव वरों ने।
बजने लगे मृदंग शंख भेरी सहनाई,
दुन्दुभियों पर और लगी फिर पड़ने घाई॥

(२२)

दो आशिष अभिलषित द्विजों ने उन दोनो को।
सुन्दरियों ने छेड़ दिए सुन्दर-गीतों को।
भीम-प्रिया ने किया अयाचक वंदी गण को।
धन, वस्त्रों को लुटा दिया नृपने द्विज-जन को॥

(२३)

भूषित-भूप उदास किए अपने वदनों को—
छवि-हत हो चल दिए शीघ्र जिन, जिन, सदनों को।
कुण्डिन में सब ओर महा आनन्द छागया;
मानों तनुधर मोद वहाँ हो स्वयं आगया॥

(२४)

आपस में अति प्रीति देख दोनों की सच्ची,
अपने सम्मुख निरखजुगल जोड़ी को, अच्छी,
बोला नल से इन्द्र "आप आदर्श भूप हैं,
और जगत के बीच दूसरे विष्णु-रूप हैं॥

(२५)

"स्वार्थ छोड कर सभी हमारे श्रेष्ठ-दूत बन—
किया आपने कठिन कार्य जो हो प्रहृष्ट-मन—
उसकी महिमा करूँ कहो मैं भला कहाँ तक,
पहुँच सकेंगे नहीं शेष भी सत्य वहाँ तक॥

(२६)

"हे नल! इससे आज बहुत ही हर्षित होकर—
देता हूँ वरदान आपको दो, मैं, सुन्दर।
मेरे दर्शन स्पष्ट यज्ञ में तुम पावोगे—
होकर जीवन-मुक्त स्वर्ग सीधे जावोगे।"

(२७)

कहा अग्नि ने "मुझे जहाँ तुम जब चाहोगे,
उसी समय साक्षात वहाँ मुझको पावोगे।
मेरी कान्ति समान लोक देता हूँ उज्ज्वल—
-भोगो, बिलसो इन्हें सर्वदा सुख से हे! नल!" ॥

(२८)

पाकशास्त्र-चातुर्य, धर्म में दृढ़ता सन्तत—
ये वर उनको दिए काल ने अपने अभिमत।
और अन्त में कहा वरुण ने प्रमुदित होकर—
"किया हमारा कार्य स्वार्थ को तुमने खोकर—

(२९)

"इससे मेरी जहाँ करोगे तुम इच्छा जब—
वहाँ शीघ्रतम प्रकट स्वयं ही हूँगा मै तब।
नन्दन-वन के महा-दक्ष-वनपालक-निर्म्मित—
है यह माला कल्पवृक्ष-पुष्पों से विरचित ॥

(३०)

"देता हूँ मैं इसे आपको होकर हर्षित—
जो सदैव अम्लान रहेगी और सुगन्धित।"
आठों ये वरदान उन्हें अत्युत्तम देकर,
दमयन्ती को लगे इस तरह कहने निर्जर ॥

(३१)

"हे पुत्री ! पति-भक्ति, और प्रण देख तुम्हारा—
आज महान प्रसन्न हुआ है चित्त हमारा।
देते हैं हम तुम्हें इसलिए दो वर, सुन्दर—
हो जावोगी महा-मुदित तुम जिन्हें प्राप्तकर॥

(३२)

'यह-पातिव्रत सदा तुम्हारा अटल रहैगा,
सती-शिरोमणि और तुम्हें त्रैलोक्य कहैगा।
जो सतीत्व को कभी नष्ट करने आवेगा—
वही तुम्हारे अतुल तेज से जल जावेगा"॥

(३३)

इस प्रकार वरदान हर्ष से उसको देकर—
पल में अन्तर्धान होगए चारों निर्जर।
वे विमान में बैठ चल दिए स्वर्गलोक को—
बैठा करके और चित्त में महा-शोक को॥

(३४)

उधर भीम ने पूज्य-पुरोहित को बुलवाकर,
धर्म-शास्त्र-अनुसार श्रेष्ठ-तम लग्न दिखा कर,
नल के साथ विवाह कर दिया दमयन्ती का।
जिससे हलका भार होगया उसके जी का॥

(३५)
कुण्डिनपुर में लगा ज़ोर से उमड़ घुमड़ने—
अद्वितीय-आनन्द-सिंधु बाँसों ही चढ़ने।
जिसके अन्दर सभी जरी के तम्बू डेरे—
थे मानो उत्तंग-तरंगें पुर को घेरे॥

(३६)
नर-नारी थे रत्न, क्षुद्र-थल-चर थे जल-चर।
नाग-उष्ट्र थे मत्स्य, वाजि थे मीन कान्ति-धर।
श्रेष्ठ-सरस-संगीत-शब्द सुखदायक, सुन्दर—
था तरंग-रव, रम्य महा-गंभीर-धीर-तर॥

(३७)
नाविक दासी दास और नावें थीं रथ-घर।
मोद-प्रेमरस-मिलित-नीर था उसके अन्दर।
इस सागर को दिया देख कर कर शुभ वेला को—
सेना वेला*-सहित भीम ने नल राजा को॥

(३८)
रख लेते जो भीम नगर में बहुत दिनों तक—
इस अनुपम-आनन्द-सिन्धु को, तो संहारक—
इसका आता शीघ्र पियासा-पीड़ित होकर—
जिसे महर्षि अगस्त्य सभी कहते हैं नर-वर॥

---

*समय और किनारा।

स्वरूप-स्वर्गारोहण

(१)

विद्या-जल-दान हेतु कौन कटिवद्ध होता—
करके निर्माण ऐसे पीन *ज्ञान-कूप का ?
हरता दुख-भार कौन दीन-आधार बन—
पाके पीयूष‡ उन्हें राम-नाम अनूप का ?
प्रेम-भक्ति-चद्रिका को छिटकाता कौन यहाँ—
आना जो न होता यों अदोषी ‖ द्विज-भूपका ?
दान-पुण्य का न नाम नाम को भी पाता यहाँ—
होता कलि-कालमें न जन्म जो "स्वरूप" का

---

* पुष्ट या पक्की (ज्ञान-कूप) पारीक पाठशाला। ‡ अमृत।
‖ दोषरहित श्री तिवाड़ीजी रूपी ब्राह्मणों का राजा चन्द्रमा।

(२)

माई के लाल होकर "लाल" वे हुए हैं ऐसे
जैसे लाल* लाल होय रम्य रत्न-हीर से।
ऐसी शुचि-महा-आत्मा भूपर जो न आती तो—
होता उपकार यों न मानव-शरीर से।
युवा-पुत्र-पौत्र-दुःख, कहो कौन झेल लेता
होते जो न पैदा यहाँ उनसे सुधीर से ?
दीन-मीन जाते कहाँ, छीर-नीर पाते कहाँ
जो नहीं आते यहाँ "स्वरूप" दान-वीर से॥

(३)

दूषण-विहीन ! सुनो, भव्य-पारीक-भूषण !
आपको न छूने पाई छाया अभिमान को।
लाखों प्रयत्नों से भी कहने में न कभी आवे—
महा महिमा आपके व्यापारिक-ज्ञान की।
अपनी ही भुजाओं से ऐसा पद पाकर भी—
सुनते थे सदा आप दीनता-निधान की।
धन-गुण-लाभ कारी, महा-मद-मोह-हारी—
बलिहारी आपके है ऐसे विद्या-दान की॥

---

* लाल रंग की मणि हीरे से जैसे अधिक श्रेष्ठ (रम्य, सुन्दर) होती है।

(४)

हुए हैं बहुत ऐसे जिनने किये हैं हेड़े,
वाह-वाह लेके दीन-आह' जो भगा गए।
मोहरें * परोस की थीं जिनने ज्योनार बड़ी,
पड़ी थी धाक जिनको, तोपें ‡ जो दगा गए।
पाकर जागीर बने वीर-नर-हीर-धीर,
जाति बीच जीवन की ज्योति जो जगा गए।
किन्तु शिक्षा-कल्पवृक्ष, विद्या की अमर-बेल,
होकर पारीक एक आप ही लगा गए॥

(५)

पात्र को, कुपात्र को भी देते थे पवित्र-पात्र,
काल में भी माल, आप, दीनों को खिला गए।
मिसरी से मीठे बोल, बोल अनमोल आप,
जन-मन-सुमन को धन से खिला गए।
देकर के महा-मान, लेकर के कन्या-दान,
लुटा धन-धान आप जीवों को जिला गए।
बना कई धर्म-धाम, मन्दिर ललाम आप,
राम-श्याम-नाम-सुधा सब को पिला गए॥

हेड़े—सर्व-जाति-एकत्र-भोज सवांला, गाँवाई। * सांगानेर के जोशी 'जोगाजी' ने विवाह की बढ़ार में रुपये मोहर पुरसाये थे। ‡ पुरोहित राजा 'मानजीदास जी' के साथ गुडदे (हल्की तोपें) चलती थीं।

(६)

विद्या-दान-हेतु सदा धन को बहानेवाले,
    द्विजों को जिमानेवाले भोजन* विशाल को।
सुख को बढ़ानेवाले, दुःख को घटानेवाले,
    काटने-कटानेवाले दीन के जंजाल को।
कहके जतानेवाले, चेटक बतानेवाले,
    करके दिखलानेवाले ऐसे कमाल को।
धन को कमानेवाले, धर्म में लगानेवाले,
    मा ने नहीं जाया कहीं आप जैसे लाल को॥

(७)

कहाँ तक गुण गावें, पूज्य-पाद! हे "स्वरूप"!
    आप सब संसार के गुणों के आधार थे।
भीरुता-संहार-कार॥, भारती‡ के चारु-चार,
    विद्या के प्रचार-कार, दृढ़ता के सार थे।
जाति-नाव-कर्णधार, गुप्त§-ज्ञान-पारावार,
    निर्धन-आधार, शील-सत्यता-साकार थे।
सीधे-सादे शानदार, भोले-भाले मालदार,
    मीठे मिलनसार और समझदार थे॥

तिवाड़ीजी ने हजारों थाली-लोटे-कटोरे आदि पात्र दान में दिये थे।

* बड़े-बड़े ब्राह्मण-भोजन।

॥ व्यापार में डरपोकपना न आने देने वाले। ‡ सरस्वती के सुन्दर दूत। § वणिक, व्यापारिक ज्ञान के समुद्र।

(८)

आप कहाँ गए हैं क्या ? नहीं नहीं यहीं ही हैं,
आपका तो वास-स्थान जन-मन-धाम है।
जो न मानों* आवो देखो, आपकी बताने स्थिति,
आँखों से झरता यह आपका ही नाम है।
ना-ना-आप कहते हैं, नाना‡ ! मैंने माना भी जो,
आना-जाना, सदा से ही मानव का काम है।
तो भी उन्हें भूलूँ कैसे ? मेरी देह बीच भरा,
जिनका पुनीत-लाल-लोहित§ ललाम है॥

(९)

आप की ही माला हम फेरते थे रात-दिन—
तोभी क्यों हमारा दिल आपने दुखाया है ?
दया के निधान और दीनों के प्राण होकर—
आपने विशाल-जाल शोक का बिछाया है।
ब्रह्मा§ के पवित्र अंश, वंश‖-अवतंश को भी—
कहो कृपानाथ ! कहाँ आपने छिपाया है ?
जान गए, जान गए होने को पवित्र आप—
आपने "स्वरूप" को स्वरूप में मिलाया है॥

---

*जो आप नहीं मानते हैं तो। ‡ स्व० तिवारीजी कवि के नाना (माता मह) थे § रक्त, ख़ून। § ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने के कारण पारीक-ब्राह्मण सबसे पवित्र हैं। ‖ कुल के भूषण (गहना)।

(१०)

होकर हमारे शिष्य करुणा-निधान-कृष्ण !
घोर दुःख देके हमें आपने रुलाया है।
ज्ञानवीर, दानवीर जो थे बड़े दयावीर—
आपने तो उनको भी यहाँ से उड़ाया है।
दक्षिणा तो दूर रही, लूटा हमें आपने है—
और बोज चिन्ता का भी चित्तमें लगाया है।
डाकन भी एक घर छोड़ती है; आपने तो—
गुरुओं के गेह से भी "लाल" को चुराया है॥

स्वर्गवासी श्रद्धानन्द

(१)

जन-मुख-कमल खिलाया, शिक्षा-सुधा पिलाया,
प्रत्येक मन मिलाया, अमरत्व भी दिलाया,
दिल दुश्मने हिलाया, तूने हमें जिलाया,
भारत-स्वदेश तजकर, सुर-लोक जाने वाले ! ॥१॥

(२)

रविके प्रचंड कर में, शशि के सुधा-सु-सर में,
होमाग्नि उष्णतर में, गिरि राज-जा-शिखर में,
वन बीच और घर में, मुनि और मर्त्य-वर में,-
ढूँढा, मिला न तू अब, सुर-लोक जाने वाले ! ॥२॥

(३)

बिजली की उष्णता में, हिम की सुशीतता में,
पृथ्वी की भारता में सागर की क्षारता में,
वीरों की वीरता में, धीरों की धीरता में,
ढूँढा, तुझे न पाया, सुर-लोक जाने वाले ! ॥३॥

(४)

स्वातन्त्र्य क्यों लहेंगे, किसकी शरण गहेंगे ?
दुख-दर्द हम सहेंगे, भवसिंधु में बहेंगे,
कैसे भला रहेंगे, तेरे बिना कहेंगे—
किससे हमारा रोना, सुर-लोक जाने वाले ! ॥४॥

(५)

तेरे बिना हमारी, खेती उजड़ है सारी,
तव-मृत्यु-दुःख भारी, रग-रग में आज जारी,
रक्षा करें मुरारी, अरि के बनें प्रहारी,
तू मुक्ति पा गया है, सुर-लोक जाने वाले ! ॥५॥

(६)

अरि-शीश हम हरेंगे, भू रक्त से भरेंगे,
अब आग में जरेंगे, आकाश में छुरेंगे,
हम मार कर मरेंगे, क्या-क्या नहीं करेंगे,
तेरे लिए सभी कुछ, सुर-लोक जाने वाले ! ॥

(७)

तुम तो भला सिधारे, किसके रहें सहारे,
सुविचार आज सारे, हैं नष्ट सब हमारे,
रोते नयन विचारे, हम गिन रहे हैं तारे,
आजा मुनींद्र ! आजा, सुर-लोक जाने वाले ! ॥

पितृ-प्रशस्ति ?

(१)

पूज्य पिताजी ! कहो कहाँ तक
करूँ आपका मैं गुण-गान !
बुद्धिमान, विद्वान आप थे
वीर्यवान, बल-ज्ञान-निधान ॥

(२)

कहाँ आपकी महिमा, मेरी—
मति की लघिमा कहाँ महान !!
भू-प्रदक्षिणा का मैं इच्छुक
लेकर जीर्ण-शीर्णतम-यान* !!

(३)

मञ्जु-मही-मण्डल भारत से—
बना हुआ है सुषमागार ।
उत्तम-आर्यावर्त–देश से—
भारत पाता कान्ति, अपार ॥

---

* निदर्शना ।

(४)

जयपुर से भूषित-भारत भी—

बन जाता है छवि की खान।

और आप से यह जयपुर भी

शोभित था, हे महिमावान* !

(५)

धीर-वीर कहला कर भी थे—

पर-दुःखों में कायर आप।

मित्र-क्लेश-हर बन, देते थे

आप शत्रुओं को सन्ताप॥

(६)

दानी-मानी होकर भी थे—

आप वित्त के पक्के चोर।

महा-उदारमना बनकर थे—

आप स्वयश के लोभी घोर† ॥

(७)

अजर-अमर होकर स्वकीर्त्ति से

आप आज हैं अमर-समान

श्याम-नाम रट आप चल बसे—

जन्म-मरण का कर अवसान ॥

* दीपक-माला। † विरोध।

(८)

आन-बान वाले पूरे थे—
आप शानवाले सरदार।
सच्चे गुणियों के ग्राहक थे—
ललित-कलाओं के आधार॥

(९)

स्वीय-नाम रटनेवालों के
काट-काट कर भीषण-पाप—
"राम*"! राम में आप मिलगए
भूपर अपना छोड़ "प्रताप"॥

(१०)

स्वानुरक्ति का, काव्य-शक्ति का,
ईश-भक्ति का देकर दान—
आप आपके इस आत्मज का
करते रहो सदा कल्याण॥

---

* कवि के पूज्य पिताजी स्व० श्रीरामप्रताप जी ताज़ीमी सरदार
कौंसिल-मेम्बर जयपुर राज्य। आपने २० मार्च १९३२ में ११½ बजे दि
के वैकुण्ठवास किया था। आपका सचित्र जीवनचरित्र १९३२ की मई
"सुधा", जून की "माधुरी" और जुलाई की "सरस्वती" में छपा है
आप ललित-कला विज्ञ और आशु कवि भी थे।

(३)

सुनो दिवाली ! भूल गए हम नारायण को जो सुख-धाम।
लक्ष्मी की माला जपते हैं लक्ष्मी का ही लेते नाम।
लक्ष्मी-लक्ष्मी करते-करते हम मरने के सजते साज।
इसी मूर्खता पर तेरे दिन घी के दिए जलाते आज !॥

(४)

नहीं सोचते क्यों इस दिन का किया पूर्वजों ने निर्माण ?
इसका असली आशय क्या है कैसे इसका हुआ विधान ?
दिए जलाए जाते क्यों हैं क्यों लक्ष्मी का पूजन आज ?
किस कारण से स्थान-स्थान पर आती है ऐसी आवाज ?

(५)

दीपक जलना सूचित करता घर-घर में है ज्योति-प्रकाश*।
लक्ष्मी भी है सभी कहीं पर, अनहद ‡नाद यहीं है पास।
मञ्जु महामाया की पूजन करने का है यह तात्पर्य।
विनय करें हम उससे, देखें उसका अनुपम तनु-सौन्दर्य

(६)

हे माया ! काया-दीपक|| की मिला ज्योति से ज्योति§ महान।
मिला रहे हम एक लोय से लोय+ दूसरी जैसे जान।

* दीपक की ज्योति और प्रत्येक देह मन्दिर में आत्मा की ज्योति।
‡ अद्भुत शब्द जिन्हें योगी सुनते हैं, यहाँ बारूद के खेलों की आवाज़।
|| शरीर में दीपक रूपी आत्मा। § परब्रह्म। + जैसे आज हम एक से दूसरा दीपक जला रहे हैं।

यथा सुनाते हम तुमको रव*, तथा सुनादो अनहद नाद।
पूजा करते इससे तेरी तुम्हें दिलाने को यह याद॥

(७)

गर्भ-प्रतिज्ञाएं‡ भूल-भाल कर नारायण को दिया विसार।
फँसे तुम्हारे जाल बीच हम इससे मिले न जगदाधार।
शीघ्र समेटो माया अपनी विनती यही, नहीं है और।
कल से लक्ष्मी-पति को देंगे हम निज-मन-मन्दिर में ठौर॥

(८)

जहाँ बसी तुम वहाँ निरन्तर रहे तुम्हारे हम भी भक्त—
किन्तु आपके पति॥ में हमको, करो आज से तुम अनुरक्त।
यही भेद है दीपावलि का और यही इसका विज्ञान।
हुए दूरदर्शी थे कितने, कैसे थे पूर्वज मतिमान॥

(९)

लक्ष्मी का झूंठा वैभव तो इसी लोक में देता काम।
रहे सदा, सर्वत्र सहायक नारायण का सच्चा नाम।
जो सच्चे को तज, फँसते है माया-जाल बीच दिन-रात।
दोनों लोक बिगड़ते उनके, भव-सागर में गिरें बलात॥

* खेलों की आवाज़। ‡ बालक की वह प्रतिज्ञा जो भगवान को न भूलने की होती है और जिसे,स्वीकार कर ईश्वर उसे जन्म देता है।
॥ विष्णु भगवान में।

(१०)

नहीं उसी के सँग में रहती, जिसका उसने पकड़ा हाथ*।
तो क्यों साथी बनैं और की लक्ष्मी किसका देती साथ?
नहीं भोगते, नहीं विलसते, खाने दें, न खरचते, खाय।
जोड़-जोड़ कर मर जाते हैं; माया-माया करते हाय॥

(११)

ऐसे बनो न पारीको! तुम कहलाकर विद्या-धन-खान।
खड़ा हुआ "पारीक" विप्र है क्यों न उसे तुम करते दान?
मान बढ़ेगा, सुख पावोगे, सोचो किसको देते आप।
तुम भी हो पारीक और तुम बढ़ा रहे पारीक-प्रताप॥

* यह शास्त्रोक्त है कि लक्ष्मी चंचला है और अपने पति विष्णु के पास बहुत कम रहती है। भृगुजी की लात का चिह्न जो उनके उर पर है वही उसे आकर्षित करता है और पतित्व नहीं करता।

दीपक-दीप्ति

(१)

तेरी प्रशंसा क्या करूँ ?

तू श्रेष्ठ और अनूप है।

हे दीप ! इस संसार में

तू ब्रह्म का ही रूप है।

(२)

उपकार में तल्लीन हो

नर नित्य पाते हैं तुझे;

तो भी न गाते गुण कभी,

पर वे जलाते हैं तुझे ।

(३)

तू निज दशा को देखकर,

होना कभी मत शोक में ;

है क्योंकि मिलता सुख नहीं

उपकारियों को लोक में।

(४)

आश्चर्य है इस बात का,
तू स्नेह*-युत होकर भला—
करता नहीं है स्नेह, पर
देता शलभ॥ को है जला।

(५)

प्रेमी निरादर कर महा,
जो लूटते असु-संपदा—
तेरी तरह वे भी जगत में—
हैं जला करते सदा।

(६)

नीचे हुआ तमयुक्त क्यों—
द्युतिमय बनाकर गेह को?
करता मुदित क्यों तू हमें—
अपनी जलाकर देह को?

(७)

खाकर तिमिर तू ज्योति को-
उत्पन्न कैसे कर रहा?
क्यों कालिमा से कांतिमय!
तू गेह को है भर रहा?

---

* प्रेम और तैल। ॥ पतंग।

(८)

संभव यही, है उगलता—
तू भुक्ततम को इस तरह ?
है भस्म यह सकती चता,
तेरे उदर में किस तरह ?

(९)

है कामिनी-शृंगार में—
जो काम आता सर्वदा ;
जो लोचनों का हार है
या है अलौकिक संपदा।

(१०)

है जब जगत की यामिनी—
तेरा दिवस होता तभी।
उस काल तू सो जायगा—
जब जाग जाते हैं सभी।

(११)

कर प्राप्त उच्चासन सदा,
सम्मान पा करके महा—
है प्राणियों को प्रेम से—
उपदेश तू यह कर रहा।

(१२)

"मेरे सदृश ही जागती—
 है ज्योति तुममें कांतिमय ;
पर दीप्ति मेरी भ्रांतिमय—
 है और वह सुख-शांतिमय।

(१३)

"मुझको जलाने से कभी—
 उद्धार हो सकता नहीं ;
मन का अँधेरा बंधुओ !
 "मुझसे मिटेगा क्या कहीं !"

(१४)

"उससे मिलाओ ज्योति को ,
 अपनी मिटाओ आपदा—
जो जगमगाती ज्योति है
 सर्वत्र, सबमें, सर्वदा ।

दिव्य-दिवाली

(१)

जले हुओं को जला-जलाकर
क्यों जलती तू आज दिवाली !
जली-भुनी-सी होकर हमको
क्यों छलती तू आज दिवाली !

(२)

घुटे-घटायों के भी तन को
घुटा रही तू आज दिवाली !
लुटे-लुटायों के भी धन को
लुटा रही तू आज दिवाली !

(३)

दैन्य-दासता - अन्धकार तू
हटा न सकती कभी दिवाली !
लोभ - मोह - मद - महा - धूम तू
घटा न सकती कभी दिवाली !

(४)

मुँदे हुए मुँह से हो कैसे
तेरा स्वागत आज दिवाली !
बँधे करों से कैसे खोलें ?
घर का ताला आज दिवाली !

(५)

तम की काली घटा १ हटाने
तू जल-जलकर जली दिवाली !
पर तू उसको खिला न सकती
जली हुई जो कली २ दिवाली !

(६)

आत्मज्योति के आगे बतला
क्या है तेरा काम दिवाली !
दिव्य दिवाली हृदय-धाम की
तेरा तो बस नाम दिवाली !

(७)

जिन्हें न लक्ष्मी मिली, धनीश्वर—
तू न करेगी उन्हें दिवाली !
भर्ता जिनको नहीं भरेगा
तू न भरेगी उन्हें दिवाली !

---

१ लक्षणा से, ढेर अर्थ । २ दिल की कली । ३ आत्म-ज्योति-दर्शन ।

(८)

लाभ नहीं है, चाहे कर तू

जगमग-जगमग आज दिवाली !

डोल रही है भारत-नौका

डगमग-डगमग आज दिवाली !

(९)

श्वासमात्र ही हम लेते हैं,

तू रख यह विश्वास दिवाली !

दासभाव से बद्धजनों का

क्यों करती उपहास दिवाली ?

(१०)

हम जैसों पर भी माया का

जमा रही तू ढ़ँग दिवाली !

काली कमली पर भी कैसे

चढा रही तू रंग दिवाली !

(११)

हमें दाह[१] से आह, तुझे पर

वाह वाह है वाह दिवाली !

कभी दिवाली खूब करेंगे,

आज नहीं उत्साह दिवाली !

---

१ दु:ख-दासता का जलन।

(१२)

जा तू वहाँ, जहाँ पर फैली
वित्त-मान की शान की दिवाली !
यहाँ ज्ञान की ज्योति जग रही
और ध्यान की वान दिवाली !

दीपावलि-दर्शन

(१)

धन इकट्ठाकर सदा पूजा करें
औरहीके काममें वह आयगा।
दानमें या भोगमें जो लग गया—
धन हमारा बस वही कहलायगा।

(२)

रूपसे* श्रीके महा अनभिज्ञ बन-
कर रहे हम आज पूजा वित्तकी।
सर्वथा धिक्कार है, धिक्कार है
दुष्ट ऐसी वृत्ति को, इस चित्तकी॥

---

* रुपए-पैसे ही को हम लक्ष्मीका रूप मानते हैं जो मिथ्या है।

(३)

विष्णुपदको प्राप्त करना चाहते
पूजते हम किन्तु मायाको सभी।
क्या किसीने उदय देखा सूर्यका
निन्द्य-पश्चिम-मार्गमें होकर कभी ?

(४)

बद्ध होकर मञ्जु-माया-जालमें,
और फिर हो लिप्त माया-भक्तिमें।
आयगा ऐसी रमा-अनुरक्तिसे-
मुक्ति पाना क्यों हमारी शक्तिमें ?

(५)

पूजते हैं आज जिनको* प्रेमसे
क्या हमारे साथमें वे जायँगे ?
जायँगे जब हाथ ख़ाली जायँगे—
और ख़ाली हाथ ही हम आयँगे॥

(६)

किसलिए फिर हम इन्हें हैं गिन रहे
स्वार्थ-हित हैं दूसरोंको दे रहे ?
हम डुबोते आज हैं भव-सिन्धुमें
या कि अपनी नावको हैं खे रहे॥

* सोने-चाँदी के सिक्कों को।

(७)

देखकर सोना* हमारे चित्तमें
नींद सुखकी और मद छा जायगा।
चाहिए जब जागना हमको यहाँ
काम तब सोना कहो क्या आयगा ?

(८)

जो॥ जगत्‌में सौख्य से सोना हमें
जागनेके आज बदले दे रहा।
वह न सोना है, हमारा शत्रु है
स्वर्ग-सुखको छीनकर जो ले रहा॥

(९)

आज अपनी मूढ़ता पर किस लिए—
हम जलाते दीप घी के हैं यहाँ ?
इसलिए ही क्या मनाते हर्ष हैं
पहुँच ही सकते नहीं हैं हम वहाँ॥

---

* स्वर्ण, धन-दौलत। ॥ स्वर्ग-सुखको हमसे छीनकर अर्थात् हम मोक्ष नहीं पावेंगे धन-प्रेम में फँसकर।

(१०)

पूजना धनका यही बतला रहा—
छोड सकते हम न धनके प्यारको।
छोड़ दे संसार ही चाहे हमें
हम न छोड़ेंगे कभी संसारको॥

(११)

गेह-श्रीकी वृद्धि-हित श्री-अर्चना—
कर रहे हम आज अपने हाथसे।
छोड़ना श्रीसे हमें तब चाहिए
प्रेम करना जब हमें श्रीनाथसे॥

(१२)

क्यों जलाते इस तरह दीपावली—
आज होकर मोह-माया-दास हम?
क्यों दिवाली कर रहे परमार्थकी
और अपना व्यर्थ ही उपहास हम?

—

हर्षद-होली

आओ, अबकी खेलें होली।
आह ! जन्म अपना खोया है
अब तक करके व्यर्थ ठठोली। आओ०।

(१)

जगी हृदय में ज्योति हमारे,
भगी भीरुता मन से प्यारे;
अब तो हम-तुम एक रंग की—
लिये साधना-साधक-झोली। आओ०।

(२)

ममता है, पर मोह नहीं है,
समता है, पर—द्रोह नहीं है;
खेलें अविचल सरल भाव से,
बना-बना सतरंगी गोली। आओ०।

(३)

कलित-कुसुम-किंशुक-रंग लेकर,
पल्लवित-वन-घन की पुट देकर—
प्रेम-नीर में घोल रहे हैं,
भरी भावना हिय में भोली। आओ०।

(४)

अब क्या झिझक, खेल लें जी-भर,
हम-तुम एक, एक हों सत्वर;
तन, मन, रूप, स्वरूप एक हों,
हो ली जो कुछ सो तो हो ली। आओ०।

होली से होली

क्या था निरा निराला ढंग।

खेली थी प्रह्लाद भक्त ने होली होली के भी संग!

क्या था निरा निराला ढंग॥

(१)

उसका मानस-मानस सुंदर—

था परिपूर्ण शांति-रस पाकर;

मुख-पिचकारी द्वारा उसने

फेंका राम-नाम का रंग।

क्या था निरा निराला ढंग॥

(२)

ज्ञान-गुलाल उछाल निरंतर—

रखता था न किसीसे अंतर;

बारबार बजाता था वह—

आदि-अनंत-राग का चंग।

क्या था निरा निराला ढंग॥

(३)

पीकर आप प्रेम का प्याला,

मनमोहन का बन मतवाला;

पिला गया वह इस भारत को—

ज्ञान अनन्य, भक्ति की भंग।

क्या था निरा निराला ढंग॥

(४)

भूधर उसका कुछ न कर सके,

विषधर जीवन, नहीं हर सके,

उसका भक्षक कौन बनेगा—

जिसके रक्षक राम-अनग?

क्या था निरा निराला ढंग॥

होली से हीनता ।

(१)

आज होली है अहा ! होली यहाँ,
पर नहीं मन में किसी के हर्ष है,
क्योंकि दुःखद-दासता की बेड़ियें—
पहने हुए यह भव्य-भारतवर्ष है ॥१॥

(२)

रँग लिये हैं रंग से वस्त्रादि को ।
अंग पर भी चिन्ह है कुछ रंग का ।
पर नहीं मन को रगा उस रंग में ।
जिस बिना है रंग फीका अंग का ॥

(३)

ख़ूब डोलचियाँ तथा गोटे* चलें।
जा रही फैंकी रँगों की झारियाँ।
पर भिगोती आज हैं हम को नहीं।
पीन-पावन-प्रेम की पिचकारियाँ॥

(४)

मडरा रहे नीरद अबीरों के कहीं।
उड़ते कहीं हैं लाल-लाल गुलाल के।
किन्तु वे हमको सुखी करते नहीं।
प्रीति की जल-बिंदुओं को डाल के॥

(५)

स्वाँग भरते है अनोखे स्त्री-पुरुष।
- रूप धर बहुरूपिये फिरते कहीं।
पर न ऐसा ‖स्वाँग कोई भर रहा।
स्वाँग यह भरना पड़ें जिससे नहीं॥

* गुलाल-गोटे जो चपड़ी के बनाये जाते हैं और जो रङ्गों से भरे रहते हैं। ‖ मनुष्य-देह का स्वाँग अर्थात् कोई भी ऐसी क्रिया नहीं कर रहा है जिससे सायुज्य-मुक्ति मिल जावे और इस स्वाँग भरने से छुटकारा मिले।

(६)

गा रहे नर डफ बजाते जा रहे,
पर न सुलगाते प्रणय की आग को।
राग ऐसो छेड़ता कोई नहीं।
दृढ़ करे जो राग में अनुराग को॥

(७)

नाना विधा के कर रहे सारे नशे—
मस्त होने को ज़रासे हर कहीं,
पर न कोई कर रहा ऐसा नशा—
जो चढ़े पीछे उतरता ही नहीं॥

(८)

बात होली की बनाते है सभी,
पर न करते याद हैं उस हाव को।
प्रेम से प्रह्लाद ने देखा जहाँ—
मुक्ति-दाता-राम-नाम-प्रभाव को॥

(९)

अग्नि चन्दन-पंक सी जिससे हुई—
ध्यान में लाते न उसकी शक्ति को।
स्थिर हुआ प्रह्लाद का प्रह्लाद भी—
धन्य है अति धन्य ऐसी भक्ति को॥

(१०)

प्रकृति को सजता हुआ ऋतुराज भी—
लोक को यह बात है दिखला रहा—
पुष्प-फल-दल नवल पल-पल प्रकट कर।
एक ही यह मंत्र है सिखला रहा॥

(११)

"देख यह माया लुभाओ मत कभी।
झूंठ, अति अस्थिर इसे तुम जानलो।
नाम बस श्रीराम का ही सत्य है।
सार सब संसार का यह मानलो॥११॥

(२)

बारबार गिरियों से गिरकर विचलित हुआ न वह प्रणवीर।
सर्पों से डस जाने पर भी नहीं हुआ वह तनिक-अधीर।
घोर यातनाओं में, उसके, नहीं गिरा, नयनों से नीर।
रहा हृदय वैसा का वैसा, सह-सहकर कष्टों के तीर।
ऐसे जन को कर सकती थी कैसे तू वश में, भूभार!
अरे! होलिका! बता, किया क्यों तूने अत्याचार अपार॥

(३)

सुत को समझा-बुझा होगया हिरण्याक्ष जब निपट-हताश,
दुःखित हुआ देख कर जब वह अपना युक्ति-सफलता-ह्रास,
निज-परिहास मान, कर कर में चन्द्रहास का महा प्रकाश-
लगा सोचने जब वह मन से रामभक्त का शीघ्र विनाश—
खम्भ फाड़ नरसिंह-रूप में प्रकटे तब वे जगदाधार।
अरे! होलिका! बता, किया क्यों तूने अत्याचार अपार...॥

(४)

अलियुत, उलटे पीत-कमल-सम थे उनके पद अति-द्युतिमान।
दीर्घ-पुष्टतम-जङ्घाएं थीं महाशक्ति की, बल की खान।
नख-आयुध-धारी होकर वे थे अति भीषण-रूप-निधान।
कुपित केसरी का सा उनका भयद-वदन होता था भान।

प्रचुर प्रश्नोत्तर

(१)

कौन अज्ञ है? जो अपने को समझ रहा सबसे धीमान।
कौन विज्ञ है? जो अपने को मान रहा अज्ञान महान।
कौन बड़ा बलवान? हराया जिसने अरि को कर भय-भीत।
कौन शक्तिशाली? है जिसने शीघ्र लिया अपने को जीत।

(२)

क्या है अमृत? काव्य-रस उत्तम, क्या सुख? पूर्ण-मनोरथता।
क्या दुख? भव-जलनिधि में बसना, क्या-गुण-जननी? पावनता।
क्या है रत्न? सुपुत्र, वित्त क्या? उत्तम विद्या को पाना।
क्या है मैत्री? प्रेम, नीचता क्या है? करना मनमाना॥

(३)

जीवन्मृतक कौन? जो खोता व्यर्थ समय को कर आलस्य।
कौन वीर-वर कहलाता है? अपना मन है जिसके वश्य।
कौन महा विद्वान जगत में? जिसने पर को पहचाना।
कौन बताओ ज्ञानवान है? अपने को जिसने जाना॥

(४)

क्या है मज्जन ? मन-मल-धावन, क्या है तीर्थ ? शुद्धि मन की।
क्या है लघुता ? भीख माँगना पुष्टि-हेतु अपने तन की।
क्या है नाश ? निरन्तर करना महा कुकर्मों का सञ्चय।
क्या है सुर-नर-मुनि-पातक हर ? देव-नदी का पावन-पय॥

(५)

कौन दरिद्री ? जिसके मन में तृष्णा-सहित भरा है रोष।
कौन श्रेष्ठ सम्पत्तिवान है ? जिसके है पूरा सन्तोष।
कौन मनुज है ? जो सांसारिक जीवों का हित-कारक है।
कौन शूर है ? जो बन जाता है रिपुओं का मारक है॥

(६)

कौन प्राकृतिक गुरु है अपना ? एक जनक कहलाता है।
कौन प्रेम-कर स्वाभाविक है ? जन्म-दायिनी माता है।
कौन पुत्र ? जो पिता-तृप्ति-कर करता कार्य समय को देख।
कौन मूढ़ है ? जो पढ़-लिख कर कभी न लिखता कुछ भी लेख॥

उत्तम-उपदेश

(१)

असाफल्य होता है जग में सदा सफलता का सोपान।
असफल होना बुरा नहीं है यही मानते हैं मतिमान।
अकर्मण्यता किन्तु बुरी है, करती सब को दोष—निधान।
नाच—विचार बना देते हैं पण्डित को भी नीच—समान॥

(२)

इस से सदा चाहिये रखना उच्च ध्येय, सादा पहनाव।
भाषा भद्दी है तो क्या है? जो उस में हैं ऊँचे भाव।
यह नश्वर, मलवाही मन्दिर मैला हो या हो छवि-धाम,
किन्तु बुझा होना न चाहिए इस में आत्मा—दीप ललाम॥

(३)

तन पर चाहे होय लँगोटी, रोटी सूखी खाने को।
चाहे शाल—दुशाले होवें, चाहे व्यंजन पाने को।

किन्तु उच्च जो नहीं बनी है अपनी आत्मा अपने में,
तो होता है समय नष्ट ही कर से माला जपने में॥

(४)

मानस—मुकुर समल होने पर क्या होगा मुख धोने से ?
मैला ही वह दीख पड़ेगा अति निर्मल भी होने से।
इस से पहले मन को धोवें, तन की कुछ परवाह नहीं।
और कहीं है उसको जाना, देह रहेगी भला यहीं॥

(५)

जो मिलजावे मुक्ति किए से ज्ञान-ध्यान, गङ्गा का स्नान—
तो मीनों का मज्जन देखो और श्वेत बगुलों का ध्यान।
कपड़े रँग कर साधु बन गये किन्तु नहीं है मन पर रंग।
तो ऐसे बदरंग मेल से बिगड़ जायगा उलटा ढंग।

(६)

इस से सबसे पहले मनको हम * स्वराज्यमय कर लेवें।
पीछे उसको चाहें, जिससे शीघ्र दुःख सब हर लेवें।
किन्तु गर्जने वाले बादल भला बरसते नहीं कभी।
करने वाले कम भारत में, कहने वाले यहां सभी॥

---

* वश्य करें, परस्पर न लड़ें।

प्रेम-प्रशस्ति ।

(१)

सरस, स्वादु, शुचि, मोहन, मंजुल, महा-मधुर, मदवाला है ।
दो अक्षर का "प्रेम" शब्द यह सकल गुणों की शाला है ।
हृदय नहीं वह हृदय कहाता जिस में इस का वास नहीं ।
जीव नहीं वह जीव*, हृदय हो ऐसा जिस के पास नहीं ॥

(२)

क्यों गंगा के अमल-कमल में कमल निशा में बंद हुए ?
क्यों|| हिमकर-कर-निकर-स्पर्श-हत कुमुद दिवस में मंद हुए ?
क्यों कलकंठ आम के नीचे निज-कलकंठ खोलती है ?
क्यों अलि-आवलि सुमनगणों पर मोहन-मंत्र बोलती है ?

---

* जन्तु । || चन्द्रकिरणों के समूह के स्पर्श से रहित ।

(३)

जंगम के समान है जड़ भी सदा प्रेममय कहलाता।
जहाँ प्रेम है नहीं दृष्टि में ऐसा स्थान नहीं आता।
अंतर मिलता नहीं प्रेम में, हृदय बीच अंतर पाता।
अधिक-प्रेममय—मृदुल-हृदय ही पावन-पद को पाजाता॥

(४)

एक प्रेम ही है बस ऐसा, जिस से हरि भी होते वश्य।
जीव, जंतु, जन, देव, दैत्य भी जिस के बनते दास अवश्य।
महा-असंभव भी बस संभव जिस के द्वारा हो जाता।
प्रेम बनाता स्थूल तरल को, पत्थर को भी पिघलाता॥

(५)

शबरी के बेरों मे क्या था, विदुर-शाक में क्या थी बात?
दीन-सुदामा-तंडुल ने क्यों किया कृष्ण-मन मुग्ध बलात?
*सती-द्रौपदी—चीर-हरण क्यों दुःशासन से हुआ नहीं?
‖क्या रावण जैसे दानव को मिल सकती थी मुक्ति कहीं?

---

* श्रीकृष्ण में पवित्र प्रेम होने के कारण। ‖ श्री सीताजी पर माता का सा प्रेम होने के कारण रावण ऊपर से तो कुटिल था; पर हृदय से वह जानकीजी को माता के समान प्रेम करता था।

(६)

इनका कारण हो सकता है एक आंतरिक प्रेम महान।
जो दिखलाता फिरे प्रेम को उसे न प्रेमी करो बखान।
सदा प्रेममय होता मौनी, भाषा मौन प्रेम की है।
सब भाषाओं से यह भाषा सुन्दर और क्षेम की है॥

(७)

भक्ति-सहित निज को बिसराना प्रेम-पराकाष्ठा होती।
जो निर्वाण*-महीरुह का बस बीज स्वयं ही है बोती।
मानव जो निःस्वार्थ हुआ वह प्रेमभाव दरसाता है।
जिसने सब कुछ त्याग दिया वह त्याग प्रेम का पाता है॥

(८)

सेवा का मेवा खाना ही धर्म प्रेम का कहलाता।
चित्त-शांति-मन्दिर में संतत प्रेम देवता है पाता।
"प्राणिमात्र से प्रेम करो तुम" सब से प्रथम यही आदेश—
देकर सदा भेजते भू पर जीवों को हैं ईश रमेश॥

(९)

जो ऊपर से रूखा है, यह बतलाते श्रीफल बादाम—
— वही‡ स्नेहमय—अन्दर से है, वही पुनीत-प्रेम का धाम।
छाकर हृदय-गगन में पावन-प्रेमादित्य§ प्रकाश प्रचंड—
ईर्षा-द्वेष-तिमिर-असुरों के कर देता है पल में, खंड॥

---

* मोक्षरूपी वृक्ष। ‡ चिकना और प्रेममय। § प्रेमरूपी सूर्य।

(१०)

उत्तम गायक के रोने में छुपा हुआ है जैसे गान।
उसी तरह भगवान-कोप में दया, प्रेम हैं छुपे महान।
सब को प्रेम-पाठ की शिक्षा परम-पिता देता रहता।
और प्रेमियों को ही केवल अंक-बीच लेता रहता॥

(११)

विना प्रेम के कभी प्रार्थना जाती हरि के पास नहीं।
प्रेम-भरी-युग-शब्द गिरा ही जाकर रहती भला वहीं।
तुलसी कर्म, हृदय मीराँ का, सूरदास की सी वाणी—
जिसके ये तीनों होते हैं बस प्रेमी है वह प्राणी॥

(१२)

माला, तिलक, गौमुखी इनका प्रेम-भक्ति में काम नहीं।
क्योंकि हृदय* के द्वेष फफोले शस्त्रों से मिटते न कहीं।
स्वच्छ-हृदय-मंदिर में करते जभी प्रेम-सुर का आह्वान—
तभी निरंतर मलवाही तनु निर्मलता का बने निधान॥

(१३)

क्यों हम दो-दो वार वनाते इस ठोडी की भला सँवार?
जब कि हृदय में उगी हुई हैं द्वेष-खूँटियें अपरंपार।

---

* जिस प्रकार हृदय के फफोले नश्तर से नहीं मिटते वैसे ही मालारूपी शस्त्र से हृदय का द्वेष-फफोला नहीं हट सकता।

हम अन्दर की करें सफाई प्रेम-उस्तरे से जो आज—
तो दाढ़ी उग आने पर भी घृणा करेगी नहीं समाज ॥

(१४)

इससे हे भारतनिवासियो ! प्रेम करो प्रेमी बनकर।
ऐक्यभाव के साज सजो अब फूट-द्वेषता अपनी हर।
जलो देखकर मत औरों को, और* और तुम सदा समान।
एक अनेक, अनेक एक है, इसको कहते सच्चा ज्ञान ॥

(१५)

हिल-मिल कर के काम करो सब, एक दूसरे से कर प्रेम।
तभी "स्वराज्य" मिलेगा तुमको तभी तुम्हारा होगा क्षेम।
ईर्षा-द्वेष हटादो मन से, करो परस्पर सच्चा प्यार।
बनो प्रेममय-प्रेमी प्यारो ! पाकर ॥ प्रेम-पयोनिधि-पार ॥

* दूसरे। ॥ समुद्र।

प्रेम-परीक्षा

(१)

नाम परीक्षा का सुनते ही बड़े-बड़े घबरा जाते।
भय खाते वे मदमाते जो धीर-वीर भी कहलाते।
इम्तिहान महमान हमारे रहता है कुछ दिवसों तक।
किन्तु बहुत पहले से ही यह नस-नस में होता व्यापक॥

(२)

यह है वह ज्वर जिसे देखने निष्फल है *थर्मामीटर।
वैद्य और डाक्टर भी जिसकी जाँच नहीं करते आकर।
ऐसा है यह भूत नहीं जो वशीभूत हो मंत्रों से।
उतरेगा जो नहीं कभी भी तंत्रों से या यंत्रों से॥

---

* बुख़ार देखने का काच का पारे से भरा हुआ यन्त्र।

(३)

पर पैरों पड़ता है उसके, उसका ही बनता यह दास।
श्रमी और जो भाग्यवान हो, होवे जिसके बुद्धि-प्रकाश।
धन, वैभव, यश और प्रतिष्ठा हो न सकें इसके उस्ताद!
किन्तु भाग्य, श्रम और बुद्धि के आगे यह करता फर्याद॥

(४)

बालक-बूढे इसमें आकर सभी हिचकिचा जाते हैं।
डींग हाँकने वाले नर भी यहीं सिट-पिटा जाते हैं।
बाँह चढ़ा कर, साँस बढ़ा कर बड़े बड़े जो बोलें-बोल।
इम्तिहान के अंदर वे भी होजाते हैं डाँवाँडोल॥

(५)

बड़ी बुरी है बला भला यह गला दबा झटपट लेती।
टला न कोई किसी कला से खलाढला यह कर देती।
किन्तु एक गुण बहुत बड़ा है जो इसमें पाया जाता।
श्रम करने वाला दुख पाकर इसके पीछे सुख पाता॥

(६)

पर ऐसा सुख नश्वर* एवं न्यून-लाभप्रद होता है।
जो केवल संसार बीच ही बीज सौख्य के बोता है।
ईश-परीक्षा में जो नर-वर पास भला होजाता है।
यहाँ, वहाँ पर भी वह स्थिरतम महानन्द को पाता है॥

* सदा न ठहरने वाला

(७)

हे जगदीश्वर ! प्रेम-परीक्षा आप कठिन ही लेते हैं।
दुःख अतीव प्रथम देकर के अतुलित सुख फिर देते हैं।
किन्तु प्रभो ! हम ज्ञान-शून्य हैं, शक्ति-रहित हैं, भक्ति-विहीन।
कैसे होंगे पास बुद्धि-बल-जल से हीन हुए हम मीन ?

(८)

सीधा पेपर देना जिसमें सरल-प्रश्न हों बस दो-चार।
उनके* चुनने का भी हमको बहुत तरह से हो अधिकार॥
उत्तर जिनके आप देखना महा मृदुलता ॥ के ही साथ।
सभी ग़लत लिक्खा हो तो भी पास+-मार्क्स तो देना नाथ॥

(९)

जो स्वामिन् ! ऐसा न करेंगे तो बिगड़ेगा सारा खेल।
क्रास× आपका लगते ही हम सब बातों में होंगे फेल।
इससे सरल परीक्षा लेकर हमको कृपया करना पास।
वरना नाथ हमारा पल में हो जावेगा विगत-विनाश॥

---

* चायस। जिस पेपर में विद्यार्थी इच्छानुसार प्रश्नों को चुन सकता है। ॥ लीनीएन्सी। न सख़्ती के साथ। +पास करदेने वाले नम्बर—× । ऐसा चिह्न जो फेल होना सूचित करता है।

(१०)

हरिश्चन्द्र से सुधा नहीं हम और मयूरध्वज से धीर।
वैसी शक्ति, भक्ति हममें अब नहीं रही है हे वर-वीर!
शिवि-दधीचि-नल का सा बल भी हममें नही रहा भगवान!
मनुज कहाते कैसे हम, यह महिमा प्रभु की महिमामान!

(११)

लिये *प्रमाण-पत्र हैं हमने, पद भी पाए बहुत यहाँ।
पर इनमें से नहीं एक भी काम करेगा प्रभो वहाँ।
ये तो सब धोके की टट्टी, आँखों की पट्टी, प्रतिपाल!
लोभ-सूत्र की गट्टो कहिए जन-मन-तरु की भट्टी लाल॥

(१२)

प्रभु का एक प्रमाण पत्र ही पास-पोर्ट॥ अक्षय, निर्मल।
यहाँ-वहाँ दोनों स्थानों पर वही मान्य होता केवल।
इससे उस इच्छित की हमको आप दिजिए पावन भेट।
क्योंकि वहाँ हैं सभी निरर्थक सांसारिक ये सर्टिफिकेट॥

(१३)

दोहा—प्रेम-परीक्षा में प्रभो! आप करोगे पास।
प्रणत-पाल हो इसलिए, यह हमको विश्वास॥

---

*इम्तिहान में पास होने का सार्टिफिकेट, प्रमाण-पत्र। ॥ का जहाज में बैठकर समुद्र पार करने की अनुमति का पत्र।

पावन-प्रेम

(१)

सार है संसारमें बस प्रेम ही,
प्रेम ही आनन्दका आगार है।
भक्तिका भी जन्मदाता है यही,
ज्ञानका भी आदि यह आधार है॥

(२)

प्रेममय परमात्मा भी सर्वदा—
वश्य रहता प्रेमियोंके प्रेमके।
प्रेमहीसे स्वच्छ होता चित्त है,
प्रेम ही तो काम करता क्षेमके॥

---

* कल्याण।

(३)

प्रेमके कारण त्रिलोकीनाथ भी—
लात* खाते एक अपने वक्षपर।
प्रेमहीके फन्दमें फँस कर भला—
शम्भु रहते अर्द्ध‖ अपना अङ्ग कर॥

(४)

पद्मिनीके प्रेममें जकड़े हुए—
पद्मिनी-नायक उदित होते सदा।
कुमुदिनीपर डालते हैं ेमसे—
कुमुदिनी-नायक विशद× निज-सम्पदा॥

(५)

मेघ-मालाको गगनमें देखकर—
मुदित होता प्रेम से है मोर-मन।
चित्तमें आह्लाद पाते हैं सदा—
चन्द्रमाको देख चारु-चकोर-गण॥

(६)

दिव्य-दिनकर-कर-निकरका स्पर्श कर—
खिल उठेगी क्यों नहीं कलिकावली ?
और उसको देखकर खिलती हुई—
गीत गावेगी न क्यों भृङ्गावली ?

*भृगुजी से लात खाना। ‖ शिवजी के आधे शरीर में पार्वतीजी का निवास है। ×चाँदनी।

(७)

प्रेम पशुओंमें दिखाई दे रहा,
पक्षियोंमें भी यही है दृष्टि-गत।
मानवोंको चाहिए बस इसलिये—
सर्वदा रहना सुपावन-प्रेम-रत॥

(८)

प्रेमकी महिमा कहाँतक हम कहें।
देव भी पाते न इसके पारको।
सत्य, अपने प्रेमियों से, और है—
प्रेम ही से प्रेम जगदाधार को॥

(९)

आदि-शिक्षक प्रेमके परमेश हैं।
प्रेम करना प्रथम उनका काम है।
देहधारी-प्रेम वे ही एक हैं।
प्रेममय-प्रेमी उन्हींका नाम है॥

(१०)

वश्य रह सकता न कोई सर्वदा—
बुद्धिके, बलके, विभवके, हेम* के।
किन्तु बन्धनमें सभी रहते बँधे—
एक सच्चे और पावन-प्रेम के॥

* सोना, धन, दौलत।

मित्र और मित्रता

(गायन)

मित्रता करना सोच-विचार । टेर ।

(१)

सोचे-समझे विना जगत में जो नर मित्र करे।
वह सच्चा सुख कभी न पाता, पाकर दुःख मरे।
यही है उत्तमता का सार, मित्रता करना सोच-विचार॥

(२)

यों तो सुख में सौ आजाते देख धरा-धन-धाम।
नहीं नाम को भी आता है दुख में कोई काम।
आज कल ऐसों की भरमार, मित्रता करना सोच-विचार॥

(३)

मधुर-वचन से वश में होकर फाँसो कभी न चित्त।
नीच मनुज भी मीठे बोलें हरने को यश-वित्त।
सभी नर ऐसे हैं भू-भार, मित्रता करना सोच-विचार॥

(४)

पय-जल जैसे मित्र बनो सब जो जल जाता आप।
नही दूध को जलने देता खुद पाकर सन्ताप।
भिन्न रँग, हैं पर दाँई* दार, मित्रता करना सोच-विचार॥

(५)

बुरे बनो तो ऐसे बनना रावण जैसे आप।
मन में भय रख करके हरि का धर्म करो या पाप।
अन्त में पावोगे जग—पार मित्रता करना सोच-विचार॥

(६)

भले बनो तो ऐसे बनना हरिश्चन्द्र से धीर।
रानी बेची, सत्य न छोड़ी, कभी न मानी पीर।
तिरा खुद औरों को भी तार, मित्रता करना सोच-विचार॥

(७)

चन्द्रोदय से उदय सदा हो, अस्त हुए से अस्त।
नहीं कुमुदिनी कुछ भी खिलती बिना लखे हिम—हस्त॥ ‡
यही है बस सच्चा व्यवहार, मित्रता करना सोच-विचार॥

---

* बराबर के। ‡ ठंडी किरणों वाला चन्द्रमा।

(८)

चाहे जिसको मित्र करो मत, पण्डित हो या वीर।
दुःख-कसौटी पर जो सोना, मित्र वही नर-हीर।
करो सौ ऐसे ही निर्धार, मित्रता करना सोच-विचार॥

(९)

बालकपन से कभी न तोड़ा, छोड़ा कभी न साथ।
अर्जुन का रथ, हरि होकर भी, हाँका अपने हाथ।
लिए प्रण* तज करके हथियार, मित्रता करना सोच-विचार॥

(१०)

मणि ‖ जैसे ही मित्र करो तुम जैसे करता नाग।
जल-दुख में चकमक + सम रह कर तज न प्रेम की आग।
गंध-युत-पुष्प-सहित ज्यों ख़ार × मित्रता करना सोच-विचार॥

(११)

प्रेम करो मत, करके मन से छोड़ो कभी न मेल।
मित्र-ज्योति के साथ जलो ज्यों दीपशिखा अरु तेल।
यही है सत्य स्वर्ग का द्वार, मित्रता करना सोच-विचार॥

---

* पितामह भीष्म से की हुई प्रतिज्ञा का भङ्ग करना केवल मित्र को जिताने को। ‖ सर्प मणि से अलग नहीं होता है, मर जाताहै। + संवर्प भी जल में रह कर चकमक आग से प्रेम नहीं छोड़ती। × गंधवाले पुष्प के साथ काँटा।

दो दिन हैं

(१)

मंत्र-हीन, वह जादू-टोना, मौनी होकर रोना-धोना।
हँसकर दुःख सभी का खोना, ज्ञानी बन अज्ञानी होना।
चपला-जैसी तन-चंचलता, अचलाधिप* सी चित्त-अचलता।
शंकर-जैसी दिक् अंचलता॥, शैशव की सब चारु चपलता।
इस दुनिया में दो दिन हैं॥

(२)

गर्वीले भावों का भरना, बल-पौरुष से साहस करना।
बात-बात में गाल बजाना, निज शरीर को सदा सजाना।
नभ से तारों को गिन लेना, दलदल+ में भी नौका खेना।
सागर पीना शोभा-रस के, यौवन के ये सारे चसके।
इस दुनिया में दो दिन हैं॥

---

* पर्वतराज के समान मन का हठ एवं उसकी अटलता। ॥ नग्नता।

+ असंभव-कार्य संपादन।

(३)

नागराज* घन-गर्जन-तर्जन, नागराज-चीत्कार-विसर्जन।
शाखामृग‡ की बड़ी फलाँगें, मृग-शावक की छैल-छलाँगें।
कोकिल-कूक, काक की काँकाँ, शिखि-केका-॥ कीरों की टाँ-टाँ।
मंजु-मराल-चाल अविचचल+, कलगल पारावत$ की कलकल।
इस दुनिया में दो दिन हैं॥

(४)

माली का वर-वृक्ष लगाना, बीज-वपन, अंकुर का आना।
कोमलतम किसलय का हिलना, फिर उसमें कलिका का खिलना।
मंजु कंज का विकसित होना, भृंग-वृन्द का मोहित होना।
चंदन-गंध-सुगंधित काया, वट-पीपल की शीतल छाया।
इस दुनिया में दो दिन हैं॥

(५)

महामान-अपमान-प्रतिष्ठा, धर्म-कर्म में सच्ची निष्ठा।
आधि-व्याधि या रोग क्षयंकर, ग्रह-चक्रों का योग लयंकर।
दुःखद वैरी लोग जयंकर, क्षणिक सुखद सब भोग भयंकर।
विघ्न अविघ्न, शोक-चिंता-भय, क्लेश-कष्ट, जय और पराजय।
इस दुनिया में दो दिन हैं॥

---

* सिंह और हाथी। ‡ वानर। ॥ केका वाणी मयूरस्य, इत्यमरः।
+ मंद। $ सुन्दर कंठवाले कबूतर।

(६)

खेल-कूद, गृह-कानन-क्रीड़न, लालन-पालन, दीन-अपीड़न*।
साहस-मोद-विनोद-वीरता, पतन-हर्ष-उत्कर्ष-धीरता।
मुद-आनन्द-शक्ति-बल लौकिक, अति आह्लाद, भक्ति अधिभौतिक।
धनी-गुणी-आश्रय-सुखदायक, सुख-सामर्थ्य, समर्थ-सहायक।
इस दुनिया में दो दिन हैं॥

(७)

देवोपम नर-देह मनोरम, उसका साहस-शक्ति-पराक्रम।
राम-श्याम के सदृश मोहनी, उसकी सुषमा भुवन-मोहनी।
भीष्म-भीम-सम अति बलधारी, उसका करयुग पर-उपकारी।
धनद†-समान अतीव विशाला उसकी रम्य रत्न-धनशाला।
इस दुनिया मे दो दिन हैं॥

(८)

हिमकर-जैसा शांति-कांतिधर, रमणी-मणि‡ का रूप मनोहर।
सुधा-सिंधु के सम वसुधा पर, उसका नव-लावण्य मधुरतर।
घुँघराली अति-काली-काली, अलकावलियाँ निरी-निराली।
चंचल-चाल महा-मस्तानी, चितवन भी मदभरी दिवानी।
इस दुनिया में दो दिन हैं॥

---

*सुख देना। † कुबेर। ‡ स्त्रियों में मणि स्वरूपा-सुन्दरी।

(९)

इंद्र-पाकशासन सा शासन, सुरासुरों से ऊँचा आसन।
विद्या में *गुरु–सा सिंहासन, रण में सुन्दर शंभु-शरासन ॥।
व्यंजनगण की छुनं छुनाछुन, भूषणगण की झनंझनाझन।
मुद्राओं की खनं खनाखन, कलदारों की टनं टनाटन।
इस दुनिया में दो दिन हैं॥

(१०)

सोने की शैयाएँ सोने, मख़मल के मलहीन बिछौने।
हरे-भरे आराम† मनोहर, देने को आराम निरंतर।
जलाशयों की कलकल-पलपल, पल-पल में झरनों की खल-खल।
सुर-वंदन-नंदन-मदहारी, ये सब दृश्य मोद-मुदकारी।
इस दुनिया में दो दिन हैं॥

(११)

सेना-धन-मद-सहित फूलना, सुख-पलने के बीच झूलना।
अपने को ही सभ्य जानना, औरों को कुछ नहीं मानना।
कूट-नीति का जाल बिछाना, संतजनों को सदा फँसाना।
ऐसे अत्याचारी मानव, जिन्हें चाहिए कहना दानव।
इस दुनिया में दो दिन हैं॥

---

* बृहस्पति के समान। ॥ पिनाकोऽजगवं धनु इत्यमरः। † बाग़।

(१२)

जोड़े हुए करोड़ों तोड़े, खड़े हुए घोड़ों के जोड़े।
बड़े-बड़े घर चौड़े-चौड़े, सेवक-दासी-दास न थोड़े।
कुल-कुलीन, अघहीन, यशस्वी, पुत्र-कलत्र-साधु तेजस्वी।
स्वर्ण-पदक, पद भारे-भारे, वैभव के ये वैभव सारे।
इस दुनिया में दो दिन है॥

(१३)

दूर-दूर से आना-जाना, छल-छद्मों से ढङ्ग जमाना।
पोल देखकर लूट मचाना, फूट-फूट* की बेल लगाना।
लेकरके धन-खाना-दाना, नमक-हरामी भी बन जाना।
ऐसे लंपट-दुष्ट-लुटेरे, यहाँ गड़े हैं जिनके डेरे।
इस दुनिया में दो दिन हैं॥

* फूट (भेद) रूपी फूट-ककड़ी की बेल।

क्या किया ?

(१)

जिसने लेकर जन्म भूमि का भार बढ़ाया।
नहीं स्वकुल को कभी समुन्नति-शिखर चढ़ाया।
पद-पद पर जो दुःख पिता-माता को देता।
कर-कर महा कुकर्म नित्य जो अपयश लेता।
काव्याऽमृत के चषक* को नहीं कभी जिसने पिया।
उसने इस संसार में पैदा होकर क्या किया ?

(२)

जिसके कर से रत्न दान में नहीं बरसते।
जिसे जानकर धनी दीन जन सदा तरसते।
जिसने पर का दुःख स्वप्न में भी न हरा है।
केवल अपना पेट और निधि सदा भरा है।
हो उठता है आह से नहीं विकल जिसका हिया।
उसने इस संसार में पैदा होकर क्या किया ?

* प्याला।

(३)

जन्म-भूमि के लिए नहीं जो मर मिटता है।
चूं तक करता नहीं निरंतर जो पिटता है।
जो अरि-सम्मुख कभी स्वप्न में नहीं उछलता।
धर्म-नाश लख, रक्त कभी जिसका न उबलता।
जो औरों नष्ट कर अपने ही हित में जिया।
उसने इस संसार में पैदा होकर क्या किया ?

(४)

करता अत्याचार दीन पर जो बल पाकर।
अकड़, बने अमचूर अन्य के 'गेहूँ' खाकर।
जिस डाली पर खड़ा उसीको भिन्न कर रहा।
जिस भाजन में खाय उसीको छिन्न कर रहा।
जिसके पीछे कोटि-पति बना उसीको दुख दिया।
उसने इस संसार में पैदा होकर क्या किया ?

(५)

जो अपना ही स्वार्थ ध्यान में रखता केवल।
रच करके षड्यत्र विजय जो पाता पल-पल।
जिसको धन की भूख दिनोंदिन बढ़ती जाती।
दण्ड-भीति के सहित नीति भी जिसकी पाती।
कभी प्रजा को प्रेम से नहीं अंक जिसने लिया।
उसने इस संसार मे पैदा होकर क्या किया ?

(६)

उत्तम-विद्या नहीं एक भी जिसको आती।
श्रेष्ठ-गुणों की राशि नहीं है जिस में पाती।
जिसका जीवन, हाय! हाय! करने में जाता।
श्री राधे-घनश्याम कभी भी जिसे न भाता।
निकला जिसके वदन-से नहीं कभी रघुवर-सिया।
उसने इस संसार में पैदा होकर क्या किया?

मुख-माधुरी

(१)

क्या तुम्हारा क्या हमारा है यहाँ,
लड़ रहे तुम और हम जिसके लिए?
सोचिए इस बात को, इस घात को
युद्ध के सामान क्यों हमने किए!

(२)

और का हो जायगा कल वह सभी,
जो धरा है आज अपने हाथ में।
आ नहीं सकती, न जा सकती कभी,
एक कौड़ी भी किसीके साथ में।

(३)

फूल का भी गंध क्या रह जायगा,
गंध* रहता है किसी का भी नहीं।
वंक-लंकानाथ का मद-संग से,
खा गया ‖ क्षय-डंक था डंका वहीं।

(४)

लोल‡-जीवन-सदृश जीवन प्राप्त कर,
क्यों बजाते गाल हम ऐसे फुला?
तुच्छ-क्षणऽ-भंगुर-कलेवर-वृक्ष पर,
हम रहे हैं श्वास का झूला झुला॥

(५)

चार दिन की चाँदनी को देखकर,
फूल उठते आज हम हर बात में।
ज्ञान-लोचन के बिना क्या होयगा—
अंत में, पर, उस अँधेरी रात में।

---

*गर्व। ‖ घमंड ने ही रावण का नाश किया था। ‡चपल-जल के समान, जीवनं भुवनं वनम्, इत्यऽमरः। ऽक्षणमात्र में नष्ट हो जानेवाले शरीररूपी वृक्ष पर...।

(६)

तोलना ही ठीक है सब बात का,
चाहिए जन की न छाती छोलना।
मानवों का बस यही रहता यहाँ—
जो कहाता एक मीठा बोलना।

(७)

डालने निज तीक्ष्ण गुप्त प्रभाव को—
मधुर-भाषण रेडियो का यंत्र है।
तंत्र है यह वश्य करने के लिए,
शुद्ध सीधा सिद्ध मोहन-मंत्र है।

(८)

जल विना ही शीघ्र यह धो डालता—
कोप को भी, वैर को भी, वाम के।
सुमन*-सम ही यह सदा जन-सुमन को—
मोल ले लेता विना ही दाम के।

(९)

ठीक जिसको बोलना आता नहीं,
वह करेगा प्रकट कैसे भाव को?
मिष्ट वाणी ही महौषध एक है,
जो भरेगी हृदय के भी घाव को।

*फूल और अच्छा मन।

(१०)

प्राप्त कर लेता इसी की शक्ति से—
वज्र-सम-पाषाण भी है तरलता।
चपलता का दोष ढककर मोहती—
बाल-वाणी की मधुरता-सरलता।

(११)

लोक का यह कांतकंठाऽभरण है,
कीर्ति भी इसको नहीं तजती कभी।
गुण-विभूषण जो नहीं है पास में,
तो विदूषण-सदृश हैं भूषण सभी।

(१२)

शत्रु के भी हृदय पर कटु वचन की—
क्यों चलाना चाहिए हमको छुरी!
मोल इसका कुछ नहीं, पर विश्व को—
मोल ले लेती यही गुण-माधुरी।

अनोखी-अन्योक्ति

(१)

पथिक ! धर्मशाला भी कोई कोई कहते मुझे सराय।
कहता है होटल भी मुझको कोई-कोई जन-समुदाय।
तू मुझपर अधिकार प्राप्तकर करती है क्यों गर्व महान?
मुझमें आकर कई बनगए तुझसे भी जन अधिक महान॥

(२)

तू पूरा बड़भागी ही है मान रही हूँ मैं यह बात।
किन्तु प्रभात भाग्य का होकर होती है फिर उनकी रात।
ज़ोर जमाता है तू मुझपर होकर के अब मेरा नाथ।
तू भी दो दिन ऐसा करके जावेगा फिर ख़ाली हाथ॥

(३)

मेरा रक्षक होकर करना भक्षक का सा कभी न काम।
मतवाला बनना न डुबोने अपने पुरखों का शुभ का नाम।
मेरा वैभव देख-देखकर मत करना तू कभी घमण्ड।
उसे मानना मत तू अपना और न करना कुछ पाखण्ड॥

(४)

भला, भला करने हो तेरा कहता हूँ मैं सच्ची बात।
मत मदान्ध तू होना पल भी अरे! पथिक! हे मेरे तात!
बस केवल आनन्द उड़ाने अथवा होकर स्वार्थ-विलीन।
धन-दौलत मेरा न लूटना और न करना मुझे सुदीन॥

(५)

जो तू मेरे हित-साधन में लगा रहेगा आठों याम।
अजर अमर हो बनजावेगा होकर तू जग में यश-धाम।
जो तू मेरा अहित करेगा तो होगा अधिकार-विहीन।
मेरा क्या बिगड़ेगा, तू ही हो जावेगा बल से क्षीण॥

(६)

तुझ जैसे ही कई मुसाफ़िर करके मुझमें तनिक निवास—
चले गये हैं, किन्तु देख तू मेरा अबतक हुआ न नाश।
मैं सराय हूँ, सगी नहीं हूँ इसी बातका रखकर ध्यान।
मान महान प्राप्त करने को मान, मान तू मेरी मान॥

सच्ची-शिक्षा।

(१)

निजको पहचान तू देह को न गेह मान,
वैसे ही जलेगी यह वृक्ष ज्यों एरंड का।
भोगनी के भोग भोग रोगका गुलाम बन—
हुआ तू अदाम-दास पातक प्रचंड का।
जरासे जीने पर कैसे घमंड करता—
रखता ठिकाना नही अपने पाखंड का।
अरे! उद्दंड-मानव! बातें अंड-बंड छोड़—
ध्यान है कि नहीं तुझे दंडधारी*-दंडका॥

---

* यम।

(२)

कौन तुझे लाया है, तू कहाँ से यहाँ आया है
    और तू है चीज़ क्या इसी का कर ध्यान तू?
जिन को पहचानता है, साथी तू मानता है—
    उनमें से एक को भी तेरा मत मान तू।
उलटी पढ़ाने वाले, तुझे बहकाने वाले—
    कई हैं, परन्तु दे उधर मत कान तू।
अरे! आन, बान वाले! मान का गुमान छोड़
    झूठी जहान में भी उसको पहचान तू॥

(३)

औरों की भलाई व बड़ाई नहीं चाहता है
    करता बुराई बन स्वार्थ लवलीन तू।
रत्न-धन-भरी दरी*, सुन्दरी परीके और—
    दिवानी-जवानी के भी हुआ क्यों अधीन तू?
औरों को किया करता जीवन-॥ विहीन-मीन
    निज को बनाने को अदीन और पीन तू।
अरे! कर्म-हीन-नर! होकर मलीन-क्षीण
    होता क्यों विमूढ़! आज धर्म-धन-हीन तू॥

* गुफा। या छिपा हुआ ख़ज़ाना। ॥ ज़िंदगी, रोज़गारी और जल।

(४)

ईश्वर को न मानता सुख में तू आज, किन्तु—
वे ही महा दुःख पड़े तुझे याद आयँगे।
करना जो चाहे तू करले उसी को वरना—
तेरी अति बुरी गति दूत आ बनायँगे।
चेत, चेत सोवे मत खेत* में अचेत बन—
काले-काले कालदेव शीघ्र तुझे खायँगे।
अरे! मनुष्य! सोच, हाय-हाय करने में ही—
तेरे ये तमाम दिन यों ही चले जायँगे॥

(५)

दोष देता रोषकर करता सन्तोष नहीं—
कोष परकोष भर धान, धन, माल का।
दीपक से दीपक की ज्योति को मिलाता नहीं—
गाता तू मलार तार तोड़ स्वर-ताल का।
सागर विशाल भी तो काँपता है, देख किन्तु—
पानीके बबूले! तुझे भय है न काल का।
अरे! मतिमन्द! अंध! फंद मत रोप ऐसे
बंध यों खुलेगा नहीं तेरे इस जाल का॥

* संसारमें, कार्यक्षेत्र में।

(६)

काया-माया-भेद भो न आया समझमें तेरे—
ईश*-माया जीतने में तेरी है मजाल क्या !
लकड़ी में जान नहीं, सच्चा है उफान नहीं
फीके-फाके पानीमें गलेगी तेरी दाल क्या !
मानी, धनी मान रहा अपनेको मूढ़ ! किन्तु—
पापका कमाया तेरे काम का है माल क्या ?
ओरे ! वकवादी ! सोच, वार-वार फुला-फुला—
दो दिन के जीने पर वजाता है गाल क्या ?

(७)

लोक को कहे अपना, झूठा जो सदा सपना—
मृगकी सी तृष्णा कर बना तू दिवाना है।
लंका की ओर मुख करके तू चला है भला—
किन्तु सोच तुझको तो उत्तरको जाना है।
दाना ‡ तू बना है बैठा, मान जा नादान ! किन्तु—
दान विना यहाँ तेरा एक भी न दाना है।
ओरे ! मदमत्त मानव ! मिट्टीसे प्रेम छोड़—
मिट्टीके खिलौने ! तुझे मिट्टीमें समाना है॥

* प्रकृति, नेचर। ‡ अनुभवी बलवान। अनाज का एक कण भी इसका अर्थ है।

(८)

ले-ले लावण्य तनुमें निराली निकाईभी तू—
करके सफाई नित्य वेष-भूषा-केश की।
पाजा धन, धाम और बड़े-बड़े ग्राम भो तू—
चापलूसी करके या ग़ुलामी नरेश की।
हो जा प्रपूर्ण-काम नामको कमाकर भी तू—
करके महान-सेवा स्वार्थ-भरी देश की।
अरे! नर! होगा कैसे जीवन-मरण मुक्त—
चरण-शरण विना रमेश-महेश की॥

महिला-महत्व

(१)

पाप के पहाड़ों के पड़जाते पड़ाव यहाँ
पापीजन-पातकों को गङ्गा जो न धोती तो।
तम का जमाव जमा रमता बीभत्व* यहाँ
अंधकार-भीम-भार ज्योति जो न खोती तो।
होता अनुरक्त, भक्त और भव-मुक्त कौन
चित्त बीच प्रेम-बीज भक्ति जो न बोती तो?
शक्ति क्या थी ब्रह्मकी भी होता जो त्रिलोकी-नाथ
दृष्टिमें न आती सृष्टि "शक्ति×" जो न होती तो?

---

* भीषणता। डरावनापन। × स्त्री जाति, जिसके हाथों में भगवान ने सृष्टि उत्पन्न करने का सबसे बड़े महत्व का काम सौंपा है।

(२)

गहन*-गहन-बीच पाण्डु-पुत्र पाण्डु ही थे
कृष्णाऽनुरक्ता होकर कृष्णा जो न पाती तो।
ध्यान ही लगाते ईश, ईश न कहाते कभी
उन्हें प्रेम-पाठ जो न पार्वती पढ़ाती तो।
वनचारी†-नाश कभी होता वनमाली से न
काली‡ विकराली नहीं शस्त्र जो चलाती तो।
काम-अभिराम-राम होते नहीं पूर्ण-काम
गीता सी पुनीताऽजीता सीता जो न आती तो॥

(३)

तरल-तरंग और मुक्ता-युक्त-सीप विना—
सूना सा प्रतीत होता सागर का वारी है।
अगमाऽवलि‖ हरी हरी, सुन्दरी दरी¶ और—
नीर-भरी-नदी विना व्यर्थ धराधारी§ है।

---

*घना जंगल। पाण्डव कुछ भी उद्योग नहीं करते पाण्डु नामक मिट्टी के समान बने रहते जो उन्हें कृष्णमें प्रीति करने वाली (कृष्ण + अनुरक्ता) द्रौपदी न मिलती तो। † राक्षस। ‡ मधु-कैटभ को मारने वाली। ‖ वृक्षोंकी पंक्ति। ¶ गुफा। § पर्वत।

सुन्दर-सुखद-स्वच्छ-सुषमा की राशि बिना—
सारा संसार यह असार, भीम, भारी है।
इस ही प्रकार सदा शान्ति और कान्ति वाली—
नारी बिना देहधारी निपट अनारी है॥

(४)

शक्ति बिना प्राण जैसे, भक्ति बिना ध्यान जैसे,
मति* बिना मान जैसे व्यर्थ कहलाता है।
धैर्य बिना वीर जैसे, शौर्य बिना धीर जैसे,
नीर बिना हीर जैसे फीका पड़ जाता है।
रीति बिना मर्म जैसे, नीति बिना कर्म जैसे,
सत्य बिना धर्म जैसे झूंठा दरसाता है।
माया बिना ब्रह्म जैसे, शिवा बिना शिव जैसे,
नारी बिना नर वैसे अनारी कहाता है॥

(५)

धान्य-धन लुटाने को आजाता धनद‡ वहाँ—
खाता धन, जन जहाँ न कन्या के दान का।
साथ लिये जाता$ को भी पाता है विधाता वहाँ—
होता वेद विषय जहाँ नारी के कान § का।

* इज़्ज़त है पर उस जैसी बुद्धि नहीं। ‡ कुबेर। भगवान का खज़ानची। $ पुत्री, सरस्वती। § जहाँ स्त्रियें उच्चकोटि की शिक्षा पाती है।

खोदता गजानन भी मंगल की खान वहाँ—
होता बखान जहाँ गज*-गामिनि-गान का।
देता भगवान भी है त्राण-दान सदा वहाँ—
ज्ञान-ध्यान रहे जहाँ महिला के मान का॥

(६)

शक्ति-नारी-दास होके उससे प्रकाश लेके—
ब्रह्म और शिव दोनों बने शक्तिधारी हैं।
रिद्धि-सिद्धि-नारी-नाम लेकर प्रथम सदा—
गजानन गणेश को पूजते पुजारी हैं।
मोल न लड़ाई लेते, प्रिय को बड़ाई देते—
पशु–पक्षी–जीव–जन्तु नारी–मान–कारी हैं।
सीता–राधा पीछे आता राम-श्याम-नाम सदा—
तो भी मूढ़-नारी-नर हुए नर-नारी‡ हैं॥

(७)

ऋषि और मुनि लोग स्त्रियों के सुमन§ जैसे—
सुमन में ही देखते सारे गुण-ग्राम को।
राम, श्याम बलराम अपना आराम छोड़—
जड से उखाड़ देते वामाजन-वाम को¶।

---

* जहाँ स्त्रिएं संगीत-विद्या में ऐसी निपुण हों कि उनकी सब प्रशंसा करें। ‡ अपने को स्त्रियों से अधिक मानना। § पुष्प और अच्छा मन। ¶ स्त्रियों के शत्रु।

करके ये देव सभी देवियों का महा-मान—
ऊँचा चढ़ाते नित्य अपने देव-धाम को।
किन्तु "सृष्टि* स्वामी" बन जन्म से ही मूढ़जन,
बट्टा ही लगाता आज जननी के नाम को॥

(८)

झूँठा है घमण्ड और सब ही पाखण्ड तेरा,‡
मानव कहा के तू न मानवता-धारी है।
बार-बार अत्याचार स्त्री पै अपार करके—
भरता तू नित्य बड़े पापों की पिटारी है।
निकला तू कहाँ से है अंधे! जरा सोच भला—
जूती बतलाता उसे विभूती जो भारी है।
ओरे! नर मानी! तू है ज्ञानी और दानी कैसे—
बनता विवाह बीच तू ही तो भिखारी§ है॥

(९)

होकर कृतघ्न अब भूलजा भले हो सब—
किन्तु नव-मास तुझे माता ने छिपाया है।
चाहे उद्दंड हो, तू फड़का भुजदंड आज—
किन्तु यह अबला के दूध की ही माया है।

*चर अचर। (जड़-जंगम) सृष्टि के मालिक। (Lord of creation) ‡ मनुष्य का। § कन्यादान लेने को।

निज को तू मर्म-विज्ञ पंडित भले ही बता—
किन्तु धर्म-कर्म तुझे स्त्री ने ही सिखाया है।
चाहे कष्ट जाया* के बढ़ाया कर माया कर—
किन्तु नर! अन्त में तू नारी का ही जाया है॥

(१०)

आधे निज अंग को करता क्यों अपंग अब—
उसके तू जीवन को जीवन से जोडदे।
"मैं ही हूँ महान" ऐसे मत तू बखान अब—
मत वाली मति का भी मस्तक तू फोड़ दे।
मानी! तू मान कहना मिथ्या-मद छोड़ अब—
महिला के मान-हित मन को तू मोड दे।
ओरे! अभिमानी-प्राणी! होकर अज्ञानी अब—
मनमानी—घरजानी करना तू छोड़ दे॥

* अपनी स्त्री।

काच की कथा

(१)

क्यों तुझे है जन्म ब्रह्मा ने दिया?
　　क्यों बना यों साफ़ है तेरा हिया?
हाल सब उसका हमें दे काच! कह—
　　आज तक तू ने भला जो-जो किया॥

(२)

प्रश्न सुन, कर दर्प दर्पण ने महा—
　　मुसकराकर एक दिन मुझसे कहा—
"हाल सब सुन लीजिए मेरा अभी—
　　क्यों तुम्हें आश्चर्य ऐसा हो रहा?

(३)

"शक्ति मेरी है त्रिलोकी-व्यापिनी,
किन्तु है वह जीव-हित-हितकारिणी।
जो मुझे ब्रह्मा न देते जन्म तो—
मान भी करने न पाती मानिनी* ॥

(४)

"हो रही हो शुद्ध सोने॥ की छड़ी,
हो भले ही लाख पर्दों में पड़ी,
वह वधू भी खोल घूँघट पट भला—,
सामने मेरे रहे घंटों खड़ी॥

(५)

"मै किसीको भी नहीं देता व्यथा—
दूसरे से कह किसी की कुछ कथा।
पूछ लो मुझ से मिटेगी किस तरह
औरतों की घृणित पर्दे की प्रथा॥

(६)

"चन्द्रमा धारण किये पूरी कला—
देखता जिसको नहीं मनमें जला,—
रूप मैंने ही निहारा ख़ूब है—
उस अलौकिक—सुन्दरीका भी भला॥

---

* मान करनेवाली स्त्री-जाति। ॥ सारे अङ्ग को यह उपमा दी जाती है।

(७)

"मान निज अपमान पति से मानिनी—
कोप में भर कर बनी जो भामिनी—
मोदमय उसको बना दूँ यामिनी*—
कर उसे मैं काम की सी कामिनी॥

(८)

"स्त्री-सु-दर्शन-सुख मुझे हरिने दिया—
पर सुदर्शन-चक्र भी सम्मुख किया।
क्योंकि हीरे सी कटीली नोंक की—
काटती आँखें सदा मेरा हिया॥

(९)

"कञ्ज" ॥ सम, कविने, जिन्हें कोमल महा—
और खञ्जन, मीन, मृगके सम कहा—
नेत्र ऐसे भी बनें क्यों बाण से?
नित्य मेरा हृदय जिन से विंध रहा॥

---

* रात्रि। स्त्रिएं जिस समय काचके सामने खड़ी रह कर शृङ्गार करती हैं उस समय वे सारे लड़ाई-झगड़े भूल जाती हैं। ॥ कमलादि की उपमा नेत्रों को दी जाती है।

(१०)

"कान्तिकर, सुख-शान्तिकर, भव-भ्रान्तिहर—
राम-श्याम-ललाम-लोचन देख कर—
मैं मिटाता जो न मेरे घाव तो—
हो न सकता था कभी भी मैं अमर ॥

(११)

"सामने पौशाक मेरे पहन कर,
तेज शस्त्रों को सजा कर देह पर,
युद्ध के पहले दिखाते हैं मुझे—
निज-भयद-मोहन वदन को वीर-वर ॥

(१२)

"जो बढ़ाना चाहता निज नाम को—
सिद्ध करना चाहता है काम को—
वह दिखावे दिवस-मुख* में मुख मुझे—
नित्य मुझसे युक्त कर निज धाम को ॥

(१३)

भेद मेरा जानते धीमान नर ।
श्वेत ‖ मैं हूँ रंग सारे एक कर ।

---

* प्रातःकाल काच में अपना मुख देखना शास्त्र में मङ्गलदायक लिखा है। ‖ विज्ञान (साइन्स) में श्वेत-रंग को सभी रंगों का मिश्रण यन्त्र द्वारा सिद्ध किया जाता है।

और उनको अलग कर मैं हो बनं—
लाल, पीला, हरा, नीला रत्न-वर॥

(१४)

"मानते उनको न कोई नारि-नर—
कह रहा जो मान के मैं वचन-वर—
तुम असलमें वस्तु वह हो ही नहीं—
मुदित हो, मुझमें जिसे तुम देखकर॥

(१५)

"हो न सकते सफल तुम ऐसे कभी।
व्यर्थ होंगी नित्य चेष्टाएँ सभी।
आपको पहचान सकते तुम तभी—
हृदय-दर्पण में निहारोगे जभी॥

(१६)

"मनुज को मैंने बहुत से सुख दिये—
और अति उपकार भी उसके किये।
आँख। वाले भी कई क्या देखते—
आँख॥ जो बनता न मैं उनके लिए॥

---

* काच में देह का मुख दीखता है अपना (आत्मा का) मुख नहीं।
॥ चश्मा।

(१७)

"चित्त में उत्पन्न करके स्नेह को—
मैं सजाता हूँ सभी के गेह को।
चीज़* को छोटी-बड़ी दिखला भला—
मैं बिगाड़ूंगा न उसकी देह को॥

(१८)

"दृष्टि परिमित बन सदा रहती यहीं—
जा न सकती वह कभी भी हर कहीं।
मैं सहायक जो न होता तो भला—
चित्र फोटो‡ का कभी बनता नहीं

(१९)

"दीप॥ बनता हूँ कई मैं कान्तिकर—
और मैं ही पात्र+ होता स्वच्छ-तर।
शक्तियोंमें श्रेष्ठ विद्युत्-शक्तिभी—
कर नहीं सकती कभी मुझपर असर× ॥

(२०)

"शीघ्र पड़कर आज कल उपहासमें—
बहुत ज्योतिष-ग्रन्थ मिलते नाशमें।

* दूरबीन से एक ओर से देखने से बड़ा और दूसरी ओर से छोटा पदार्थ मालूम होता है। ‡ लेन्स के बिना। ॥ बिजली के गोले। + बोतल, ग्लास, दावात इत्यादि काच की बहुत चीज़ें बनती हैं। × काच में बिजली नहीं दौड़ती। यह non-conductor है।

मैं न आता तो, न तारा एक भी—
फटकने पाता किसी के पास में॥

(२१)

"देख मुझको आँख सबकी है हरी,
क्योंकि मैं कहता सदा मुझपर मरी।
मैं न होता तो, न पौडर पोतकर—
पश्चिमी-नारी कहाती सुन्दरी॥

(२२)

"जो न वह आदेश मेरा पायगी—
तो न घर बाहर कभी वह आयगी।
डाल पाकट में मुझे ही वह भला—
सभ्यतर-सोसायटी में जायगी* ॥

(२३)

"है सदा अधिकार मेरा सब कहीं।
तुम कहो, क्या बात है ऐसा नहीं?
हाल यह संक्षेप में कह कर तुम्हें—
मैं कथा को पूर्ण करता हूँ यहीं"

*मेमें अपनी जेब में काच की पौडर भरी डिब्बी सदा रखती हैं।

विरह-विलाप

(१)

आपके वियोगका भी कैसे है महान रोग—
आता समीप जिससे काल मेरे नाश का!
कोई काम भाता नहीं, ध्यानमें भी आता नही—
समझना मुझे मेरे दासी और दासका।
रात और दिनकी भी मुझे तो ख़बर नहीं—
पता भी पड़ता नहीं भूख और प्यासका।
आ करके प्राणनाथ! रहो अब आप साथ,
कौन है भरोसा इस जीवन में श्वास का?

(२)

सीने पै पसीने जो हैं उनका बनाके मिष,
मेरे अंग-अवयव भी रोते चिल्लाते हैं।

दाँतों की चमक लिए मेरे ये दीन वचन—
कई अश्रुधाराओं को वेग से बहाते हैं।
लम्बे और काले-काले मेरे घुँघराले बाल—
फूलों का बहाना बना आँसू टपकाते हैं।
आवो ज़रा देखो आप प्राणाधार! बारबार—
सागर के सागर ये नेत्र उमड़ाते हैं॥

(३).

कमलिनी सूर्य बिना, कुमदिनी चन्द्र बिना—
जैसे मुरझाती मुझे वैसे ही बखानना।
भौंरी जैसे पद्म बिना, पिक जैसे आम बिना—
घोर दुःख पाती इसे आप सत्य जानना।
शान्ति जैसे तेज बिना, कान्ति जैसे स्वास्थ्य* बिना—
फीकी पड़जाती आप स्वयं पहचानना।
देह जैसे प्राण बिना, मीन जैसे नीर बिना—
वैसे ही आप मुझको आप बिना मानना।

(४)

आपका ‖ प्रस्थान जान मनमें कमल फूल—
झूम झूम-सरसाता कैसा इतराता है?

---

* तन्दुरुस्ती। ‖ इस कविता में साहित्य में मानी हुई चिन्ता से आदि लेकर मरण तक एकादश वियोग की अवस्थाओं का वर्णन है इस कवित्त में उपमानों को देखकर विरहिणी को उसके पतिका स्मरण होता है।

बोलती है सारिका भी मीठे अनमोल बोल—
गर्व से कुचाली-कीर नाक को चढ़ाता है।
मतवाला हाथी यह आता घूमघूम यहाँ—
हाथ* को दिखाता और मस्तक उठाता है।
देखो महाराज! कैसे महा-मृगराज आज—
जीने को सराहता है सीने को फुलाता है॥

(५)

भानु||-भानु-तेज देख पावन, प्रचण्ड महा—
आपका प्रताप मुझे नित्य याद आता है।
पूर्ण-चन्द्र-चन्द्रिका को देख, आँखों आगे मेरे—
आपका वदन-रूप आप ही छा जाता है।
अलि‡-कुलकी केलि देख आपके सुकेशोंका—
कुंचित-कलाप मेरे आगे बल खाता है।
रहते यों आप याद, तो भी क्यों पपीहा पापी—
पी-पी कर बार-बार मुझको चिढ़ाता है?

(६)

सिंह§ के वदन में भी सहसा ही कैसे गिरूं—
आप जैसी उस में भी शूरता न वीरता।

---

* हाथी की सूँड़ की उपमा भुजाओं को दीजाती है। || सूर्य की किरणों का तेज। ‡ भौरों का खेल। § उन्मत्त अवस्था का वर्णन।

पर्वतों में जाकर मैं कैसे गल जाऊं भला—
आप जैसी वहाँ भी न दृढ़ता-सुधीरता।
सागर में डूबूं कैसे वहाँ भी न पाती मुझे—
आप जैसी मिष्टता—उदारता—गम्भीरता।
वीरोंके तीरोंमें भी, प्रलयके समीरोंमें भी—
आपके वियोग की सी मेरी नहीं *तीरता॥

(७)

होकर उन्मत्त महा व्यर्थ मैं बनाती बात—
जाती नहीं दृष्टि मेरी भलाई-बुराई पै।
आधि-व्याधि-वृद्धि पाती सुहाती न बात कुछ
मेरा चलता न चित्त खटाई, मिठाई पै।
विरह की वेदना में क्या-क्या नहीं होता नाथ!
पीतिमा॥ भी छाई मेरी मुखकी निकाई पै।
अनूठी-अँगूठी$ यह ऊँगलीसे छूट आज—
टूट पड़ी कंकन बन मेरी कलाई पै॥

(८)

होकर अचेतन भी चेतन बनूंगी फिर—
दर्शन के हेतु सारे कष्टों को सहूँगी मैं।

---

*छेदन-शक्ति। ॥ पीलापन। $ मैं इतनी दुबली होगई कि विवाह की अँगूठी कलाई पर चढ़ आती है।

काम-ताप-अग्नि-युक्त-विरह-समुद्र * में भी—
आपको पाने के लिये चैन से बहूँगी मैं।
देह यह दिखाती है दुःखकी दशाको तो भी—
मेरी रसना से नहीं कुछ भी कहूँगी मैं॥
मेरे वियोगसे ही रहते जो सुखी हैं आप—
तो यों दुःखी भी बन सुखी ही रहूँगी मैं॥

(९)

पावन-प्रेम जानना, न मानना कभी आप—
भोग या विलास हेतु दासी के विलापको।
पत्नी को स्वपति का भूलना न भाता पल भी—
आता किन्तु सहना है दुर्वासाई के शापको।
कामदेव ही न भला, अबलापै सभी लोग—
डालते हैं दूना निज ताप को, प्रताप को।
ध्यान में न आसकता, प्राणनाथ! प्राणेश्वर!
नारी-हृदय-तत्व नर होकर आपको॥

(१०)

जीवनधन! आपके नित्य स्वप्न देख-देख—
कहाँ तक मन को मैं ऐसे बहलाऊँगी!

---

* समुद्र में वाडवानल रहता है। वियोग-सागर में कामाऽग्नि ही वह आग है। जैसे शकुन्तला ने किया।

वर्ष खोए, मास खोए, हैं त्यौहार-वार—
अब तो है एक दिन जिसे मैं गिनाऊँगी।
आपके पवित्र-पत्र और चारु-चित्रको भी—
प्रेम से उठाऊँगी मैं छाती से लगाऊँगी।
कलभी न आये तो फिर कैसे कल* पाऊँगी,
मैं पल भी न पाऊंगी, आप में समाऊँगी॥

* चैन।

विधवा-विलाप

(१)

यह क्रूरता भयंकर, या यह कृपालुता है,
जो काल को सिखाई।
देखो दयालु ईश्वर! क्या यह दयालुता है,
जो आपने दिखाई।
यह कर्म है कलंकित, अन्याय है सरासर,
जो आपने किया है।
वैधव्य-दुःख-अंकित, मम भाल को बनाकर,
क्या आपने लिया है?॥

(२)

मुझ मीन-बालिका के, पति-दीन-नीर से क्या,
वन-स्वर्ग अब हरा है?
इस तुच्छ-सारिका के, कमनीय-कीर से क्या
निधि आपका भरा है।
मम-भाग्य के भवन को, कैसे उजाड़ करके,
हा! रेत में मिलाया!
मेरे हृदय-सुमन को, क्यों नाथ! हाय! हर के,
वैकुंठ में खिलाया॥

(३)

रो रो विलख विलख कर, सुत-श्राद्ध कर रहा है,
प्रिय* का पिता विचारा।
"प्रभु-न्याय-नीति-सुन्दर," यों सत्य कह रहा है,
संसार आज सारा।
है सास साँस लेती ठंडे, भला निरख कर,
विधवा हुई बहू को।
सूखी निहार खेती, सघवा रही स्वयं, पर—
भूले न मृत-लहूऽ को॥

* विधवा का श्वशुर। ऽ अपने मृतक पुत्र को।

(४)

बेड़ी समान गहने, मैंने उतार डाले—
हैं सर्प हो रहे जो।
थे श्वेत-वस्त्र पहने, था नील और काले,
दुख-बीज बो रहे जो।
खोदी सुहाग टीकी; नोकी गुलाल वाली,
वह माँग अब कहाँ है?
महँदी महान फीकी, तीखी न रेख काली,
जल आँख में यहाँ है॥

(५)

हे नाथ! साथ मेरा, उस प्राण-नाथ से अब,
तूने छुडा दिया है।
है क्रूर हाथ तेरा, मम दुःख-पाथ से अब,
भीगा हुआ हिया है।
अबला-गला दबा कर, तू डालता बला यों,
करने विनाश मेरा।
तू लूटता धरोहर, होगा भला, भला यों,
कैसे कृपालु तेरा?

(६)

मैं चाहती न जीना, ईश्वर! समेटले तू,
प्रिय के समान मुझ को।
मैं हूँ अधीर-दीना, इस ओर देखले तू,
दे मृत्यु-दान मुझ को।
तू है न जो जनार्दन*, मम-प्राण-धन-सुजन को
खाता नहीं कभी तू।
पति का किया सुभक्षण, इससे मदीय तन को
खाजा अभी अभी तू॥

(७)

रक्षक कहा कहा कर, भक्षक भला कहाता
यह है अनीति तेरी।
करुणा-कमल× बहाकर, दुःखाग्नि से दहाता
यह है कुरीति तेरी।
करुणा-निधान-ईश्वर! करदे सजीव पति को
तारक तुझे कहूँ मैं।
अथवा प्रदान तू कर मेरे लिये सुगति को
मारक तुझे कहूँ मैं॥

---

* मनुष्यों को खाने वाला। × जल।

विचित्र-विलाप

(१)

किसने हे जगदीश ! तुम्हारा रूप निहारा ?
कौन भक्ति से बना आपका कहिए प्यारा ?
जप-तप करके कौन आप में लीन हुआ है ?
प्रभु के मानस-मध्य कौन जन मीन हुआ है ?
जो मानव इस जगत में उसने ही यह सब किया ।
जिस तनु में अवतार भी कई बार तुम ने लिया ॥

(२)

जिसके हित भगवान आपने दुःख सहा है ।
जिसको अपना मित्र आपने कभी कहा है ।
जो वर्षों तक भला आपके साथ रहा है ।
जो प्रभु-आज्ञा-सिंधु बीच ही सदा बहा है ।
वह सुजीव बस मनुज है, हुआ और कोई नहीं ।
जिसकी धारण देह कर आप फिरे थे सब कहीं ॥

(३)

उसी मनुज को आज भूलना नहीं न्याय है।
आज आपके बिना हुआ जो नष्ट—प्राय है।
जिसकी सुध-बुध प्रभो! आप अब भूल गये हैं।
बने पुरातन-पुरुष किन्तु अब पुरुष नये हैं।
जैसे जन अनजान बन कर लेता कुछ काम को।
वैसे हो भगवान! तुम भूल गए निज नाम को॥

(४)

हम भी तो हैं मनुज और हम बने रहेंगे।
या मनुष्यता—हीन आप अब हमें कहेंगे?
जो कहते हो यही प्रभो! अब हमें रुलाकर—
तो तुम भी भगवान् नहीं हो करुणा—सागर।
सुख-संपति में साथ थे, दीन-दयालु विचित्र हो!
जो दीनों के दुःख में नहीं सहायक—मित्र हो!!

(५)

कहिए क्यों नर—सिंह प्रेमसे आप बने थे?
कौसल्या की गोद कहो क्यों स्नेह—सने थे?
देवि-देवकी-दुःख सहन कर बन्दी-घर में—
क्यों रखती नव मास आपको भला उदर में?
बस भारत-उद्धार हित वह मानव-अवतार था।
अथवा गीता का वचन और झूँठ प्रभु-प्यार था!

हमारा हृदय

(१)

सुनो हमारे श्रमी-हृदय तुम,
वर्णन होगा अभी तुम्हारा।
काम जानते नहीं सभी, पर—
नाम जानते सभी तुम्हारा॥

(२)

सदा हमारे जन्मपूर्व ही,
होता प्रादुर्भाव तुम्हारा।
हाव-भाव मुख पर बतलाकर-
बढ़ता चंचल चाव तुम्हारा॥

(३)

पशु-पक्षी की काया में भी,
होता रहता कार्य तुम्हारा।
सुराचार्य भी आश्रय लेते,
लेते असुराचार्य तुम्हारा॥

(४)

धर्म-लीन बन सुयश बढ़ाते,
मानव-बल से मनुज तुम्हारा।
धर्म-हीन बन अपयश करते—
दानव-बल से दनुज तुम्हारा॥

(५)

क्षमा-दया के धाम तुम्हीं हो,
धर्मधीर है नाम तुम्हारा।
काम-क्रोध के केन्द्र तुम्हीं हो,
कर्मवीर है नाम तुम्हारा॥

(६)

लेते हो विश्राम नहीं तुम,
है अदम्य-उत्साह तुम्हारा।
धन्य-धन्य है ऐसा साहस,
वाह वाह है वाह तुम्हारा॥

(७)

तुम जैसा है अभी न कोई,
सभी चाहते क्षेम तुम्हारा।
वश्य-विश्व को तब तुम करते,
जब साथी है प्रेम तुम्हारा॥

(८)

तुम हो अगम किन्तु, होता है,

प्रिय-समीप में गमन तुम्हारा ॥

*शक्ति-हीन, तुम, पर देखा है,

रम्य रूप में रमण तुम्हारा ॥

(९)

होते सूक्ष्म स्थूल होकर तुम,

तनु है रक्ताधार तुम्हारा।

नयनों में होकर तुम चलते,

है अपार-व्यापार तुम्हारा ॥

(१०)

पालन-पोषण सबका करते,

विष्णु-सदृश है रूप तुम्हारा।

श्रमजीवी सहृदय लज्जित हैं,

श्रम अवलोक अनूप तुम्हारा ॥

(११)

मंजु मूर्ति को सदा छिपाता,

तनु है भाँति अनेक तुम्हारा

प्राणी-जीवन कहलाता है—

स्पन्दन ही बस एक तुम्हारा ॥

* नपुंसक लिङ्ग।

(१२)

निज निर्माता को मत भूलो

होगा सन्तत विजय तुम्हारा।

हृदय ! हमारे हृदय तुम्हीं हो,

किन्तु कहाँ है हृदय तुम्हारा ?

अधमाधम

(१)

लेकर जिसने जन्म कभी भी नहीं किया है पर-उपकार,
भजता है न भक्ति से हरि को, करने को जो निज-उद्धार
दान कभी करता न स्वप्न में होकर जो धनवान, महान,
अपने को जो ज्ञानी कहता, औरों को अज्ञान-निधान,

(२)

पातक और दोष भी करके, हो जाता है जो अज्ञात,
पेट कतरनी हाथ सुमरनी चलती है जिसके दिनरात,
ठगता है भोलेभालों को होकर के जो बगुलाभक्त,
हँसता है जो देख दुखी को, बिना हुए उसमें अनुरक्त,

(३)

मालिक को जो धोखा देता, लोग दिखाऊ करके प्रेम,
पीठ ताकता है जो उसकी, नहीं चाहता उसका क्षेम,
चाहे अपना लाभ न होवे, पर औरों का काम बिगाड़—
होता है जो मनमें हर्षित, करके ख़ूब उखाड़, पछाड़,

(४)

वचन-पलट भी होकर निज को कभी न देता है जो दोष,
अपराधी बन स्वयं, और को दोषी कहता, करके रोष,
सुख में साथ, दूर जो दुखमें, रख बन्दरकी सी पहचान,
पाने को सम्मान स्वयं जो करता है पर का अपमान,

(५)

है स्वदेश की उन्नति में जो कभी न लेता कुछ भी भाग,
उसे स्वतंत्र नहीं करता जो, वैरी से करके अनुराग,
देशी का है दास नहीं, जो परदेशी का सदा गुलाम—
अधमाधम बस वही मनुज है और वही है नमकहराम ॥

नृसिंह—नाद

(१)

जाऊँगा न पीछे कभी, मर के हटूँगा आज,
मन में सभी के देश-भक्ति को जगाऊँगा।

गाऊँगा सदैव गान, धीरता-सुवीरता के,
हाथ अब पुराने मैं वैरी को दिखाऊँगा।

खाऊँगा शपथ, एक थकने की युद्ध बीच,
नीच अरियों को आज कीच में मिलाऊँगा।

लाऊँगा उदासी नहीं, खाऊँगा न वासी कहीं
पाकर स्वातंत्र्य, वाजे जयके वजाऊँगा॥

(२)

माऊँगा न देह में मैं, ताऊँगा विपत्तियों को,
निर्बल के त्राण-हेतु हाथ को बढ़ाऊँगा।

ढाऊँगा महान्-दुर्ग, अरियों के गर्व का, मैं—
धीरज के साथ सदा प्रण को निभाऊँगा।

भाऊँगा सभी को और नाम भी कमाऊँगा मैं
नभको गुञ्जाऊँगा, फिर भू को कँपाऊँगा।

पाऊँगा मञ्जु-मुक्ति, आऊँगा न जाऊँगा फिर
वही वनजाऊँगा मैं उसमें समाऊँगा॥

झूलता झूला

(१)

जीवन क्या है ? अद्भुत झूला।
प्राणी उस पर झूला करता—
है अपने को भूला-भूला...जीवन .. ।

उगा आयु का शाखी सुन्दर
है उसके तनु की शाखा-वर।
माया का वन्धन है जिस पर—
बँधा हुआ विधि-कर से दृढ़तर।

कर्मों की पाटी पर बैठा झूल रहा वह फूला-फूला।
जीवन क्या है ? अद्भुत झूला ॥

(२)

जीवन क्या है ? अद्भुत झूला।
कामाऽदिक अरि-दल से उस पर—
प्राणी बनता लँगड़ा-लूला। जीवन...।
सुख-दुःखों का वायु निरन्तर—
चलता है उसके चलने पर—
प्राणी जिसका सेवन कर-कर—
हँसता है रो-रोकर मन भर,
किन्तु नहीं कुछ कर पाता है होकर भी वह आग-बबूला।
जीवन क्या है ? अद्भुत झूला॥

सूक्तिकुञ्ज

बाल-विनय

(१)

नहीं अजामिल हैं हम भगवन्! जो निज-सुत का लेकर नाम—
चला गया इस मर्त्य-लोक से, उस अमर्त्य-सुरधाम ललाम।
नहीं जटायु-गीध हम, जिनको ले स्व-अङ्क नावेंगे नाथ!
केवट भी हम नहीं चरण-युग धोकर होंगे प्रभु के साथ॥

(२)

जिसके लिए सुदर्शन लेकर, उतर गरुड़ से दौड़े आप—
हम ऐसे गज भी न, ग्राह से छोड़ेंगे जिसका सन्ताप।
जो थी भारी शिला अहल्या-नारी उसको तारा ईश!
हम तो वह भी नहीं, दया हो करुण! दयार्द्र जगदीश

(३)

ज्ञान तथा हो भक्ति आपकी, इनमें से गुण यहाँ न एक।
पुण्य करें न, करें पापों को, हममें अवगुण भरे अनेक।
दाल हमारी नहीं गलेगी, हम दोषों से हैं संयुक्त।
बड़े-बड़े धर्मज्ञ रह गए, फिर क्योंकर हम होंगे मुक्त?

(४)

कैसे हमें उबारोगे यह, बात बता ही दो भगवान!
दोष-रहित-सीता को त्यागा, हम तो हैं पापों की खान।
पतित-पावनी-जग-जननी का, हुआ भला जब ऐसा त्याग—
तब फिर कहाँ ठिकाना हम सब पातकियों का है बड़भाग!

(५)

धर्म-शील तारे तो प्रभु ने, केवल किया वणिक-व्यवहार।
है यह अदला का बदला हो, कहते हैं बुध-विबुध विचार।
हम जैसों को अपनावो जो, दोष और पापों के धाम।
यदि न उबारो, तजो दया-निधि, करुणा-सिन्धु आदि शुभ नाम॥

पुनीत-प्रार्थना

(१)

धनुर्धर-धीर-रूप धरने, दुष्ट-खल-कुल का क्षय करने,
भक्त में भव्य भाव भरने, भूमि का दुर्भर-भर रहने,
हुए जो रघुवंशी अभिराम—
उन्हें है मेरा प्रथम प्रणाम ॥

(२)

मित्र का कहना जिनने मान, वृक्ष पीछे हो अन्तर्धान—
चलाया लुब्धक बन कर बाण, लिए थे बली बालि के प्राण,
भव्य-भावों से बुद्धि भरे,
व्याध वह मेरी व्याधि हरे ॥

सच्ची साधना

(१)

नल ने हँस कर कहा, "असम्भव ऐसा करना—
तेरे मन की और महा चिन्ता को हरना।
शासन-हित मैं नहीं यहाँ आया हूँ पुष्कर!
राजपाट की चाह नहीं है मुझे बन्धुवर!

(२)

"जीवन-विन्दु-समान क्योंकि है चञ्चल-जीवन—
बढ़ता है जो नहीं, किन्तु घटता है क्षण-क्षण।
है इसका उपयोग यही कहलाता सुखकर—
इसे प्राप्त करना न दूसरी वार यहाँ पर॥

(३)

"इसे त्यागना था कि सर्वथा, इसका खोना—
एकमात्र यह लक्ष्य चाहिए इसका होना।
हमें इसे भगवान् इसलिए देता पुष्कर—
होके इससे मुक्त करें हम यत्न निरन्तर॥

(४)

"रहूँ सदा मैं स्वस्थ बढ़ाकर लोहित-लाली—
हो जाऊँ विद्वान्, यशस्वी वैभवशाली—

---

*लेखक के "नल-नरेश" महाकाव्य के १९ वें सर्ग से उद्धृत।

जीतूँ सारे देश, नष्ट कर वैरिजनों को—
सिंहासन पर बैठ, बढ़ाऊँ मित्र-गणों को,

(५)

"ऋद्धि, सिद्धि, सम्पत्ति लोक की मेरे आवें—
मुझे त्रिलोकीनाथ, त्रिलोकी-नाथ बनावें—
करती जीवन-नाश कामनाएं हैं ऐसी ।
इनके रहते हुए मुक्ति हो सकती कैसी ॥

(६)

"इसका नाम, निशान क्यों न मैं आज मिटादूँ—
है यह मेरा शत्रु, इसे मैं मार गिरादूँ—
बन्दी इसको करूँ शापदूं इसको ऐसा—
नहीं किसीने कहीं दिया हो अब तक जैसा—

(७)

"खाजाऊँगा इसे, पीसही मैं डालूँगा—
करके इसका चूर्ण प्रतिज्ञा मैं पालूंगा—
कहता है यों मनुज क्रोध में जब भर जाता ।
कर पाता कुछ नही स्वयं पर वह मर जाता ॥

(८)

"अपने धन को मूढ़ ! दान में क्यों खोता है—
दीन-पालना से न लोक में कुछ होता है—
निधिपर मैं भरूँ निधि और फिर उन्हें छिपाऊं—
भू को खोदूं या कि कन्दराओं में जाऊं—

(९)

"मेरे भूषण, रत्न रहेंगे पास सर्वदा—
मेरी यों ही बनी रहेगी सदा सम्पदा—,
मन-मोदक-आस्वाद लोभ से जो यों लेता।
है वह अपनी नाव यहीं पर रहता खेता—

(१०)

"है मेरी यह मोद-दायिनी काया माया—
है छाया के सदृश गामिनी मेरी जाया—
ये मेरी सन्तान, पिता-माता ये मेरे;
ये सुखदाता-मित्र और भ्राता ये मेरे—

(११)

'है यह मेरी एक रम्य रत्नों की ढेरी—
यह मेरा घरबार और यह वसुधा मेरी—
बढ़ जाती है बहुत इस तरह जिसकी ममता—
परब्रह्म में चित्त नहीं है उसका रमता॥

(१२)

"मुझ जैसा गुणवान, नहीं विद्वान् कहीं पर—
ज्ञानवान, यशवान और बलवान कहीं पर—
है क्या मेरे सदृश काम भी महा-मनोहर—
क्यों मैं करूँ प्रणाम किसी को ईश्वर होकर॥

(१३)

"किसी बात में-किसी काम में-कोई नर-वर—
हो सकता मेरे न कभी भी कहीं बराबर—
ऐसा महा-घमण्ड, दुष्ट-पाखण्डाडम्बर—
देता है बल गिरा सभी को खण्ड-खण्ड कर॥

(१४)

"इसमें ऐसी शक्ति हाय! क्यों भरी हुई है—
क्यों इसके धन-राशि पास में धरी हुई है—
इसको ऐसा रूप दिया है क्यों ब्रह्मा ने—
की क्यों ऐसी कृपा इसी पर श्रेष्ठ-गिराने—

(१५)

"है यह कैसा सुखी, धनी, मानी है कैसा—
करता तू भगवान् क्यों नहीं मुझको ऐसा—
इस प्रकार की जलन मनुज को दुखी बनाकर—
कर देती है भस्म सुमति को जला जला कर॥

(१६)

"इससे रहना अलग चाहिए इन बातों से—
इस माया की, काल चक्र की-इन बातों से।
लेकर जल में जन्म, नहीं जल को छोड़ेगा—
किन्तु नहीं सम्बन्ध जलज जल से जोड़ेगा॥

अनूठी अन्योक्ति

(१)

मधुप ! तुझे है प्रेम, उस तरह मधु से मन में—
रखता है जिस तरह कृपण जन अपने धन में।
नीरज-मधु से इप कभी तू भूल न करता।
रटता-रटता नाम उन्हीं का है तू मरता॥

(२)

हे अलि ! तेरी दशा बिगड़ती ही क्यों जाती ?
इतने पर भी तुझे क्यों न अब लज्जा आती ?
भीत, पीत कर रहे तुझे हैं नीरज-केसर।
कर देंगे ये स्वयं नष्ट हो तुझको बेघर॥

(३)

तेरे मधु की चाह वढ़ गई क्यों है इतनी ?

मन में होती नहीं किसीके भी है जितनी।

केसर के भी आज देख तू कठिन कशा को।

क्यों न कर रहा ठीक मधुप ! तू स्वीय दशा को ?

(४)

आया है तू देख कहाँ से इस कानन में ?

कपट और कुविचार भरे हैं तेरे मन में।

वन का सत्यानाश कर रहा अब तू मधुकर !

तेरे मधु का लोभ वढ़ रहा है दिन-दिन भर ॥

(५)

मधु-धन-निर्धन हुआ वाग़ यह आज हमारा।

इस से, तज कर इसे ढूंढ तू और सहारा।

कर देते तव नाश कंज के केसर वन में।

किन्तु सहायक एक बन गया तेरा रण में॥

मान—महिमा

(१)

परमेश्वर के पूरे अंशज—
ऐसे श्री रघुवर के वंशज।
कामदेव—सम—महा-मनोहर—
वसुधा पर छवि-सुधा-सरोवर।
रामराज्य के करने वाले।
दुःख दीन का हरने वाले।
पुर की पुष्ट प्रजा के प्यारे—
हैं उसकी आँखों के तारे।
ज्ञानवान श्रीमान् महान—
ऐसे हैं जयपुर के "मान"॥

(२)

जिनने कर 'डिप्लोमा* पास—

लन्दन में भी किया निवास।

हर्षित हैं जिन से सम्राट्।

लैफ्टनन्ट‡ का देकर ठाट।

मोहित जिन पर नृप-समुदाय—

हैं ए० जी० जी० वायसराय।

सुनकर जिनकी फ़ाइन॥ इंगलिश—

शर्मा जाती मैम और मिस।

शक्तिवान, बल-वीर्य-निधान—

ऐसे हैं जयपुर के "मान॥

(३)

आदिशक्ति में है अनुरक्ति।

देवीजी की जिन के भक्ति।

ग्राम-कष्ट के बन संहारी—

शेरों के जो बड़े शिकारी

---

* महाराजाधिराज ने १९२९ में द्वितीय श्रेणी में (Second Division) मेयो कालिज से डिप्लोमा पास किया था। ‡ महाराजाधिराज को सम्राट ने अभी हाल ही में लैफ्टनैन्टी की महान पदवी दी है। ॥ अच्छी।

पोलो के हैं पक्के प्लेयर*
पोनी‡ की लेते जो केयर।
जिनका प्ले॥ होता है फ़यर+।
लगती जय में जिनकी चेयर।
भाग्यवान, अतिसाहसवान—
ऐसे हैं जयपुर के "मान"॥

(४)

जिनका मुख हँसमुख रहता है।
वचन कठोर नहीं कहता है।
रखते हैं जो सब में समता।
जिनमें क्षमा दया है ममता।
जान रहे जो राजनीति को।
जनता पालन-रम्य-रीति को।
हैं जिनके दो सुषमागार—
राजकुमारी§—राजकुमार।
आयुष्मान, गुणों की खान—
ऐसे हैं जयपुर के "मान"॥

---

* खिलाडी। ‡ पोलो का घोडा। ॥ खेल। + जिसमें कोई गलती न हो। § मात्राओं के कारण श्री महाराज कुमार व श्रीमती महाराज कुमारी नहीं लिखे गए हैं।

शुभ–स्वागत*

[ग़ज़ल]

(१)

तुह्मारा प्रेम से स्वागत सभी हम आज करते हैं।

मुबारक़बाद देते हैं, हृदय में हर्ष भरते हैं॥

(२)

फलो-फूलो सुखी हो तुम यही विनती हमारी है।

भला भगवान भक्तों की सदा ही लाज रखते हैं॥

(३)

गुणोंको देखकर तुममें, तुम्हें रघुवर समझ करके।

प्रजाके सब पुरोहित हम, तुम्हारा ध्यान धरते हैं॥

---

* पारीक-समाज की ओर से जयपुर-महाराज के स्वागत में पढी गई कविता।

(४)

हज़ारों वर्ष तुम जीवो, करो तुम राज भी सुखसे।
हमारी आज रग-रग से वचन ये ही निकलते हैं॥

(५)

हमारे मान हो तुम ही, हमारे प्राण हो तुमही।
सुनो "श्रीमान" हम सारे यही दम आज भरते हैं॥

(६)

करें युवराज को, ईश्वर, सुखी बलवान चिरजीवी।
हमारे इस मनोरथ को उसीसे आज कहते हैं॥

शुभाऽऽशिष*

(लावणी)

(१)

सत्य-सनातन-धर्म-धुरन्धर !

हे श्रीरघुवर ! विश्वाधार !

फूलें-फलें तुम्हारे वंशज

मान–सहित-श्रीराजकुमार ॥टेर॥

घर-घर में आनन्द होरहा,

मोद-बधाई बटती आज ।

सधवाएँ मङ्गल गाती हैं,

साज-साजकर सुन्दर साज ॥

---

* श्रीमहाराज कुमार साहब के जन्म के उपलक्ष्य में गाई गई लावणी ।

फूला नहीं समाता है यह,
पावन-तम-पारीक समाज ।
जिसकी शोभा बढा रहे हैं,
"मान" महीपति आज विराज ॥
हे रघुनन्दन! हे जग-वन्दन !
धन्यवाद हैं तुम्हें अपार "सत्य ॥

(२)

देते है हम शुभाशीष यह,
होय "मान" का मान महान।
सुख से सभी प्रजा को पालें,
बनकर ये नय-ज्ञान-निधान ॥
इसी तरह युवराज हमारे
होकर के अति महिमावान।
चिरजीवी हों, शक्तिवान हों,
विद्या और बुद्धि की खान।
हे श्रीराम! यही है विनती
राज करें ये वर्ष हजार "सत्य ॥

(३)

आओ सब मिल मोद मनायो
गावें सुन्दर-मङ्गल-गान ।

हमें कभी भी नहीं मिलेगा—

शुभ-दिन ऐसे दिवस-समान।

स्वर्ग-सदृश "जयनगर" हो गया

"मान" विष्णु हैं वैभववान।

जिनके अब युवराज होगए

कामदेव-सम-रूप निधान।

इन दोनों की बेल बढ़ाओ,

दशरथनन्दन ! करुणाऽऽगार ' सत्य ॥

पत्र-प्रार्थना *

(१)

तुम्हें जानकी-नाथ ! दयासागर मैं कहकर—
लज्जित ही हूँ नहीं, शोक-मज्जित हूँ रघुवर !
वायु—वेग से वेत्र-विपिनवत् काँपूं थर-थर।
प्रभु की महिमा देख, विनय करना है दुस्तर।
हैं ब्रह्माण्ड-समूह जब, रोम रोम में रम रहा—
तो मैंने क्या सोच कर, तुम्हें दयासागर कहा ?

(२)

आज हुआ है जन्म यहाँ मेरा, जग-पालक !
कहने में असमर्थ अभी का जन्मा बालक—

---

* पारीक-महासभा के मुखपत्र "पारीक" के प्रथमाङ्क के लिए लिखी गई कविता।

होता है, यों आप मुझे भी, भला जान कर—
करो कृपा की दृष्टि—वृष्टि की सृष्टि दुःख-हर!
मेरे मन में भाव जो स्वामिन्! उनको जानिये।
या ध्वन्यात्मक-रुदन से आप उन्हें पहचानिये॥

(३)

हुआ आपको नाथ! साथ ही सबको सुविदित—
मेरा जन्म सुदेश धीन्त्र जो शुचिता-शोभित।
और अतीव पवित्र वंश में जो महिमान्वित।
व्यास, वशिष्ठ महर्षि पराशर बुधवर राजित।
फिर भी मुझको एक वर शीघ्र आप अब दीजिये।
मेरा और सुजाति का भला, भला यों कीजिये॥

(४)

सब ही मेरा करें चाव से लालन-पालन।
वत्सलता का दुग्ध पिलावें सहित मुदित मन।
पुष्टि-तुष्टि के हेतु वारते रहें स्वतन-धन।
मेरी उन्नति लक्ष्य बनावें उनका जीवन।
कविता-लेखाऽभरणगण, जगमगाट करते हुए—
पत्र-गात्र मेरा सजें, भूरिभाव भरते हुए॥

(५)

मेरा यह उद्देश्य, द्विजों की उन्नति करना।
धर्म-तत्त्व को बता-बताकर भ्रम को हरना।

कर कुरीतियें नष्ट, भ्रष्ट कर भेद—भाव को।
फैला सच्चा प्रेम, क्षेम, अति नये चाव को।
पोवूं माला एक में सब पारीक—प्रसून—गन—
स्नेह—सूत अतिपूत में, संचय हित यश-गंध-धन॥

(६)

हों सारे विद्वान—महाधीमान—ज्ञान-रत।
परोपकारी—वीर—धीर—दुख-हारी, संतन।
नहीं क्लेश का लेश रहे अवशेष कहीं पर।
नहीं जमें वे कभी धर्म में नहीं, नहीं पर।
कभी मिलावें हाँ नहीं हाँ, हाँ में, अन्याय में।
करें सहाय उपायहित, दीन-दुखी-जन-हाय में॥

(७)

ये हैं गुरु श्रीराम ! आपके, याद कीजिये।
स्वीय-शरण में इन्हें आज फिर आप लीजिये।
प्राप्ति तुम्हारी हेतु ज्ञान निज ध्यान दीजिये।
भूरि भक्ति का भाव और वरदान दीजिये।
सोच शिष्य-गुरुभाव को हमें आप अपनाइए।
सच्चे करुणासिन्धु अब दीनानाथ ! कहाइए॥
सोरठा—तव प्रताप में शक्ति, हे नारायण ! जो न अब।
करें, तुम्हें तज, भक्ति, किसकी हम पारीक सब।

पुत्र की प्रार्थना*

(छप्पै)

(१)

अति-पावन-पारीक जाति की कांति मनोहर—
भ्रान्ति महान समान हो रही है दिन-दिन भर।
कारण क्या है कहो, अहो! पारीक-पूज्य-वर!
जरा सोचिये आप, पाप लगता न दुःखकर।
इस अवनति के चार हैं, कारण मनमें मानिये।
आगे हैं अंकित किये, सुनिये, गुनिये, जानिये॥

(२)

प्रथम, फूट की बेल अविद्या का जल पाकर—
हृदय-भूमि से फूट-फूट कर, आकर बाहर—

* "पारीक" पत्र रूपी पुत्र की ओर से विनय।

फैलाती अप्रीति-गंध को है निशि-वासर।
ईर्षा-विष-फल-पुष्प, खिलाती, करती पामर।
ऐसी इसको बीच में आग लगा कर डाट दे।
ऐसा जन्मा है न जो जड़ामूल से काट दे॥

(३)

सुनो दूसरा हेतु, अशिक्षा है स्त्रीजन की।
जिसका कारण आप बताते कमी सुधन की।
दोष इसे निज कहे बिना हम नहीं रहेंगे।
इसको स्त्री-अपराध कभी भी नहीं कहेंगे।
अबलाएँ गृहदेवियाँ कहला करके आपकी—
मूर्खा रहती जारहीं, बात महा संताप की॥३॥

(४)

इससे विद्या-दान, आप अब शीघ्र दीजिये।
पाक-शास्त्र-गृह-कार्यकुशल भी इन्हें कीजिये।
जो अपना आर्धाङ्ग निकम्मा बना रहेगा।
तो फिर आधा अंग अकेला क्या कर लेगा?
स्त्रियें होंय अर्धाङ्गिनी, शास्त्र-पुराण-प्रमाण हैं।
फिर हम आधे अंग का क्यों करते अपमान हैं?

(४)

हेतु तीसरा यही जानते हैं जिसको सब।
हैं कुरीतियें बहुत जाति में फैल रहीं अब।

ये रवि-रश्मि-समान, जाति-गौरव धन-जल को।
खींच रही हैं वायु बनाने, चैन न पल को।
अद्भुत-कवि-पति-रूप में, हुआ न जन कोई सबल।
घटज बनेंगी ये सभी स्वाहा करने सकल जल॥

(६)

चौथा कारण किया आप सबने है मिलकर।
दिया पत्र को जन्म नाम "पारीक" श्रेष्ठतर।
पर, अपनाते नहीं, उसे बस यही हेतु है।
हमने बाँधी जिसे, टूटती वही सेतु है।
पत्र-पाज को तोड़ना आप, चाहते आज क्यों?
तोड़ो तो, निर्माण के भला सजे थे साज क्यों?

(७)

जो कोई मा-बाप जन्म देकर बालक को—
ठुकरादें तो, कहें सभी दोषी पालक को।
ठुकराना था उन्हें, जन्म क्यों दिया उसे तब।
उसकी जो थी चाह, करेंगे प्रेम उसे कब।
क्या उसकी वे मृत्यु के, पीछे उसको चाहकर—
पय-धन पावेंगे उसे, हाय-हाय कर आह कर॥

* पैसे की प्रशंसा ?

(मनहर)

(१)

पैसे विन सखा सारे शत्रु वन जायँ शीघ्र।
पैसे विन साँचो नर झूँठो कहलात है॥
पैसे बिन गुणियन को मूरख कहैं सब।
पैसे विन सज्जन भी दुर्जन लखात है॥
पैसे विन मानिन को कोई ना करत मान।
पैसे विन जीवन भी अप्रिय जनात है॥
पैसे बिन कैसे तुम, ऐसे भी न पूछे कोई।
याते आज त्रिभुवन में पैसो ही भात है॥

---

* यह और आगे की रचनाएं १९१८ के पहले की हैं।

(२)

पैसे बिन जाति-जन देखें सब घृणा-युक्त।
पैसे बिन इज़्ज़त को नीच हर लेत है॥
पैसे बिन साथी-सङ्गी देत हैं न साथ कोई।
पैसे बिन नरन को ज्ञान-गुण रेत है॥
पैसे बिन नर-काया सोहती कदाऽपि नहीं।
पैसे बिन जाया भी पति को तज देत है॥
पैसे बिन मानव की करे न क़दर कोई।
यातें सदा पैसे ही सूं करें सब हेत है॥

(३)

पैसे बिन गणिका न आदर मनुज करे।
पैसे बिन कोई ना कारज सिध होत है॥
पैसे बिन दास-दासी स्वामी सम सभी होयँ।
पैसे बिन पाप करि, कीरति को खोत है॥
पैसे बिन नोचन की आजीजी करत सब।
पैसे बिन मानुष को मानस भी रोत है॥
पैसे बिन अँधकार होवत संसार बीच।
यातें तिहुँ लोकन में पैसो जग जोत है॥

(४)

पैसे विन पूज्य-पिता पूत को कपूत कहे।
पैसे विन मात कहे नीचन सूं जायो है
पैसे विन भ्रात कहे वैरी सम भ्रात मेरो।
पैसे विन नार कहे नाथ दुखदायो है॥
पैसे विन बुरी गति नर की जगत होत।
पैसे विन नरन के कौन गुण गायो है॥
ब्रह्मा तिहुँ लोकन की वस्तुन को सार खींच।
कलियुग के वीच इक पैसो बनायो है॥

सुन्दर सूक्तियाँ

(भक्ति रस)

(१)

शिव के सुत हो, गज आनन हो, जन पालय हो, गण नायक हो।
दुख-पाप-अमङ्गल-कानन को जड़ से पल माहिं विनाशक हो॥
मतिहीनन के, जन दीनन के प्रभु आप सदैव सहायक हो।
भय-नाश्य हो करुणामय हो, सब लायक हो, मतिदायक हो॥

(२)

मतिमान हुए बलवान हुए धन-धाम धरा सब ही गहि पायो।
वर रूप लह्यो जिनमें जिनने हिय में मद-काम-गुमान लगायो।
चतुरानन ने मुद में जिनको अति मान दियो रस राग बढ़ायो।
हरि नाम रट्यो नहिं जो जग में जननी को वृथा तन भार दुखायो॥

(३)

निशि-वासर सज्जन सेवत है धन-धाम-धरा सब दान कियो।
घर से अपने सुत के बिछुरे निज-प्राणन को पितु त्याग दियो॥
रण में, वन में जिनने पल भी कबहू नहिं धीरज को तजियो।
जिसने मुखसे हरि नाहिं रट्यो विरथा भुवि में अवतार लियो॥

(४)

जन नीचन के सङ्ग में वसि के सत मारग को न कभी तजरे।
निज देह पै गन्ध सुगन्ध लगा पट-भूषण से न कभी सजरे॥
शुभ-कामन को कुल-कानन की कर पूरण तू न कभी लजरे।
तजरे तजरे भव आनँद को, निशि-वासर तू हरि को भजरे॥

(५)

उनसे वन-वानर श्वान भले जिनने नहिं दीनन दान दियो।
मरजाय वही जननी जिसने हरि-दास जन्यो नहिं धर्म कियो॥
जिनने सब को अपकार कियो नर वे भी सदा पल में मरियो।
जरि जाऊ सो जीभ सदा जगदीश नहीं जिसने तव-नाम लियो॥

(६)

जिनके न समान धनाधिप है अरु जो छवि काम लजावत है।
मति से वहु शास्त्र पुरानन में सब पण्डित शीघ्र हरावत है॥
इहि से बहु-मानुष हैं जग में, अरि को रण बीच भगावत है।
पर पावत है विरलो भुवि में हरि को नहिं जो बिसरावत है।

(७)

दृढ़ता अति धीरज चित्त रखै, भयभीत कभी न बने वन में।
विकराल महा करवालन सो जिनने अरि मार लिए रन में॥
इहि से बलवान सुजान मिलें दृढ़ हैं नित जो अपने पन में।
पर पावत है विरलो जग में भय राखत जो प्रभु को मन में॥

(८)

धन, नाम कमा बहु धाम लिए अपने हित एक कियो बड़ डेरो।
सुख में निज संपति के मद से जन दीनन को घर से वह घेरो॥
हरि क्यों न भजै मद को तज के अरु क्यों समझै जग है यह मेरो
जब मार परै यम की शिर पै तब कौन सहायक है नर तेरो।

(९)

यह पुत्र, कलत्र, पिता जननी, धन-धाम, धरा सब ही नित मेरो
विषयानँद भोगन हेतु बने गणिका, कुलटा घर जाकर चेरो।
नहिं राम भजै जग काम तजै, पर देह सजै, मन को न सजेरो।
जब आनि गहै यमदूत तभी कह कौन सहायक है नर तेरो॥

(१०)

हरि, राम, कहैं रघुवीर कहैं कोई कान्ह गुपाल बखानत है।
मनमोहन औ नन्दलाल कहैं कोई माधव नाम जनावत है।
प्रभु ईशु, मसीह, जिनेन्द्र कहैं कोई निर्गुण ही अनुमानत है।
पर, ईश्वर एक अनेक मतो जोहि भावत है सोहि गावत है॥

(११)

नश जाय प्रभो ! वह जीभ सदा जिसने तव नाम कभी नलियो।
कट जाय प्रभो ! वह शीश अभी जिसने तुमको न कभी नवियो॥
गड़ जाय प्रभो ! वह लोचन भी तव दर्शन जो नहि काल दियो।
जरि जाउ सो जीवन हे जगदीश ! नहीं जिसने तव प्रेम कियो॥

(१२)

वर-बीन विभात सदा कर में वर-वाहन मंजु-मयूर विराजै।
सरसीरुह* सो तनु सुन्दर को शुचि-श्वेत-सुवासनसों नित साजै॥
मुनि,‡ मर्त्य,अमर्त्यनके मुखमें सुनु वाणि! सुवाणि कृपा तव गाजै
अरु नाम ललाम "गिरा"सुनके कवि-कोविद कष्ट अमङ्गल भाजै

(१३)

परनारिन को निज पीठ सदा, अरु दीठ ॥ स्वकीय महारन में।
धन धामन को अति दीनन को, दृढ़ता, गुरुता अपनेपन में॥
सत-सन्तन को मुद मान महा, अरु मार सदा दुठ के तन में।
इन वस्तुन को नित दान करै वह दानि सदा जन, देवन में॥

(१४)

तुम गेह कुटुम्ब विहाय भला जन-हीनन-कानन में मरियो।
धन-धाम, धरा निज छोड सभी अति तेज हुताशन§ में जरियो॥
सब स्वर्ग-मही-सुख को तज के तुम जाकर सागर में परियो।
पर मूरख को निज मीत कभी मत प्रीत बढ़ाय कभी करियो॥

* कमल। ‡ मनुष्य और देवता। ॥ दृष्टि। § अग्नि।

(१५)

रघुनन्दन से न हटा पल भी, विषयासुख में न लगा मन को।
बहु आपति विघ्न गिरैं तुझ पै पर तोड कभी न किए पन को॥
दिन-रात कमा शुभ कामन तैं, मत जोड़ कभी, न लुटा धन को।
निज-स्वारथ के हित भी न कभी कर तू अपकार सुदीनन को॥

(१६)

जहँ सागर नीर अपार रहै तहँ नाव विना तुम जा मरियो।
वरु त्याग स्वसैन्य, सुशस्त्र सभी विन अस्त्र महा-रन में लरियो॥
हिमराशिन वीच गिरी गिरि पै, वरु पीय हलाहल को जरियो।
पर संगति छोड़ कुसंगति में अपने चित को न कभी धरियो॥

(१७)

पर नारिन को तुम मात गिनो पर चित्त पै लोभ कभी न करो।
मत त्याग करो कुल-कान कभी चित नीचन के सँग में न धरो॥
निज शौर्य दिखा अरि को रन में, मन धीर धरो जब दुःख परो।
सब नीतिन का यह सार गिनो पर वैभव देख कभी न जरो।

(१८)

चन्द को निंदित करत जाको मुखारविंद,
मन्द-मन्द कुंजर गति जाकी अनुकूली है।
यौवन—उमंग करै सुन्दरी* अनंग निद्य,
कंज—कलि कोमल नहिं लागै जिहि तूली।

* काम देव की स्त्री रति। २ पक्षी।

लङ्क में अनङ्गपनी सम्पति को सङ्ग लै,
 रामचन्द्र—रतन—कंत हेरि सुधि भूली है।
बाग बगन फैली अलबेली जनक—लली,
 रघुबर-लली हिन नवेली बेल फूली है॥

(१६)

सखि कहै त्रिजटा तू झूठो यह स्वप्न तेरो,
 मोरे शुभ अङ्ग नाहिं फरकहि सुहायेरी।
राघव आनन्द कन्द, छंद-हर नाथ बिना,
 रैन-दिन मोर मन दुसह दुख पायेरी।
वर्षा ऋतु आय गई घोर घोरघटा घुटी,
 रघुबर-गुनन-गान गरुत्मान गायेरी।
देखो घन श्याम भी हैं आगए गगन माहिं,
 सुख के धाम राम घनश्याम नहि आयेरी॥*

---

* ये दोनों कवित्त, १९१८ में जयपुर-कविमण्डल से दी गई, "नवेली बेल फूली है" और "श्याम नहि आयेरी"—इन दो समस्याओं की पूर्ति हैं। शेष सवैये १९१७ की रचना हैं।

कृपा की कोर

(१)

गांधी से महात्मा जहाँ, पंडित मालवीया से,
विदुषी* सरोजनीसी जिसमें सराहिए।
नहरू से न्याय-विज्ञ, लाला से ललित-वक्ता,
कवींद्र रवींद्र जैसे, जिसमें, उमाहिए‡।
दानी, मानी, धीर, वीर, धन-धान्य सभी जहाँ,
जिनसे दुःख-दर्दों को आप शीघ्र दाहिए।
किन्तु इस भारत को करने स्वतंत्र अब,
नंद के किशोर की कृपा की कोर चाहिए॥

---

* ख़ूब पढ़ी-लिखी। ‡ ख़ुशी मनाइए।

(२)

देव-पति, पशु-पति*, प्रजा-पति ‖ , चाहैं जिसे,
पावैं सुगति, जिससे माया-दुर्ग ढाहिए।
रंक को कुवेर करै, दुखिया का दुःख हरै,
भरै जो सुभव्य भाव पावन सदा, हिए ॥
+सुरभि, ×मन्दार को भी जिसकी है चाह सदा,
पाते ही जिसको आप दुःख-दर्द दाहिए।
ऐसी सुमहिमामयी सर्व शक्ति-शाली, मुझे,
नंद के किशोर की कृपा की कोर चाहिए ॥

(३)

गोविंद-गुण गाने को, ज्योति निज जगाने का,
भीम-भय▮ भगाने को, ज्ञान घोर चाहिए।
निज-यश बढ़ाने को, बाहु-युग चढ़ाने को
दुश्मन दुर्ग ढ़ाने को, ज़ोर-शार चाहिए ॥
कमल को खिलाने को, ‡ कोक-युग मिलाने को,
जगत को जिलाने卐 को, भव्य भोर चाहिए।
ताप-त्रय▽ तपाने को, पावन-पद§ पाने को,
नन्द क किशोर की कृपा को कोर चाहिए ॥

---

* शिव। ‖ ब्रह्मा। + कामधेनु। × कल्पवृक्ष। ▮ जन्म-मरण का भयङ्कर भय। ‡ चकवे-चकवियों का जोड़ा। 卐 चेतनता लाने के लिए। ▽ दैहिक और अध्यात्मिक। § निर्वाण-पद, मोक्ष।

"सुकवि"* की समस्या-पूर्ति

(१)

ज्ञानी है वृथा ही और ध्यानी है वृथा ही वह
जिसके भक्ति ईशकी मन में लगी नहीं।
मानी है वृथा ही वह, पर के सम्मान हेतु,
जिसके व्यय-इच्छा है धन में लगी नहीं।
दानी है वृथा ही वह, दीन-दुखियों की दाह,
जिसके हो आह कभी तन में लगी नहीं।
प्राणी है वृथा ही वह, देश के स्वातन्त्र हेतु,
जिसके परिपक्वता प्रण में लगी नहीं।

* कानपुर से निकलने वाला एक कविता का मासिक पत्र।

(२)

रण में प्रस्थान होता उसका है व्यर्थ सदा,
वीरभाव-क्रोध-ज्योति जिसके जगी नहीं।
उसका है दान व्यर्थ, ज्ञान की महान तोप,
लोभ और मोह पर, जिसके दगी नहीं।
मानव का जीवन भी उसका है व्यर्थ सदा,
भीम भव-भीति भला जिसके भगी नहीं।
उसका है जन्म व्यर्थ, देश-प्रेम-होम किया,
लगन एक बार भी जिसके लगी नहीं॥

रसीली रसना

(१)

पावन-उज्ज्वल-वर्ण और जो हैं स्वधर्म में दृढ़ भरपूर—
ऐसे श्रेष्ठ द्विजों* से तेरा रहा सीख लेना तो दूर—
तू उलटा उनसे करती है महा-शत्रु का-सा बरताव;
अरे जीभ ! तू क्यों रखती है अपना ऐसा दुष्ट-स्वभाव ?

(२)

स्वयं रसों का अनुभव करके, विघ्न काम ‖ में उनके डाल—
और उन्हें ही निर्दय卐 कहकर तू बनती है उनका काल।
देख, रसों में डूब-डूब वे कभी न होते उनमें लीन—
किंतु लिप्त तू हो जाती है ×जिह्वा ! क्यों है ऐसी हीन ?

---

* दाँत, ‖ चवण-कार्य, 卐 दाँतों के बीच में खुद आकर, × संस्कृत में जिह्वे।

(३)

वेदों का उच्चारण कर तू कहलाती अज्ञान महान!
और सदा नीरस ही रहती सभी रसों की कर पहचान।
निर्दोषी को दोषी कहती कटु वचनों के मार प्रहार—
झूंठ बोलती, उसे छिपाती द्वेष-कलह का बन आधार!

(४)

एक स्थान पर स्थित होकर भी तू है अस्थिरता की खान!
लक्ष्मी से भी चपल और तू वाणी से वाचाल महान।
मतवाले मन की भी दासी जगत-रसों की प्यासी और—
ऐसी तू है, नरक-बीच भी है न कहीं मिलने को ठौर॥

(५)

तू मेरी इस सही बात को सदा-सर्वदा रखना याद—
रसना! तू रसना न बनेगी बिना लिए उस रस का स्वाद—
जिसका पावन-आदि-धाम है राम-श्याम का नाम-ललाम—
जिसको बड़ी भक्ति से भजते कामवाम* भी आठों याम॥

---

* कामदेव के वैरी महादेव।

मञ्जुल-मालाकार

(१)

पारीकों को महासभा की लता लगाई—
"जयपुर' ने ही भला जाति को प्रथम जगाई।
युग-पल्लव-संयुक्त "मेड़ता" ने की इसको।
सींच रहा जो आज प्रेम-धन-जल से जिसको।
नहीं रुकी जो फूट की अनावृष्टि हे पूज्य-वर!
तो यह अपनी बेल बस मुरझावेगी शीघ्र-तर॥

(२)

इससे रोको आप फूट की अनावृष्टि को।
हृदय-गगन में रचो प्रेम घन-श्रेष्ठ-सृष्टि को।
जिससे मुद की विपुल विन्दुएं गिरें सरासर।
हरी-भरी वे करें इसे दे वृद्धि निरंतर।
सत्य-धर्म-वट-वृक्ष का आश्रय इसको दीजिए।
बेल बढ़े फल-फूलकर अपनी, ऐसा कीजिए॥

(३)

पारीकों की लता, प्रेम-धन-जल को पोकर—
पाकर अक्षय-धर्म-सत्य-वट-आश्रय सुंदर—
दृढ़ता की उर्वरा-भूमि में जमी रहेगी।
निज-प्रताप-यश-श्रेष्ठ-सूर्य की धूप सहेगी।
यों ही यह फूले-फले हरी-भरी होकर घनी।
वट-शाखाओं से लिपट रहे सर्वदा यह तनी॥

(४)

जिससे अरि-आक्षेप-वायु के झोंके चलकर—
करें बेल का नहीं वाल भी बाँका, दिन भर।
आक्रमणों के गिरें धड़ाधड़ गोले इसपर।
पड़ें तड़ातड़ और कष्ट के ओले इसपर।
पर यह टस से मस न हो, सहन करे सुख-दुख सभी।
एक इंच भी ध्येय से यह न भला सरके कभी॥

(५)

लगें संघटन-पुष्प भला फिर इसके सुन्दर।
जिस से फिर उत्पन्न एकता-फल हो सुखकर।
मनभर, फिर पारीकजिसे खावें प्रति पल, पल।
अमर बनादें उन्हें शीघ्र यह पक्य-अमर-फल।
अजर-अमर होकर भला, भला जगत का वे करें।
कुल-कुरीति, दुःखादि को हिल मिलकर क्षण में हरें॥

(६)

आज लता का जन्म-दिवस है महा मनोहर।
मना रहे हैं जिसे हर्ष से हम सब मिल कर।
किन्तु खेद का विषय हुआ है एक उपस्थित।
"मंजुल-*मालाकार" लता का है अति क्रोधित।
अपनाया उसको नहीं, जैसा हमको चाहिए।
इसी लिए वह है कुपित, निज मन को दुःखित किए॥

(७)

है वह मालाकार भला "पारीक" नामका।
लता-सुरक्षा-हेतु बना वह बड़ा कामका।
डेढ़ वर्ष तक खूब लता की, की रखवाली—
और सुरक्षित रखी वेल की डाली-डाली,
किंतु पारितोषिक इसे, मिला अनादर का जभी।
इसने अस्वीकार की लता सुरक्षा को तभी॥

(८)

अतः सज्जनो! आप इसे अब मुदित कीजिए।
और अभय-वरदान मान से इसे दीजिए।
ऐसे रक्षक बिना लता ने आपति भोगी।
मालाकार विना न वेल की रक्षा होगी।
नहीं चाहते आप जो सभा-लता-संहार को।
तो ग्राहक बन, स्वधन दो मंजुल-मालाकार को॥

---

* इसको जाति-सूचक न गिनें किन्तु कार्य-द्योतक।

सुन्दर-स्वागत

(१)

तेरा स्वागत करते हैं हम
आव-आव हे नूतन-वर्ष !
बड़ा हर्ष होता है हमको
देख—देख तेरा उत्कर्ष ॥

(२)

मङ्गलदायक-मोद-विधायक,
जो करता विघ्नों का नाश,
वही विनायक*-विघ्नराज बन,
तू करता बल-बुद्धि-विकाश ॥

---

* रूपक। गणेशजी।

(३)

भरे हुए हैं मोह-लोभ के
सागर के सागर जो आज—
तू उनको पीनेवाला है
बलधारी-कुम्भज[१]-ऋषिराज॥

(४)

जो अपने कर में रखते हैं
दुष्ट-विदारक-परशु ललाम।
शोक-सहस्रबाहु-संहारक
तू है वही परशुधर-राम॥

(५)

क्रोध-द्वेष-दशकन्धर का जो
है पर-वीर-राम बलधाम—
वही महा-अभिराम-राम बन—
तू आया है स्वागत!

(६)

मैं मैन की वंशी सी हो—
सदा सुनाता है जो तान।
वही श्याम तू, यहाँ सुहाने—
आया गीता-ज्ञान निधान।

१ अगस्त्य ऋषि। [illegible]

(७)

सत्य*-युधिष्ठर-बन्धुजनों को
जो देता आनन्द असीम—
वही कष्ट-कीचक-नाशक तू—
महामहिम है भीषण-भीम ॥

(८)

तृप्ति-दान-कर जो हरता है
शुद्ध-सुधा का गर्व बलात—
पारतन्त्र्य-पावक-क्षय-कारक
तू है वही विमल-जल-पात ॥

(९)

कान्त-कामनाओं का कानन,
‡साहस-शौर्य-सदन-भूपाल—
तू उत्साह-शक्ति-बल-निधि है,
दुःख-निराशाओं का काल ॥

---

* सत्य के युद्ध में ठहरने वाले मेरे भारतवासी-भाइयों को। दूसरे धारों पाण्डवों को। ‡ साहस और शूरवीरता रूपी घर का राजा।

(१०)

जो साहित्य-सुधा का *सन्तत—
सिन्धु वहाता सदा सहर्ष—
ऐसे मेरे प्रिय-भारत को
अजर-अमर कर दे नव-वर्ष !

* लक्षण से अनश्वर अतः सन्तत और सदा यहाँ एकार्थ वाची नहीं हैं।

सुधा-स्रोत

(१)

नहीं किया तूने रत्नाकर !
सुधा-रत्न का है निर्माण।
वसुधा *धेनु-पयद-पय ही वह,
है तू उसका वासस्थान॥

(२)

सुधा-जनक होने का इससे
मत कर अब तू गर्व महान।
नागलोक† उसका निधान है
और गगन में सुधा-निधान‡॥

---

* शास्त्र में लिखा है कि देवताओं ने इन्द्र को बछड़ा बनाया और पृथ्वी को गौ। इससे जो दूध निकला, वही अमृत है। दुर्वासा के शाप से इसको समुद्र में फेंक दिया था। समुद्र-मंथन के समय यही अमृत रूप में निकला था। † पाताल में अमृत का होना माना गया है। ‡ चंद्रमा।

(३)

वसुधा पर तो अहो ! मिलेंगे
तुझको कई सुधा के स्रोत।
जिनमें तेरी सुधा डूबकर
होगी मधुता ओत-प्रोत॥

(४)

कामधेनु-सम श्याम-धेनु-पय
है उसका उत्तम उपमान।
गंगा का मौक्तिक-पय भी तो
होता उससे मधुर महान॥

(५)

विप्र वदन से वह बहता है
होकर वेद-ध्वनि का रूप।
शास्त्र-पुराणादिक ग्रन्थों में
झरता उसका स्रोत अनूप॥

(६)

श्रीरामायण, श्रीगीता भी
है उसका आदिम-आधार।
भारत* और भागवत में भी
भरा हुआ उसका भाण्डार॥

---

* महाभारत।

(७)

विद्वानों की वाणी में भी
करता है वह सदा निवास।
शिशुओं के अनमोल-बोल में
मिलता उसका महा-मिठास॥

(८)

उसका निर्भर भरा-भराकर
बढ़ता वाङ्मय* वाद-विवाद।
उसकी सरिता बहा-बहाकर
चढ़ता है संगीत-निनाद॥

(९)

प्रेमपात्र की सरल दृष्टि में
है उसकी निधि एक विचित्र।
प्रेम-प्रार्थनाएँ भी उसका
करती हैं सहवास पवित्र॥

(१०)

काम-कामिनी सी ललना के
हैं जो अधर मृदुलतागार।
उमड़ा ही पडता है उनमें
उसका पावन-पारावार॥

* शास्त्र।

(२६)

पत्र-पत्रिकाओं में सुन्दर
सुधामयी जो "सुधा" पुनीत—
वह साहित्य-सुधा का सौख्यद
सिंधु बहाती, घटज-अपीत* ॥

(२८)

इसी तरह से हे रत्नाकर !
धरा हमारी यह द्युति-धाम—
रम्य-रत्न पैदा करती है
तेरे से भी अधिक ललाम.
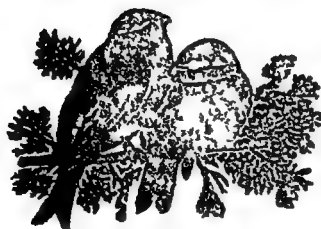
* घट में उत्पन्न होने वाले अगस्त्य से न पिया गया अर्थात् मौलिक, अछूत।

मदन-दहन

(१)

स्वर्ग, भूमि, पाताल सभी पर करता शासन।
रहता है सर्वत्र उच्च ही जिसका आसन।
ऐसा है यह स्वार्थ, बली विस्तृत-यश वाला।
नहीं किसी ने किया कभी इसका मुँह काला।
सुर, नर, मुनि, गंधर्व सब इसके वश में हो रहे।
मदिरा पीकर स्वार्थ की सुख-निद्रा में सो रहे॥

(२)

देव-लोक-पति-इन्द्र, सकल देवों का नायक।
जो है जग में काम सभी कुछ करने लायक।
वह भी जकड़ा स्वार्थ-जाल में आकर ऐसे—
फंदे में हो फँसा ग्राह के गज-वर जैसे।
सदभ्रान्त होकर भला बिलकुल अंधा बन गया।
शिव-समाधि के भंग हित जाल रचा उसने नया॥

(३)

निज सिंहासन निकट मदन को बैठा करके।
कर उसकी तारीफ भाव बहु मन में भर के।
बोला सुर-पति उसे "महीपति-मनसिज ! सुनिए।
महामहिम हो आप जाल अब ऐसा बुनिए।
जिससे अपना कार्य हो शीघ्रतया ही सिद्ध अब।
शिव-समाधि भी नष्ट हो, देव सुखी हों और सब॥"

(४)

सुन कर *मघवा-गिरा निरा वह हुआ प्रफुल्लित।
कौन स्वयश सुन भला नहीं होता है हर्षित ?
"जो आज्ञा" कह, गया मदन फिर रदन दबाकर।
मनमें कहता हुआ "अहो ! यह कार्य कठिन-तर।"
अपने घर पर पहुँच कर लेकर साथ वसंत को—
चला गया कैलास पर पाने वह निज अंत को॥

(५)

‖ मधु ने अपना काम वहीं से शुरू कर दिया।
शीतल, मंद, सुगंध पवन को साथ कर लिया।
लगा खिलाने सुमन मनोहर, महा—सुगंधित।
अलिगण का त्योहार स्वतः फिर हुआ उपस्थित।

---

* इन्द्र की वाणी को। ‖ वसन्त ऋतु।

मुनिजन भी मोहित हुए देख हिमालय-कांति को।
जो पैदा करने लगी सुर-मन में भी भ्रांति को॥

(६)

ललित-कलित-कैलास होगया अतिही सुंदर।
रम्य हुआ रमणीय और भी रजत-कांति-धर।
पहुँचा जिसपर मदन साथ रति-मधुको ले कर।
जो फिर हुए अदृश्य, देख गिरिजा, नन्दी, हर।
नंदी सैनिक था निडर, गिरिजा जोड़े हाथ थी।
समाधिस्थ-शुचि शंभु के तेजोमय-द्युति साथ थी॥

(७)

*बाघम्बर पर महा-मञ्जु-पद्मासनधारी—
बैठे थे तप-पुञ्ज, ध्यान में मग्न पुरारी।
थी विभूति के संग अंग पर भूति मनोहर।
नाग-चर्म थी, रुंड-माल थी सहित नाग-वर।
नेत्र तीसरा बंद था अर्ध-चंद्र था भाल पर।
थी गंगा-धारा रुचिर जटाजूट के जाल पर॥

(८)

कर-कमलों को जोड, भक्ति-शुचि-प्रीति-मूर्ति बन—
शिव-संमुख थी उमा उपस्थित मुनि-मन-मोहन।

---

* बाघ का चमड़ा। यह व्याघ्राऽम्बर का अपभ्रंश है।

जिसका देख स्वरूप होगई थी रति लज्जित—
रम्य-रमा भी और, कोप-लोहितता*-मज्जित।
वह सेवा थी कर रही दबी हुई छवि-भार से।
पर शंकर अनभिज्ञ थे इस सारे व्यापार से॥

(६)

तीक्ष्ण-त्रिशूल-समीप, अलौकिक प्रहरी बनकर—
खड़ा हुआ था बली सिंह सम नंदी सुंदर।
नवल-धवल-हिमराशि वहाँ थी रजत-अचलसम।
जिस पर तरु-वर ललित, लता थीं महामनोरम।
दर्शनीय गिरि-दृश्य यह शुचि-सौन्दर्य-निधान था।
बस केवल कैलास ही उस कैलास-समान था॥

(१०)

की गिरिजा को प्रथम काम ने काम-प्रपीड़ित।
फिर छोड़े निजबाण शंभु पर शीघ्र अपरिमित!
किन्तु समाधि न नष्ट हुई ध्यानी शंकर की।
मुख-शोभा उड़गई धनुर्धर-वर उस स्मर की।
आया उसको क्रोध अति चढ़ा लक्ष्य-हित वृक्ष पर।
तान कान तक डोरको, लगा फेंकने तीक्ष्ण-शर॥

*लक्ष्मी का देह-वर्ण लाल है।

(११)

शिव-मानस में भ्रांति लगी फिर पैदा होने।
चंचल होकर चित्त लगा धीरज को खोने।
खुला क्रोध से नेत्र तीसरा महा-भयंकर।
जिसकी ज्वाला निकलपड़ी फिर मदन-वदन पर।
इसी भाव को *चित्र में स्पष्टतया अंकित किया।
जिसे देख कर मुदित अति, होता है सहृदय-हिया॥

* वर्त्तमान जयपुराधीश से परम सम्मानित "दी राजपूताना फोटो आर्ट स्टूडियो जयपुर" का बनाया हुआ "मदन-दहन" नामक चित्र पर यह कविता लिखी गई थी जो "महारथी" मासिक-पत्र में इसी चित्र के साथ छपी थी।

चारु-चयन*

(१)

लोक-त्रय के नाथ विष्णु को मैं प्रणाम शिर से करके—
राज-नीति-समुदाय कहूँगा नाना शास्त्रों से हर के॥

(२)

यथायोग्य पढ़ नीति-शास्त्र को, जान स्वकार्य, अकार्य यदा—
जो कर्त्तव्य विज्ञ है, उसको उत्तम नर बुध कहें तदा॥

(३)

लोक-हितेच्छा मैं धारण कर शीघ्र कहूँगा इसे अभी।
जिसके ज्ञान-मात्र से पाते पूर्ण ज्ञान को पुरुष सभी॥

(४)

मूढ शिष्य को उपदेशों से, कुटिला-स्त्री को सेने से—
पण्डित भी पीड़ित होते हैं साथ दुखी का देने से॥

---

* चाणक्य-नीति के प्रारम्भिक श्लोकों का अनुवाद। रचना १९१७ की है।

(५)

दुष्टा-दारा, मूढ-मित्र, जो उत्तर-दाता सेवक है।
और सर्प-युत-गेह-वास ये मृत्यु सभी, संदेह न है॥

(६)

विपति हेतु ही धन को रक्खे, करै नारि-रक्षा धन से—
और स्वरक्षा करै सर्वदा वित्त तथा नारी-जन से॥

(७)

धन की रक्षा करै विपत हित, धनियों को है विपत कहाँ?
कभी चञ्चला चली गई? धन संचित का भी नाश यहाँ॥

(८)

नही जहाँ पर मान, जीविका नहीं बन्धु भी जहाँ कहीं—
और जहाँ न पठन विद्या का, वास वहाँ पर करै नहीं॥

(९)

नदी, वेद-पाठी, ऋण-दाता, भूप और वर-वैद्य जहाँ—
नहीं वास करने ये पाँचों, बसें एक दिन नहीं वहाँ॥

(१०)

वृत्ति, दान, पटुता, भय लज्जा, मित्र! पाँच ये नहीं जहाँ—
मेल जोल कुछ भी न करै बस, मनुजों से मतिमान वहाँ॥

(११)

सेवक को कामों में, दुख में बन्धु-वर्ग को बुध जानै—
विपत बीच मित्रों को, स्त्री को विभव-नाश पर पहचानै॥

कवि—कल्पना

(१)

साधारण-शान-वाली-महिमा के मान को जो—
सातों आसमानों से भी ऊपर चढ़ाते हैं।
मुख को बनाते चन्द्र, चन्द्र को कलङ्क-हीन,
हीनता को और जो न कहीं भी छिपाते हैं।
पंक से न पैदा हुआ पंकज बनाते उसे—
और जो सुगंध भी उस में महकाते हैं।
ऐसे कवि लोग, होकर झूठों के बादशाह—
मानव-समाज बीच दण्ड क्यों न पाते हैं?

(२)

बालों को शैवाल*-जाल, भौंरों की भीड़ कहते,
नागिन भी काली उन्हें कभी बतलाते हैं।
कभी कभी अन्धकार-भार का बहाना बना—
नीलम की नीलिमा उनमें चमकाते हैं।

* जल पर रहने वाली हरी सिंवाल।

पूनी का साँप करते, बात का बतंगड़ जो—
कभी-कभी तिल का भी ताड़ जो बनाते हैं।
ऐसे कवियों के लिए कोई भी कानून नहीं
धोखे में डाल के जो सब को बहकाते हैं॥

(३)

लोचनों को कञ्ज-मञ्जु-खञ्जन-समान कहें—
मीन-की सी उन्हें चाल चंचल चलाते हैं।
तीर, तलवार और कटीली कटारी बना—
कलेजों के टूक-टूक और करवाते हैं।
ललना की नासिका से तिल* के प्रसून का, ये—
कीर कमनीय का भी नाक कटवाते हैं
ध्यान में न आता भला, अंट-शंट बात बना—
कैसे ये ज्ञान-हीन, पंडित कहलाते हैं?

(४)

नारियों के होठों की तुलना से क्रुद्ध करके—
बिम्ब के भी मानों ये होठ फड़कवाते हैं।
दाँतों को दिखा करके मोतियों के और भला—
दाड़िम के दाँत भी ये खट्टे करवाते हैं।

* तिलों के फूल की उपमा भी नाक को देते हैं।

कुचों* को कैलास कहें, कदली से जंघा-युग्म,
पद्म से पदों को, मोती नखों को बनाते हैं।
ऐसे महा-मूढ़-कवि ज़रा भी लजाते नहीं,
किसी को घटाते और किसी को बढ़ाते हैं॥

(५)

"॥ लेडी-महारानी" को भी दिवानी गिनाते जो हैं,
मैडम से मेम और मेमडी बनाते हैं।
शर्म की सफ़ेद ख़ाक, पातिव्रत-धर्म-भस्म,
पौडर के नाम दो ये कोष में दिखाते हैं।
सुन्दर पौशाक को भी भूतनी का स्वाँग कहें
"डासन+" के जूतों को पगोट्टे बतलाते हैं।
छोटे "हैंड-बेग§" को ये पापों की पिटारी कहें,
और क्या बखानते जो आगे दरसाते हैं॥

(६)

नौकदार पैरों को ये हरिणी की टाँगें कहें,
छोटे परंड को सी लकड़ी बतलाते हैं—

---

* स्त्री (नायिका) भले ही दबकर मर जाय लेकिन उसके कुचों को कैलाश बनाए बिना कवि लोग नहीं रहते। ॥ मेमों वा लेडियों का नख-शिख-वर्णन, यहाँ से प्रारम्भ होता है। +एक जूते बनानेवाले प्रसिद्ध विलायती कारख़ाने का नाम। § हाथ में रखने का चमड़े का छोटा सा थैला।

मध्य-भाग है ही नहीं ऐसा बखान करते—
मैडम के अङ्ग को यों अधूरा दिखाते हैं।
विना मूछ वाले की, ये वतलाके व्याही हुई,
कुचों के विना ही उसे कामिनी बनाते हैं।
मोटी मेंडकी की सी उसको चलवा के चाल—
सुनिए उसे भी जो ये आगे फरमाते हैं॥

(७)

बालों की भालर को चारों ओर देखके ये—
मुर्गी-समान—कण्ठ उसका वतलाते हैं।
रंगे हुए होठों को ये कहते हैं लाल मिर्च,
बय्ये के घोंसले सम केशों को गिनाते हैं।
ऐसे कवि लोगों पर—बड़े बदमाशों पर—
दावा मान-हानि का न कोई कर पाते हैं।
जेल में ढकेलती न इन्हें सरकार भी तो—
पोल खोल जिस की भद्द ये यों उड़ाते हैं

(८)

झूठ के समान पाप दुनियाँ में और नहीं,
वाणी, मन, कर्म से ये जिस को कमाते हैं।
कैसे उद्धार होगा इनका परलोक बीच
काल* जहाँ वाल की भी खाल खिंचवाते हैं।

* यमराज।

सम्भव है, दूरदर्शी होकर ये कवि लोग—
बात भगवान को भी यही दरसाते हैं—
तारने उबारने की आपकी परीक्षा लेने—
वाणो के पवित्र-पापी दौड़े चले आते हैं॥

बूझ-बुझक्कड़

(१)

एक अनोखे मूर्खराज जो मूढ़पुरी में रहते थे।
सारे लोग वहाँ के उनको बूझ-बुझक्कड़ कहते थे।
सब बातों में धाक जमाकर अपनी टाँग अड़ा देना—
यही काम था उनका सबको उलटा पाठ पढ़ा देना॥

(२)

उनके वचन गिने जाते थे चतुरानन-ब्रह्मा का लेख।
वे उपाय बतलाया करते ठीक-ठीक थे मौक़ा देख।
सब कामों में सब बातों में उनको पूछा जाता था।
दुनियाँ में जो होता है वह सब कुछ उनको आता था॥

(३)

एक खिलाड़ी चञ्चल लड़का, पुरी-पाठशाला को छोड़—
ख़ब खेलने लगा मार्ग में पढ़ने से अपना मन मोड़।
लटका हुआ पेड़ पर उसको दिया दिखाई एक पतंग,
जिसे शीघ्र लाने की उसके अङ्ग-अङ्ग में उठी उमङ्ग॥

(४)

चढ़ना, लाना दोनों बातें कभी न उसके बलकी थीं,
क्योंकि पतङ्ग वहाँ उलझा था जहाँ टहनियाँ हलकी थीं।
फिर भी हिम्मत बहुत बाँध कर, अपनी चीज़ें नीचे छोड़—
पहुँच गया वह उस पतङ्ग तक शाखाओं को तोड़-मरोड़।

(५)

एक हाथ में टहनी पकड़े उसने उसको लिया उतार—
जल्दी से नीचे आने को और हो गया वह तैयार,
किन्तु नहीं वह आसकता था रुके हुए थे उसके हाथ—
और चाहता था न छोड़ना उस पतङ्ग का भी वह साथ॥

(६)

बड़ी देर तक रो-धोकर वह ऐसे कहने लगा *निदान—
"कोई आकर मुझे बचाओ जाती है अब मेरी जान।"
उसका हल्ला-गुल्ला सुनकर वहाँ बहुत से नर-नारी—
आकर जमा होगए अपनी बुद्धि लडाने को सारी॥

* अन्त में। आख़िरकार।

(७)

कहा-एकने-"अब यह लड़का क्यों पतङ्ग को छोड़ेगा?
तुच्छ बात के लिए इस तरह क्यों अपना प्रण तोड़ेगा!
चलो पेड़ को काट गिरावें जिससे इसका हो उद्धार,
क्योंकि इसे लाने को कोई नहीं हो रहा है तैयार"॥

(८)

कहा—दूसरे ने उत्तर में—"पेड़ काटना पाप महान।
इसकी जान बचाने ऊंचा क्यों न बनावें एक मकान"।
कहा तीसरे ने "जो देदे मुझको आज्ञा अभी समाज—
तो मैं यहीं सरोवर खोदूं और बचालूँ इसको आज"॥

(९)

लेकर बूझ-बुझक्कड़ जी को, इतने में उसके मा-बाप—
वहाँ आगए रोते-धोते बकते हुए अनाप-शनाप।
कहा उन्होंने बड़े ज़ोर से—"सुनो भाइयो! मेरी बात—
मेरा नाम बुझक्कड़ है मैं कर सकता हूँ दिन को रात॥

(१०)

"इस लड़के पर रस्सा फेंके इसका बाप यहाँ आकर,
उसका छोर● इसे पकड़ादे करसे टहनी छुड़वाकर।
फिर जल्दी से सिरा दूसरा खींचे वह झटका देकर—
ऐसा करने से यह लड़का आजावेगा पृथ्वी पर॥

● ओड़, सिरा, किनारा, रस्से का अन्तिम भाग।

(११)

आज्ञा के पालन करते ही पल में नीचे वह आया—
और होगई यों गिरने से मुर्दा सो उसकी काया।
उसका बाप लगा कुछ कहने उसे गोद में जब लेकर—
बूझ-बुझक्कडजी तब पेमं चले गए उत्तर देकर॥

(१२)

"बड़े पेड पर कैसे रहता, क्या खाता यह बेचारा—
यही सोच कर दिखलाया है दयाभाव हमने सारा।
हमको तो करना था केवल पृथ्वी को इसका आधार—
इसके मरने-जीने के हम, नहीं बने थे ठेकेदार॥

(१३)

"रस्से के बल से हाथी भी वशीभूत हो जाता है,
रस्सं के बल से नट भी तो खाता और कमाता है।
कई डूबने वालों को भी, हमने पनघट पर जाकर—
कूओं में से खींच लिया है यों ही रस्सी पकडा कर"॥

चतुर-चित्रकार

(१)

एक अनुभवी था जयपुर में चित्रकार गुणवान महान।
फोटो और चित्रकारी भी—दोनों का था उसको ज्ञान।
उसका एक पड़ोसी जिसका तन कुरूप था, मन कन्जूस—
रायबहादुर बन बैठा था अँग्रेज़ों को देकर *घूस, ॥

(२)

ख़ुशी मनाने चित्रकार को उसने घर पर बुलवाया।
और चित्र भी अपना उससे बड़ी शान से खिंचवाया।
आर्डर पाकर चित्रकार वह ख़ूब सावधानी के साथ—
और दिखाने इस दुनियांको अपने भला पुराने हाथ—

---

* रिश्वत।

(३)

एक बड़ो तसवोर वना कर गया धनी को दिखलाने—
ठीक मूल्य लेने पर उससे और इनाम ख़ूब पाने।
किन्तु दिया कंजूस धनी ने सूखा सूखा यही जवाब—
"मैं ख़ुद ही हूँ घरमें, क्यों फिर रक्खूं मेरा चित्र जनाव॥"

(४)

कौन ख़रीदेगा अब इसको मुझको है इसका सन्ताप—
क्योंकि और नर पा न सकेंगे मेरी सूरत* का सा आप।"
कहने लगा उसे यह सुनकर चित्रकार वह महा समर्थ—
"मत ख़रीदिए आप परिश्रम कभी न होगा मेरा व्यर्थ॥

(५)

"पूँछ लगाकर, मैं अब इसको वनमानुषका करके चित्र—
"राम†-निवास" बाग़ में जाता, बिकते प्राणी जहाँ विचित्र।
क्या है और मनोहर इससे, तीनों एक हुए जिसमें—
रायबहादुर, वनमानुष भी और मूढ़-मानुष इसमें॥"

---

* उसने गर्व के साथ कहा कि मेरा सा सुन्दर मुख और कोई के नहीं है। † महाराजाधिराज श्रीरामसिंहजी का बनाया हुआ जयपुर का एक पब्लिक पार्क, बड़ा बाग़।

अमीर-आदमी

(१)

एक बड़े कंजूस धनी के घर पर आकर एक फ़कीर—
कहने लगा-"दिला कुछ हमको अरे! बाबा! बड़े अमीर!"
कहा धनी ने, बड़े जोर से बार-बार सुन वही सवाल—
"क्यों ऐसे बक-बक करता है, दूर यहाँ से हट कंगाल!

(२)

नहीं आदमी कोई घर में दूँ मैं तुझको क्या *असबाब?"
इस उत्तर का उस फ़कीर ने ऐसे उस को दिया जवाब—
"मोटे-बाबा! मुझ ग़रीबको दो ही रोटी दिलवाओ—
ज़रा देर के लिये आप ही आज आदमी बन जाओ॥"

---

* चीज़, सामान।

दीनों का दाता

(१)

मिरज़ापुर के तेजरामजी, सेठ बहुत ही नामी थे।
नीतिमान, गुणवान, महाजन, अतुलित धन के स्वामी थे—
कृपण नहीं थे, वे उदार थे, निशि दिन दान दिया करते।
अबला-बालक-दीन-जनों की शुभ आशीष लिया करते॥

(२)

पर कुपात्र को एक टका भी वे देते थे कभी नहीं।
इसका ध्यान सदा रखते थे उनकी झख थी एक यही—
अन्धों पर ही अधिक कृपा थी रहती उनकी बनी हुई।
संड-मुसंड दुष्ट मँगतों से रहती उनकी तनी हुई

(३)

एक समय अन्धों को वे जब, करते थे धन-दान जहाँ।
मोटा-ताजा एक भिखारी भी आ पहुँचा तुरत वहाँ—
तेजराम ने उसे देख कर, कहा—"सुनोजी, मोटेराम।
घर जाकर तुम करो मँजूरी, यहाँ नहीं तेरा कुछ काम॥

(४)

"अन्धों को केवल देता हूँ, मैं दूँगा कुछ तुम्हे नहीं।
मेरे कर से दान-मान क्या है कुपात्र को मिला कहीं?"
बहुत विनय की उस याचक ने किन्तु न उसको मिली छदाम।
होकर क्रुद्ध कहा यों उसने, "सुन ले मेरी तेजाराम!

(५)

"अरे मूढ़ तूने क्या समझा, जो कहता है नहीं-नहीं।
तू देता अन्धों को अन्धे! क्या मैं अन्धा साधु नहीं—
देख हिये का मैं अन्धा हूँ, मेरे लोचन खुले कहाँ।
तज दरबार ईश का जो मैं माँगूं तुझसे खड़ा यहाँ॥"

(६)

"सुन कर उसकी बात सेठ ने कहा—"सत्य तुम कहते हो।
अच्छा आओ यहाँ, वहाँ क्यों खड़े-खड़े दुख सहते हो।"
कहा साधु ने—"क्या बकता है, तुझसे लूँगा टका नहीं।
जो ईश्वर सबका दाता है, मेरा भी है एक वही॥

जैसा को तैसा §

(१)

एक समय उज्जैन पुरी में, भोज भूप करता था राज।
वह था वहुत नीति में नागर, था राजाओं का सिरताज़।
एक धर्मशाला वनवाई, उसने नगरी के बाहर।
पथिक लोग जिसमें रहते थे, दूर-दूर से आ-आकर॥

(२)

इसी धर्मशाला का रक्षक, धन-लोभी-बनिया था एक।
इसमें टिकनेवालों से जो, रुपया लेता करके टेक—
जो दस बजे रात के पीछे, उसमें रहने आता था—
बिना दिये रुपया वह भीतर, कभी न धँसने पाता था॥

§ ये रचनाएं बहुत पहले की हैं जो "बाल-सखा" में छपी है।

(३)

अर्द्धनिशा के बीच एक दिन, पथिक एक पण्डित आया।
जिसने कहा "कहीं भी मैंने, आज नहीं आश्रय पाया।"
बोला रक्षक तब भीतर से, कैसे खोलूँ मैं आकर?
कुञ्जी मेरे पास नहीं है, ढूंढूं कहाँ कहाँ जाकर॥

(४)

जो तुम एक निकालो रुपया, तो लाऊँ कुञ्जी मैं ढूँढ़।
देखो रात हुई है ज़्यादा, क्योंकर बनूँ व्यर्थ में मूढ़।
अपनी हालत समझ, पथिक ने, रुपया देना ठीक किया।
पाकर जिसे तुरत वनिए ने, खिड़की को बस खोल दिया॥

(५)

भीतर जाकर तब वह बोला-"भाई ला दो अब सन्दूक़।
बाहर रक्खो वहाँ जहाँ पर, पड़ी हुई मेरी बन्दूक़।"
झूंठ-मूंठ यह कह कर उसने, उसको बाहर भेज दिया।
और आपने फिर अन्दर से, खिड़की को कर बन्द लिया॥

(६)

देख हाल यह रक्षक बोला—"अरे दुष्ट! क्या करता है।"
मैं रक्षक हूँ नहीं जानता, और नहीं तू डरता है।"
हँसकर भीतर से वह बोला—"कैसे खोलूं द्वार अभी।
जब मैं इसके भीतर आया, खोदी कुञ्जी यहाँ तभी॥

(७)

"बाहर खड़े मौज से रहिए, भाई अब मैं सोऊँगा।
जब तुम इसकी कुञ्जो दोगे, तभी इसे मैं खोलूँगा।"
डाँट बताता रहा खड़ा वह, नहीं पथिक ने पट खोला।
बकता रहा देर तक बाहर, किन्तु नहीं यह कुछ बोला॥

(८)

जब उसने वह रुपया फेरा, तब इसने खिड़की खोली।
कहा पथिक ने तब हँसकर यह, "उचित नहीं ऐसी बोली।
कभी किसी को तङ्ग न करना, महाराज ! यह बुरा रिवाज।
सबकी ख़ातिर ही तुम करना, यही एक है बढ़िया काज॥"

साधु की साधुता

(१)

पतित-पावनी गङ्गाजी के तट पर वास किया करते।
योग-नियम-व्रत-पूजा से मन का मैल सदा हरते।
ऐसे एक ब्रह्मचारीजी, जिनका गुण सब गाते थे—
रहते रामनगर में सुख से, अपना समय बिताते थे॥

(२)

एक दिवस वे गङ्गाजी में, करते थे जब स्नान खड़े।
बहते हुए एक बिच्छूजी उनको जल में देख पड़े।
लख कर उसकी दशा, हृदय में उनके उपजी दया महान।
लगे सोचने इस प्रकार वे, दुःखित होकर, धर के ध्यान॥

(३)

किसी जीव का किसी भाँति भी जिससे नहीं हुआ उपकार।
तो बस समझो उस मनुष्य को, पूरा नर-पिशाच-अवतार।
आख़िर यह भी एक जीव है, अति निर्बल होकर भी दुष्ट—
डंक मार देता ज़हरीला, जब हो जाता है यह रुष्ट॥

(४)

यह निरुपाय तेज धारा के जल में डूबा जाता है।
इसे बचाना हमें चाहिए, शास्त्र यही बतलाता है॥
कर निश्चय वे लगे तैरने, जा पहुँचे बिच्छू के पास।
फेंक अँगौछा फाँसा उसको, लख उसके जीवन का नाश॥

(५)

बाहर खींच उसे ले आए, जब रख दिया किनारे पर।
कपड़े से तब लगे छुड़ाने, सुखी चित्त में वे होकर।
इसी बीच में उसने काटा, स्वामी को मौका पाकर
हाय! हाय! कर लगे चीख़ने वे आँखों में आँसू भर॥

(६)

लोगों ने तब कहा हँसी कर, कहिए "करुणानिधि! मुनिराज!
जैसा किया मिला फल वैसा, बैठे क्यों रोते हो आज?
अच्छा हुआ चेत जाओगे, ठीक राह पर आओगे।
दुष्ट जन्तुओं की रक्षा का, धर्म नहीं सिखलाओगे॥

(७)

बोले उन्हें ब्रह्मचारीजी, "भाई तुम सच कहते हो,
पर मेरा स्वभाव ही ऐसा, व्यर्थ दोष तुम देते हो।
दुष्ट भले ही करे दुष्टता, जो मन आवे वही करे।
मेरा केवल यही धर्म है, प्रेम सहित बस मदद करे॥"

पहेली-पुञ्ज

(१)

काला है, पर सर्प नहीं, डसता है पर दाँत नही।
बल देता पर देव नहीं, मर्द कहाता आँत नही॥

(२)

तेज हवा से उड नहीं हैं पर उसके पर।
हाथी से भी बहुत अधिक वह बलके अन्दर॥
लगा रात-दिन दौड, नहीं थकती वह दमभर
जा सकती है सभी, कहीं वह भीतर-बाहर॥
घोड़े पर बैठे बिना, वह न चल सके हो निडर।
है अदृश्य तोभी डरें, उससे सारे नारि—नर॥

---

१ अफ़ीम। २ बिजली। इनमें अधिकांश पहेलियाँ सर्वथा मौलिक हैं।

(३)

जिसका शीश काटदें तो प्राण नहीं निकता। धड़ काट देने से भी वह कम ही रहता है और पैर काटने से भी उसकी लम्बाई नहीं घटती तो बतलाओ वह क्या है?

(४)

देखें तो दीखे नहीं, सब से खाई जावे।
रहे हर कहीं, पर नहीं कभी पकड़ में आवे॥

(५)

प्रश्नः—क्यों न आप ठंडा जल पीते चुप क्यों हो, क्यों करते लाज?
उत्तरः—टूट गया मम तनु पर देखो नेत्र त्रिलोचन का है आज॥

(६)

प्रश्नः—आई क्यों न आपको विद्या रहे मूर्ख ही कैसे आप?
उत्तरः—नहीं लगाया, मैंने करके, विधि-मुख-ग्रह-नक्षत्र-मिलाप॥

(७)

सासः—जो जीते तो साजती, तू विधवा के साज।
बहूः—अहा! पी मरे इसलिये, हूँ मैं सधवा आज॥

(८)

नर करता तप कभी महान, नारी करती रहती स्नान।
मंगलदायक अति अनमोल, साथ-साथ जो बोलें बोल॥

---

३ कदम। ४ हवा। ५ उपनयन-जनेऊ। ६ ४० सेर का एक मन नहीं लगाया। ७ मृत सर्प। ८ नकारे की जोड़ी।

(९)

चार पगों से चलै, एक पग रखता भीतर।
आँख पाँच हैं मुख्य, एक धड़ उसके सुन्दर॥
बोल सुनाता कई, मुखों से बहुत ज़ोर कर।
रङ्ग-रङ्ग के रूप बदलता, बड़े मनोहर॥
दुख देता, सुख दे कभी, दौड़ लगाता भूमि पर।
चले साँस लेता हुआ, ऐसा है क्या जानवर?

(१०)

जल में तैर सके, न डूबता, किंतु नहीं है वह जल-चर।
नभ में उड़ता, थल पर रहता पर न उसे कहते थल-चर॥
सदा हवा ही खाकर जीता किन्तु नहीं वह योगी-वर।
पृथ्वी भी वह नहीं कहता महा क्षमा का होकर घर॥

(११)

आग खाय, पर नहीं चकोर पीहूँ करै नहीं वह मोर।
गज वह नहीं, मचाता शोर, सिंह नहीं, पर रखता ज़ोर॥

(१२)

दस दिन चलै, एक दिन खावै देवै ज्ञान, और मन भावै॥

(१३)

सब से बड़ा शस्त्र अभिराम, शीश कटा कर देता काम।

---

९ मोटर। १० फुटबाल। ११ रेलवे एञ्जिन। १२ फाउन्टेन पेन। १३ कलम।

(१४)

रङ्ग बदलती भला अनेक पर निज में गुण रखती एक।
अङ्गरेज़ों को डरपाती है वृक्षों के ऊपर पाती है॥

(१५)

नारी है वह, गाकर गान रखती है सब का संमान।

(१६)

अर्थ सोचिए देकर ध्यान, दो जीवों के बाइस कान॥

(१७)

पवन समुद्र बीच तिरता है पर उसको कहते न विहंग।
रंग-रग का वह होता है तरह-तरह के रखता अङ्ग॥
चर्म और दो हड्डी तनु में पर वह मांस-रुधिर से हीन।
प्रेस बन्द होंगे, न मिलेगी, जब उसको तनु-चर्म-सुचीन॥

(१८)

जगत् में किन जीवों के सिर पर पैर होते हैं?

(१९)

लघु जीवों का वह मल होता, किन्तु रक्त के मल को धोता।
निर्माता मरते खा गोता, अंगूरों का मद वह खोता॥

---

१४ लाल मिर्च। १५ चक्की। १६ रावण-मन्दोदरी। १७ पतग (गुड्डी) १८ परन्द, जिसके (पर) पंख है। १९ शहद।

(२०)

जो जननी-जननी-जनक, उसका धाम ललाम,
भय से वश जिनके हुआ, उनको करो प्रणाम॥

(२१)

अचल-निवासी बन, करे अचल भुजंग बलात।
अचलराज-पति-शिर चढ़े, अचल तदपि दिन-रात॥

(२२)

द्युतिमय होकर, द्युति-रहित, कामी, कुटिल, कुरूप।
तनु-धर-छबि-मुख का तदपि, वह उपमान अनूप॥

(२३)

सकल-जगत के जनक का, है वह सुत सुविचित्र।
और जनक भी है वही, जगत-जनक का मित्र!॥

(२४)

सुख आने पर पीछे जाती, दुख पड़ने पर आगे आती।
चार आँख, काला तनु पाती, मनुजों के मन में वह भाती॥

(२५)

पद कटने से उसको खावै, पेट कटे लोहा बन जावै।
पूरा बन सबको डरपावै, रामचन्द्र के वश में आवै॥

---

२० श्रीराम। २१ चन्दन। २२ चन्द्रमा। २३ विष्णु-नाभि-कमल।
२४ ढाल। २५ सागर।

(२६)

रंग-रंग के घर में रहती, रक्त नदी में ही वह वहती।
सुख देती, प्राणों को हरती, मार, मार कर, कभी न मरती॥

(२७)

रहती है वह कर के अन्दर, कहती करसे बातें कर कर।
जो पहचाने उसको नर-वर, तो निष्फल है थर्मामीटर॥

(२८)

हिरण्याक्ष-सुत-इष्टदेव के अस्त्र-शस्त्र वे कहलाते॥
ज्यों-ज्यों कटते त्यों-त्यों वढ़ते लाल नील सित वन जाते॥

(२९)

एक वार सब मुझे देखते, नहीं फिर कभी मुझे लेखते।
कहो कौन हूँ मैं वलधाम, सुनकर डरते जिसका नाम॥

(३०)

सब चीज़ों के संग में पाती, अंधकार में मैं मर जाती।
सदा कृष्ण है मेरी देह, सभी जगह है मेरा गेह॥

(३१)

रुधिर-माँस से हीन सदा हम तोभी मरकर आ जाते।
हम हैं दानी, खिलाए-खिलाकर नहीं कभी भी कुछ खाते॥

---

२६ तलवार। २७ नाड़ी। २८ नख। २९ भूतकाल। ३० छाया।
३१ दाँत।

(३२)

मैं हूँ ऐसी वस्तु महान, जीती फिर, दिन में दे प्राण।
मुझ में तरु, गिरि डूबे सारे, पर खग फिरें प्यास के मारे॥

(३३)

राम-पितामह-श्रेष्ठ नाम से जो आधा ही बन जाता।
कौन नगर वह ? जिसके आगे नाम कनक-गिरि का आता॥

(३४)

रुधिर-पान करने पर भी नर नहीं उसे कहते निशि-चर।
गान सुनाने पर भी उसको कहते सभी कुटिल नभ-चर॥

(३५)

शीश कटे नर उसको खाता, खातो वह जब पद कट जाता।
उदर—नाश से स्त्री बनजाती, पूर्ण हिन्दु-वाणी कहलाती॥

(३६)

गज की सूंड, हाथ या बनता मध्य कटे से जिसका नाम।
ऐसा कौन महात्मा है जो शीश कटे भी है बलधाम॥

(३७)

रण में वीर कायरों को कर, काम ख़ुशी में मैं आता।
मारे से मैं जी उठता हूँ बिन मारे मैं मरजाता॥

---

३२ ओस। ३३ अजमेर। ३४ मच्छर। ३५ नागरी। ३६ कबीर। ३७ नक्कारा, दुन्दुभी।

(३८)

आ, के साथ सभी में पाता, वि, के साथ अवगुण बन जाता।
आ-वि-हीन, उर्दू का काम, इंग्रेज़ी गाड़ी का नाम॥

(३६)

मुझमें कुछ भी बोझ नहीं है, पर मेरा है ऐसा भार।
दो के बिना न जो उठता है, हार-जीत का दे उपहार॥

(४०)

चौथा अङ्क नाम मम आधा, सुख-दुख में मैं आती काम।
पैसे का बारहवाँ हिस्सा, बाकी का है मेरा नाम॥

(४१)

स्थावर देह, रत्न है सिर पर, पर मैं मणिधर सर्प नहीं।
उँगली को मैं मुखमें रखती डाढ़, दाँत पर नहीं कहीं॥

(४२)

मैं पदार्थ हूँ बड़ा काम का दो नारी जिसके सुन्दर।
चार पुत्रिपं, आठ पोतिपँ, लड़के हैं सोलह घर पर॥

(४३)

स्पष्ट बात तू मुझको कहता, संमुख तुझमें मुझसा रहता
मेरे बिना न वह आसकता, मुझसा बस तुझ में आसकता॥
उसमें मुझसे अन्तर पाता, किंतु न वह अन्तर कहलाता।
तू सब को छोटासा करता, नहीं बड़प्पन को पर हरता॥

---

३८ कार मोटर कार। ३९ लड़ाई। ४० चारपाई। ४१ अँगूठी। ४२ रुपया। ४३ काच।

(४४)

कई सेर का मैं होता हूँ, तो भी मुझमें बोझ नहीं।
मुझको दास बनानेवाले मिलते मानव कहीं कहीं॥

(४५)

जो भू को धरते हैं उनपर जिनने संतत शयन किया।
उनके सुत के संहारक के सुत का है क्या नाम पिया!

(४६)

मैं आधी बसती कैलास
आधी हूँ गायक-जन पास॥

(४७)

बिना काम भी जिसको रखते छैल-छबीले अपने पास।
जिसका गिरना हार बताता नृप को, यह सब को विश्वास॥
जिससे रुकता सुर-पति-पतिके प्रखर-नेत्र का प्रगुण-प्रभाव।
क्या है वह? जो निर्जर-पति की तरल प्रकृति से करे बचाव॥

(४८)

माता के सम दे उपदेश,
तरह-तरह के करती वेश।
विद्वानों का है वह प्राण
जीव-रहित, पर देती ज्ञान॥

---

४४ मन। ४५ गजानन वा षड़ानन। ४६ हरताल। ४७ छत्र।
४८ पुस्तक।

(४९)

वन में लेकर जन्म वास वह करे नगर में।
शीश कटा कर करे काम मानव के घर में॥
कालामुख, दो जीभ रखे लम्बा तनु सुन्दर।
ऐसा कौन पदार्थ? भूल कर कहो न विषधर॥

(५०)

पत्थर सा हो कभी, कभी वह तरल सरल है।
कभी दृश्य है, और कभी अदृश्य अमल है॥
जननी-जननी-पिता उसे कहते हैं सारे।
निज में सदा अभाव उसी का रखते तारे॥

(५१)

चार उँगलिएँ, एक अँगूठा रखता हूँ पर जीव नहीं।
कई वस्तुओं से बनता हूँ, मिलूँ शीत में कहीं-कहीं॥

(५२)

सागर की शोभा से हूँ मैं धरणी के सम गोलाकार।
पक्षी-सम नभ-चर हूँ, मरता शीघ्र, बना भू को आधार॥

(५३)

बूढ़े, युवा दास अब मेरे, जो चाहें उनका प्यारा।
सुन्दर हूँ तो भी लख मुझको नाक चढ़ाता जग सारा॥

---

४९ क़लम। ५० जल। ५१ हाथ का मोज़ा। ५२ ओला। ५३ चश्मा।

(५४)

दो हैं पङ्ख, नहीं मैं नभ-चर, जाता हूँ मैं सभी कहीं।
एक पङ्ख कटने पर पहुँचूं, चला जहाँ से भला वहीं॥

५४ जवाबी पोस्टकार्ड।

पतङ्ग के प्रति

(१)

इधर-उधर उड़ कर तू नभ में ऊँचा चढ़ता जाता है।
ऊँचे पद के कारण मन में फूला नहीं समाता है।
किन्तु याद रख, चढ़नेवाला पल में छोड़ उच्चता-सङ्ग—
नीचे ही आ गिरता है, फिर क्यों करता अभिमान पतङ्ग?

(२)

क्यों इतना बल खाता है तू क्यों इतना इतराता है?
गुण के ही द्वारा तू ऐसे ऊँचे पद को पाता है।
नहीं एक से दिन रहते हैं, नहीं अनश्वर होता अङ्ग।
रङ्ग-ढङ्ग तेरा बिगड़ेगा, क्यों करता अभिमान पतङ्ग?

(३)

नीचा ऊँचा चढ़ जाता है, ऊँचा नीचे आता है।

इस माया को प्रति पल-पल में परिवर्तन ही भाता है।

मिट्टी के हैं सभी खिलौने भिन्न-भिन्न हैं आकृति-रङ्ग

तुझको भी मिट्टी में मिलना, क्यों करता अभिमान पतङ्ग?

मधु-मक्षिका

(१)

वसुधा पर जो सुधा उसी,का
तू करती निर्माण मक्षिका !
पर-उपकार-लीन ही रहते
तेरे तन-मन-प्राण मक्षिका !

(२)

करनेवाला कहीं नहीं है
तेरा जैसा काम मक्षिका !
नहीं किसी के भी पाता है
तेरा जैसा धाम मक्षिका !

(३)

श्रमी-उद्यमी का धरणी पर
तू ही है उपमान मक्षिका !
कोविद-कवि समान है तुझको
मीठा रस का ज्ञान मक्षिका !

(४)

तू पती कहला न सकी है
रख कर भी दो पक्ष मक्षिका !
भोलीभाली होकर तू है
डक-दान में दक्ष मक्षिका !

(५)

समदर्शी-सम सम है तुझ में
शोक-दुःख-सुख-हर्ष मक्षिका !
सदा एक-रसमय तू रहती
रख ऊंचा, आदर्श मक्षिका।

(६)

तू अलबेली, बड़ी रसीली
पीती है मकरन्द मक्षिका !
फूलों को भाती है तेरी
सुन्दर द्युति, गति मन्द मक्षिका !

(७)

जित अनेक वीरों को करती
तेरी टेढ़ी टेक मक्खिका !
उनसे लड़ती है न कभी, पर
तू *ज़ड़ने में एक मक्खिका !

(८)

संचय करना ठीक, किन्तु यह
महा लोभ है बुरा मक्खिका !
तू न तिरेगी भव-सागर को
पीकर इसकी सुरा मक्खिका !

(९)

हितकारी बन क्यों तू रखती
काम-क्रोध से काम मक्खिका !
दुनिया की भिन-भिन में भूली
तू निर्माता-नाम मक्खिका !

(१०)

तुझ जैसा श्रमजीवी प्राणी
यहाँ कौन है अन्य मक्खिका !
तेरा श्रम-उत्साह धन्य है
धन्य तुझे भी धन्य मक्खिका !

---

* डंक लगाने में।

भृङ्ग-भावना

(१)

कौन तुझ सा लिप्त अघ-व्यापार में ?
कौन तुझ सा नीच है संसार में ?
क्यों हुआ हे भृङ्ग ! तू उत्पन्न है—
प्राणियों के पुण्यतम परिवार में ?

(२)

बद्ध होकर रूप-शोभा-पाश में,
काम-कुत्सित-कामना रस पान में,
कान्त-कलियों के, सती-समुदाय के—
तू सतीपन को मिलाता नाश में ॥

(३)

प्रेयसी अर्धाङ्गिनी को छोड़ कर,
धर्म से, शुभ-कर्म से मन मोड़ कर,
हो रहा तू आज कामीराज क्यों—
पद्मिनी से स्वयं नाता जोड़ कर ?

(४)

दूसरा तुझ सा न कोई है छली !
देख, तूने चाल है कैसी चली !!
लूट कर यौवन उसे तू छोड़ता—
विरह में मुरझा गई है जो कली ॥

(५)

ध्यान रहता है तुझे स्वानन्द का ।
मूल है तू स्वार्थ के भी कन्द का ।
प्रेम कामी के कभी होता नहीं ।
लोभ केवल है तुझे मकरन्द का ॥

(६)

चित्त की ही वृत्ति* कलुषित ढङ्ग की—
प्रकट है, बन कालिमा तव अङ्ग की ।

* पापी स्वभाव ।

लोल ‖ -लम्पट-सुलभ है मुख-पोतिमा ।
लालिमा तेरे न लोहित-रङ्ग की ॥

(७)

जानता है तू न दुख का झेलना,
किन्तु खाना और पीना, खेलना ।
याद रख, तुझ से सुखी को भी कभी—
यहाँ पडता खूब पापड़ बेलना ॥

(८)

स्नेह का सम्बन्ध सब से तोड़ दे ।
प्रेयसी से प्रेम केवल जोड़ दे ।
एक से ही मन लगाना ठीक है ।
भृङ्ग ! ऐसी भावनायें छोड़ दे ॥

‖ चञ्चल कामी के जैसे पीलापन मुख पर छाया हुआ है ।

चारु-चित्र

(१)

ज्ञात होगई बात मुझे यह चित्र आपका है यह एक—
जिसके द्वारा सिद्ध हो रहे चित्रकार-चातुर्य-विवेक,
किन्तु नाथ ! फिर भी क्यों इतने मोहित होते इस पर आप ?
वह तो प्रभु का चित्र-मात्र है मंत्र-मुग्ध हैं जिस पर आप ॥

(२)

माना मैंने, है यह सुन्दर, महा-मनोहर और अनूप,
किन्तु कहाँ पर नहीं दीखता प्रभो ! आपका मोहन रूप ?
यह तो एक चित्र है जिसका मैंने आज किया निर्माण—
जिसमें रंग-रंग के रँग हैं और नहीं हैं जिसमें प्राण ॥

(३)

जिधर देखिए उधर आपके खिंचे चित्र हो चित्र-विचित्र—
जिन्हें बनाते हैं वे प्रभु के हस्त-कमल जो कुशल-पवित्र।
इनमें इसमें कितना अन्तर यह तो आप देखिए नाथ !
अनमिल मेल मिलेगा कैसे इनका इसका क्या है साथ ?

(४)

हैं ये चलते, फिरते, हँसते कई आपके चित्र सजीव।
क्यों न आप मोहित हैं इन पर जो इससे भी श्रेष्ठ अतीव ?
उत्तर मिला मुझे यह, "है यह चित्र अधिक यों छवि की खान—
तेरी भक्ति प्रीति का पावन यही एक प्रत्यक्ष-प्रमाण ॥

(५)

वैभव से या आडम्बर से मैं रहता हूँ कोसों दूर।
भक्तिभाव का ही भूखा हूं, भक्त मुझे भाता भरपूर।
पत्र-पुष्प भी स्वीकृत हैं वे शुद्ध-प्रेम जिनका आधार।
विना भक्ति के स्वर्ण-शैल को मैं कर देता अस्वीकार ॥

दया-दान

(१)

दया करो अब दयानिधान!
हे भगवान! तुम्हीं करते हो दीन दुखों का मान महान।
मेरे अरि मूषक-सम भक्षक—
जिनके लिए बनो तुम तक्षक।
बिना तुम्हारे मेरा रक्षक—
कहीं नहीं है हे बलवान!
दया करो अब दयानिधान!

(२)

तुमने मेरी छवि निरखी है।
तुमने मुझ पर क्रीडा की है।
तुमने मुझको इज़्ज़त दी है—
उसे बचाओ ले धनुबाण।
दया करो अब दयानिधान!

(३)

आज अहिंसा-व्रत क्यों खोऊं ?
उन्नत होकर नत क्यों होऊं ?
किसके आगे रोना रोऊं ?
तुम्हें छोड कर हे मतिमान !
दया करो अब दयानिधान !

(४)

मैं ही "सीधा-शान्त-सरल हूँ।
मैं ही पावन-गङ्गा-जल हूँ।
मैं ही लक्ष्मी-लीला-स्थल हूँ।
मेरे क्यों न बचाते प्राण ?
दया करो अब दयानिधान !

(५)

यही समय है आओ-आओ।
आकर अपने हाथ दिखाओ।
जन्म-भूमि का कष्ट मिटाओ।
देदो विभो ! विजय-वरदान।
दया करो अब दयानिधान !

कान्त-कल्पना

(१)

अखिलानन्द-कन्द-रघुनन्दन ! हे जगवन्दन ! विश्वाधार !
अपरम्पार ! तुम्हारा अब तक पाया नहीं किसी ने पार।
जो चाहो सो कर सकते तुम मनमानी-घरजानी नाथ !
सभी शक्तियों को, नियमों को रखते हो तुम अपने हाथ ॥

(२)

बहुत बड़े पर्वत को पल में करते तुम परमाणु-समान।
स्वामिन् ! तुम्हीं बना देते हो लघुतम-अण्ड को शैल महान्।
भला-बुरा कैसा ही हो वह करते हो जो कुछ तुम काम।
वही न्याय है, वही कर्म है, वही धर्म का मर्म ललाम ॥

(३)

लीला करते रहते हो तुम अपनी इच्छा के अनुसार।
शङ्काधार हो गया इससे है मेरा यह एक विचार।
जो तुम रूठ गए तो मैं फिर किसे बनाऊँगा भगवान?
मेरा कौन सहायक होगा, कौन करेगा मेरा मान?

(४)

इससे नाथ! अभी तुम कर दो एक और ईश्वर-निर्माण,
क्योंकि इस समय तुम ईश्वर हो सभी सिद्धियों की ही खान॥
हूं मैं सच्चा भक्त तुम्हारा और भक्त के हो तुम वश्य;
इससे तुमने इस इच्छा को करदी होगी पूर्ण अवश्य॥

(५)

मेरे भी अब दो ईश्वर हैं सुनिए मेरी लीलाधाम!
एक तुम्हीं हो और दूसरा एक तुम्हारा ही है नाम।
भक्तिभाव से भजकर उसको पाऊँगा पद निर्वाण।
निराकार तुम, महा-कठिन है नाथ! तुम्हारा होना ज्ञान॥

(६)

मल-मलकर क्या तन को धोऊं प्रभो! तुम्हारा जपने नाम?
मलवाही तन सदा रहेगा दुर्गन्धों का होकर धाम।
उसे सजाने क्या मैं पहनूँ मलमल के पट नूतन-श्वेत?
क्या माँजूं पूजन के बर्तन लगा-लगा कर पीली रेत?

(७)

तुम तो केवल अमल चाहते मन को ही तो प्रेम-प्रवीण।
मँजा हुआ जो कहलाता है राग-अमल से होकर हीन।
सूर्य-चन्द्र से दीप तुम्हारे दीप्तिमान तारों के साथ—
तुम्हें देखने क्या मैं फिर भी रज का दीप जलाऊँ नाथ!

(८)

तोड़ प्रफुल्लित पुष्पराशि को पुष्पधरों को देने कष्ट—
क्या मैं पूजूं तुम्हें, तुम्हारी कर विभूतियों को ही नष्ट?
क्या-क्या करूँ तुम्हीं बतलादो लेकर दिव्य-नाम-आधार?
ढोंग रचाऊँ, *नाच नचाऊँ भक्त कहाने करुणागार!

(९)

तुम्हें रिझाना है बस मुझको और तुम्हारी है परवाह।
क्यों दिखलाऊँ मैं औरों को वाह-वाह† की लेने राह?
विद्या-बुद्धि-भक्ति-गुण-गण से बहुत दूर भी रह कर नाथ!
मैं तो सदा तुम्हारा ही हूँ, मेरी ‖ लाज तुम्हारे हाथ॥

"सकृदेव प्रपन्नाय तवाऽस्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

---

* दुनियाँ को और अपने को। † प्रतिष्ठा पाने या 'भक्तशिरोमणि कहलाने। ‖ क्योंकि आपका यह व्रत है :—